वार्षिक सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ

विषय	लेखक	पृष्ठ

विविध

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४५–अंक १ [नवीन संस्करण] वैशाख १९९७

भारतीय मुद्राएँ और उनपर हिंदी का स्थान

[लेखक—श्री दुर्गाप्रसाद बी० ए०, विज्ञानकला विशारद, एम्० एन० एस्०]

जिस तरह भारत ने अपनी लिपि और वर्णमाला का वैज्ञानिक रीति से आविष्कार किया, जिस तरह अपना उत्तम व्याकरण पहले-पहल रचा, जिस तरह उसने गणित-अंक लिखने की सरल प्रणाली चलाकर सारे संसार में फैलाई और जिस तरह उसने अपने ज्योतिष-शास्त्र एवं वैद्यक-शास्त्र आदि का प्रचार किया, उसी तरह उसने अपनी मुद्राएँ अर्थात् सिक्के निराले ढंग और तौल के बनाकर चलाए।

कुछ पश्चिमी विद्वान् अब तक इस भ्रम में पड़े हुए हैं कि भारत ने लिपि और सिक्के बनाना विदेशियों से सीखा। अब तक वे यह समझते और कहते थे कि लिपि हम लोगों ने फिनिशिया के लोगों से सीखी, पर मोहनजोदड़ो से लगभग ५००० वर्ष पूर्व की लिपि मिलने पर उनका यह भ्रम जाता रहा और अब यह माना जाता है कि भारत को लिपि सीखने के लिये कहीं बाहर जाना न पड़ा।

मुद्रा अर्थात् सिक्के के विषय में उनका यह कथन था कि भारत ने लिडिया से सिक्के बनाना सीखा होगा, क्योंकि उनको सबसे पुराना सिक्का लिडिया से ईसवी सन् से ७०० वर्ष पूर्व का मिला था।

पर भारत के प्राचीन सिक्कों की तौल और बनावट का ढंग बिल्कुल निराला था। वह संसार के किसी प्राचीन देश के सिक्कों से नहीं मिलता। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि भारत ने सिक्कों की कला में किसी की नकल की या किसी से सीखा। अब यह कहा जाता है कि ईरान के सम्राट् दारा ने जब भारत के पश्चिमी प्रांतों पर, गांधार देश, पेशावर इत्यादि तक, कब्जा करके अपने सिक्के चलाए तो उससे भारतवासियों ने सिक्का बनाना सीखा। थोड़े दिन हुए श्रीयुत एलन ने, जो लंदन के अजायबघर में मुद्राशास्त्र के बड़े निपुण विद्वान् हैं, भ्रम में पड़कर यह लिख मारा कि भारत के प्राचीन सिक्के दारा के सिक्कों की तौल के दूने हैं और इसी से उनका यह विश्वास हो गया कि जब दारा ने भारत की सीमा पर अपने सिक्के चलाए तब भारतवासियों ने उसके सिक्के की दूनी तौल के सिक्के बनाए। कारण यह था कि श्रीयुत एलन को गांधार के पास के कुछ घिसे सिक्के ऐसे मिले जिनकी तौल दारा के चाँदी के सिक्कों की (जिनको सिगलास कहते हैं) तौल की दूनी से मिलती जुलती थी। इसी पर वे ले उड़े कि भारत ने दारा से सिक्का बनाना सीखा। पर मुझे जाँच करने पर यह विदित हो गया कि एलन साहब का यह कथन कदापि ठीक नहीं है। पहली बात तो यह है कि दारा का सिगलास तौल में ४८ रत्ती का और गोल राजा की मूर्ति से ठप्पा किया हुआ होता था और उसका डबल सिगलास अर्थात् ९६ रत्ती का सिक्का आज तक नहीं मिला। गांधार (पेशावर इत्यादि) के जिन घिसे सिक्कों को देखकर श्री एलन को यह भ्रम हुआ, ठीक वैसे ही ३३ सिक्के तक्षशिला (गांधार) के अजायबघर में मुझे देखने को मिले। ये सब १ वा १॥ इंच के शलाकाकार चाँदी के सिक्के, सिकंदर के दो चाँदी के सिक्कों के साथ एक मिट्टी के वर्तन में रखे हुए जमीन के अंदर गड़े मिले थे, जिनकी तौल १०० रत्ती के लगभग थी। दारा के डबल सिगलास की तौल से ४ रत्ती अधिक इन शलाकाकार सिक्कों पर कोई मूर्ति न थी, केवल दोनो सिरों पर एक चक्र बना हुआ था। यदि ये शलाकाएँ दारा की नकल होतीं तो तौल में या तो ९६ रत्ती की होतीं या कुछ कम, तौल अधिक नहीं हो सकती थी।

भारत में १०० रत्ती तौल के ताँबे के प्राचीन सिक्के भी दूसरे स्थानों से मिले हैं। मैंने उक्त कथन का खंडन करके प्रमाण सहित भारत के एक वैज्ञानिक पत्र (Science & Culture) में छपवा दिया और उसकी एक प्रति एलन साहब को भेज दी। उन्होंने उसका कोई खंडन नहीं किया, बल्कि मुझे धन्यवाद लिख भेजा।

मुझे जहाँ तक खोज करने का अवसर मिला है, इसका प्रमाण मिला है कि भारत में गौतम बुद्ध से पहले सिक्कों का चलन था। उस समय के सिक्के मुझे भी प्राप्त हुए हैं।

मुद्रा का अर्थ किसी धातु का टुकड़ा नहीं है। निस्संदेह बहुत काल पहले ताँबे और चाँदी के टुकड़ों से मुद्रा का काम लिया जाता था। पर जब व्यवहार बढ़ा तो यह आवश्यक हो गया कि वे धातु के टुकड़े ठीक तौल के हों। उन्हें तौलकर उन पर कोई जाँच का चिह्न बना दिया गया। तब वे मुद्राएँ या सिक्के कहलाने लगे।

अब मैं यह आपको दिखलाना चाहता हूँ कि ये प्राचीन मुद्राएँ किस तौल और ढंग की होती थीं, कैसे कैसे और कब कब उनका रूप बदला, अक्षरों का प्रयोग कब से होने लगा और हिंदी को उन पर स्थान कब से मिला।

गौतम बुद्ध के समय में चाँदी के सिक्कों की तौल ४० और २५ रत्ती की होती थी। इसका प्रमाण उनकी प्राचीन पुस्तक अट्ठकथा से मिलता है। देखिए विनयपिटक पराजिका २—

"तदा राजगहे वीसतिमासको कहापणो होति। तस्मात् पंचमासको पादो।" बुद्धघोष ने इसका अनुवाद यह किया है कि बिंदुसार के समय में राजगीर में, जो छठवीं शताब्दी ईसवी से पूर्व काल में मगध की राजधानी थी, बीस माषक अर्थात् ४० रत्ती का चाँदीवाला कार्षापण होता था, और पाँच माषक का पाद सिक्का होता था। चाँदी का एक माषक तौल में दो रत्ती का होता था। मनु ने (८।१३५) भी ऐसा ही लिखा है—"द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः।" नमूने के तौर पर पांचाल देश के ईसा के पूर्व

छठवीं शताब्दी के एक सिक्के का चित्र दिया जाता है। देखिए चित्र सं० १। आप देखेंगे कि इसका आकार सुडौल वृत्ताकार नहीं है, इस पर कोई अक्षर या राजा की मूर्ति नहीं है, केवल चार छोटे छोटे विचित्र चिह्न अलग अलग ठप्पा किए हुए हैं। दूसरी ओर १० छोटे छोटे चिह्न हैं, ४ बैल बने हैं। पश्चिमी विद्वानों ने ऐसी मुद्रा का नाम 'पंच मार्क' रखा है। पाणिनि ने 'आहत रूप्य' शब्द लिखा है। यह शब्द ऐसे ही मुद्रा का वाचक है (अष्टा० ५।२।१२०)। इस सिक्के की तौल २४ या २५ रत्ती की थी।

दूसरा चित्र मगधराज्य की चौकोर मुद्रा का है। यह ईसा के पूर्व पाँचवीं शताब्दी के नंदवंश के किसी राजा का है। इसमें पाँच चिह्न अलग अलग ठप्पे से अंकित हैं और एक दूसरे पर चढ़े हुए हैं। एक सूर्य-चिह्न, दूसरा षडर चक्र, तीसरा हाथी, चौथा एक कुत्ता और पाँचवाँ एक खजूर का सा वृक्ष बना हुआ है। इसकी तौल ३२ रत्ती की है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसको 'पण' लिखा है। मनुस्मृति में ३२ रत्ती का कार्षापण लिखा है। पता यह चलता है कि इन्हीं चाँदी के सिक्कों की तौल ईसा के पूर्व पाँचवीं और चौथी शताब्दी में ३२ रत्ती की थी। इनको पण या कार्षापण कहते थे।

जिस प्रकार से यह जाना गया कि ये कार्षापण सिक्के किस समय के और कहाँ के हैं, उसका यदि प्रमाण सहित वर्णन दिया जाय तो एक पुस्तक बन जायगी। इस संक्षिप्त लेख में केवल प्राचीन भारतीय सिक्के कैसे होते थे यह दिखा दिया गया है। इस प्रकार के १०५९ सिक्के तक्षशिला में, सिकंदर के दो चाँदी के ताजे बने हुए सिक्कों के साथ एक मिट्टी के बर्तन में गड़े हुए मिले थे। इनमें से कुछ घिसे हुए थे अर्थात् सिकंदर के भारत में आने के पहले ही से ये यहाँ प्रचलित थे। पता यह चलता है कि इस ढंग के बड़ी तौल के ४० या २५ रत्ती के सिक्के बुद्ध के समय के पहले से प्रचलित थे। फिर ३२ रत्ती के तौल के सिक्के नंद और मौर्यवंशी राजाओं के समय में ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी तक बनाए और व्यवहार में लाए जाते थे। इसके बाद सिक्कों के बनाने

भारतीय मुद्राएँ
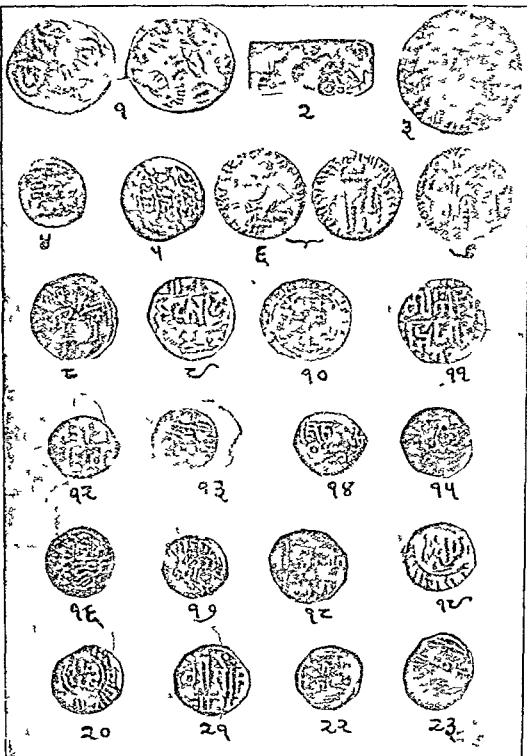
के ढंग और तौल ही बदल गए। मौर्यवंश के राज्य का क्षय अशोक के बाद से होने लगा। पंजाब की ओर बलख बुखारा में बसे हुए यवन और शक हिंदुस्तान पर चढ़ आए। सारे अफगानिस्तान और पंजाब में इनका राज्य हो गया। पूर्व के देशों में शुंगवंशी राजाओं ने अपना अधिकार जमा लिया। यवनों ने, जिन्हें इंडोबाक्ट्रियन कहा जाता है, अपने सिक्के चलाए जिनपर उन्होंने राजा की मूर्ति और उपाधि सहित नाम अंकित करना जारी किया। शक और शुंग राजाओं ने भी अक्षरों का प्रयोग अपने सिक्कों पर किया। तक्षशिला से मौर्य राजा का एक सिक्का मिला है जिसपर ब्राह्मी अक्षर अंकित हैं। वास्तव में ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी से अक्षरों का प्रचार सिक्कों पर होने लगा था।

तीसरा चित्र पंजाब के एक शक राजा के चाँदी के सिक्के का नमूना है। इस पर एक स्त्री तथा एक पुरुष की मूर्ति बनी हुई है और खरोष्ठी अक्षरों में, जो उस समय पंजाब में प्रचलित थे, "मनोगुलस छत्रपस पुत्रस छत्रपस जिहोनिस" अंकित है। भाषा उस समय की प्राकृत है।

चौथा चित्र पांचाल के शुंग राजा जयमित्र के ताँबे के सिक्के का है। इस पर गहरे ठप्पे से तीन चिह्न बने हैं और उनके नीचे ब्राह्मी अक्षरों में "जयमित्रस" अंकित है। दूसरी ओर कोई ठप्पा नहीं है। यह सिक्का ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी का है। पाँचवाँ चित्र मथुरा के राजा गोमित्र के ताँबे की मुद्रा का है। बीच में कृष्ण की मूर्ति बाँसुरी लिए बनी है, दाहिनी ओर एक वृक्ष और बाँई ओर एक सर्प बना है, किनारे पर ब्राह्मी अक्षरों में "गोमित्रस" अंकित है। यह सिक्का भी उसी समय का है। सिक्कों पर राजा का नाम लिखने की प्रथा उस समय चल पड़ी थी।

पहिली शताब्दी में जब कुषाण लोगों ने भारत पर आक्रमण किया तो यवन राजाओं को परास्त करके उन्होंने अपना अधिकार पंजाब में जमा लिया और अपने नाम के सोने और ताँबे के सिक्के चलाए। छठवाँ चित्र ओइम कडफिसस (विम कठफ) के सोने के सिक्के का है। इस पर राजा कडफिसस की ठेठ मूर्ति बनी है और युनानी अक्षरों (यवनानी

लिपि) में "राजाधिराज श्रोइम कडफिसस" ("बसीलिपस बसीलिपन") अंकित है। दूसरी ओर शिव की खड़ी प्रतिमा दाहिने हाथ में त्रिशूल, बाएँ हाथ में कमंडलु लिए है। भुजा से बाघंबर लटकता बना है। सिर पर जटा और गले में अक्षमाला है। किनारे पर चारों ओर खरोष्ठी अक्षरों में संस्कृत भाषा में "महाराजस राजाधिराजस सर्व लोग ईश्वरस महीश्वरस विम कपिसस" अंकित है। इस मुद्रा को दीनार कहते हैं। इसकी तौल यवन राजाओं के सोने के सिक्के 'डिनैरियस' के बराबर थी। संस्कृत में भी यह दीनार शब्द आता है। कुषाण वंश में सबसे प्रबल महाराजा साहानुसाहि ('साओनानोसाओ') कनिष्क हुए हैं। इनका राज अफगानिस्तान और पंजाब से लेकर संयुक्त प्रांत से आगे मगध तक फैला हुआ था। मथुरा से तो कनिष्क की पत्थर की मूर्ति मिली है जो वहाँ के अजायबघर में रखी है। चौथी शताब्दी में मगध के गुप्तवंशीय राजा समुद्रगुप्त ने इन साहानुसाहि कुषाण राजाओं को परास्त किया और अपने विजय का हाल अशोक-स्तंभ पर, जो इलाहाबाद के किले में है, गुप्त अक्षरों में खुदवाया।

सातवाँ चित्र महाराज चंद्रगुप्त की सोने की मुद्रा का है। ये महाराज समुद्रगुप्त के पिता और चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के दादा थे। इसमें एक ओर महाराजा चंद्रगुप्त और उनकी महारानी कुमार-देवी का चित्र बना है। राजा एक आभूषण रानी को दे रहे हैं और कोट, जाँघिया पहिने, कानों में कुंडल, बाएँ हाथ में दंड या भाला लिए खड़े हैं। उनकी भुजा के नीचे 'च गु / न्द्र प्त' ऊपर से नीचे की ओर अंकित है। सिर के चारों ओर मंडल बना है। रानी के पीछे उनका नाम कुमारदेवी गुप्त अक्षरों में अंकित है। यह सुवर्ण मुद्रा भी दीनार कहलाती है। गुप्त राजाओं ने कुषाणों को जब परास्त किया तो उनके प्रचलित सोने के दीनार की तौल का अपना सिक्का भी बनाकर चलाया। तभी से संस्कृत में यह ८ मासे का सिक्का दीनार कहलाने लगा। गुप्त राजाओं के सिक्के भारत के प्राचीन सिक्कों में अत्यंत

सुंदर कारीगरी के नमूने समझे जाते हैं। गुप्त राजाओं का समय सुवर्णयुग कहलाता है। इनकी मुद्राओं में एक विशेषता यह पाई जाती है कि उन पर शुद्ध संस्कृत में छंद लिखे मिलते हैं। इनकी मुद्राएँ देखने योग्य होती हैं। प्रस्तुत सिक्के की दूसरी ओर "लिच्छवय:" अंकित है। लिच्छवि राज्य तिरहुत में था। कुमारदेवी इस राज्य की बेटी थी। अशोक-स्तंभ पर, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, महाराज समुद्रगुप्त ने अपनी वंशावली लिखते हुए अपने को "लिच्छवि दौहित्र" लिखा है। इनके वंश में लगभग ३०० वर्ष तक राज्य रहा। इनके बाद महाराज हर्ष का राज्य छठवीं शताब्दी में हुआ। इनकी मुद्राओं पर भी संस्कृत में लेख मिलते हैं।

अब नवीं शताब्दी की मुद्राओं का विवरण आता है। आठवाँ चित्र सिंधु के किनारे ओहिंद (प्राचीन उद्भांड) के प्रांत में एक ब्राह्मण राजा के चाँदी के सिक्के का है। इसमें एक ओर बैठा हुआ नांदी बना है। ऊपर "श्री खुदवयक" इनका नाम अंकित है। दूसरी ओर घोड़े पर सवार राजा की मूर्ति है और "श्री समन्त देव" अंकित है। इस नमूने के सिक्के दिल्ली में बारहवीं शताब्दी तक चालू रहे।

नवाँ चित्र कन्नौज के राजा भोज के चाँदी के सिक्के का है। इस पर एक ओर वाराह अवतार की शूकरमुखी प्रतिमा बनी है, दूसरी ओर उसका चित्र दिया है और देवनागरी अक्षरों में "श्रीमदादिवराह" अंकित है। ये नवीं शताब्दी में गुर्जर वंश के राजा भोज आदि वराहमिहिर थे।

दसवाँ चित्र महमूद गजनवी के चाँदी के टंक का है। महमूद ने लगभग १०१४ ई० में पंजाब पर अधिकार करके लाहौर के पास अपने नाम का एक नगर महमूदपुर बसाया और वहाँ यह सिक्का बनवाया। इस पर उसने एक ओर अरबी कूफी अक्षरों में कलमा "ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मद रसूल इल्लाह, अल अमीर महमूद" अंकित कराया और दूसरी ओर संस्कृत में इसका सुंदर अनुवाद करा के उस समय के देवनागरी अक्षरों में मुद्रित कराया। अनुवाद यह है—"अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद"। किनारे पर "अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन संवत" अंकित कराया। इसका अर्थ यह है कि यह टंक महमूदपुर में ठप्पा किया

गया। इसके आगे जिन आयन (हजरत के छोड़ने का) हिजरी सन् अंकित कराया जो सिक्के पर अंक स्पष्ट न होने के कारण पढ़ा नहीं गया*। कहा जाता है कि यह अनुवाद अलबेरूनी ने किया था। यह महमूद के साथ आया था और इसने पंजाब में पंडितों से संस्कृत पढ़ी थी।

इससे विदित होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में पंजाब में राज-कार्य संस्कृत में ही होता रहा। ग्यारहवीं शताब्दी में भारत के और राज्यों में भी संस्कृत ही राज्यभाषा थी, इसका पता और सिक्कों से चलता है।

ग्यारहवाँ चित्र कलचुरि वंश के डाहल (जबलपुर) के राजा गांगेय-देव के सोने के सिक्के का है। इसे टंक कहते हैं। इसकी एक ओर लक्ष्मी की चतुर्भुज प्रतिमा और दूसरी ओर "श्रीमद्गाङ्गेयदेव" अंकित है। बारहवाँ चित्र जयचंद के सिक्के का है जो इसी ढंग का है। उस पर "श्री अजयदेव" अंकित है, दूसरी ओर लक्ष्मी की प्रतिमा है।

हम देख चुके हैं कि मुद्राओं पर अक्षरों का प्रयोग ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी से प्रारंभ हुआ और ब्राह्मी अक्षरों में संस्कृत ग्यारहवीं शताब्दी तक बराबर विद्यमान रही। अब यह देखना है कि देवनागरी अक्षरों में हिंदी को मुद्राओं पर स्थान कब से मिला और अब उसकी क्या अवस्था है।

बारहवीं शताब्दी में अजमेर तथा दिल्ली के चौहान राजाओं ने जो सिक्के चला रखे थे वे वैसे ही थे जैसे ओहिंद के राजाओं ने चलाए थे—एक ओर घोड़े पर सवार राजा की मूर्ति, दूसरी ओर बैठा हुआ नांदी। इस समय चाँदी का बड़ा अभाव था। शुद्ध चाँदी के सिक्के की जगह आधा ताँबा और आधा चाँदी मिलाकर सिक्का बनाया जाता था। इसको अँगरेजी में 'बिलन' कहते हैं।

तेरहवाँ चित्र राजा पृथ्वीराज चौहान के बिलन के बने हुए सिक्के का है। केवल एक ओर का चित्र दिखाया गया है। इसपर एक सवार बना है जिसका मुख दाहिनी ओर है। किनारे देवनागरी अक्षरों में, जो तत्कालीन लिपि से मिलते हैं, "श्री पृथ्वीराज देव" अंकित है।

* कुछ विद्वान् इस सिक्के के पीछे के लेख को इस प्रकार पढ़ते हैं—"अयं टंकं महमूदपुर घटिते हिजरियेन संवति ४१८।" दे०-पत्रिका वर्ष ४३, पृष्ठ १०६।
—संपादक।

जब शहाबउद्दीन मोहम्मद गोरी ने दिल्ली और अजमेर को ले लिया तो उसने इसी नमूने के बिलन के सिक्के चलाए और उनपर अपना नाम श्री मोहम्मद बिन साम, जो असली नाम था, देवनागरी में अंकित कराया। चौदहवें चित्र में 'श्री' का आधा चिह्न और 'महमद' सा पढ़ा जाता है। सिक्के की टिकली छोटी और ठप्पा बड़ा होने के कारण पूरे अक्षर उसपर नहीं आए। कई सिक्कों को मिलाकर पढ़ने से पूरा नाम निकल आता है।

पंद्रहवाँ चित्र भी मोहमद बिन साम के सिक्के का है। इस पर तो तत्कालीन देवनागरी अक्षरों में "श्री महमद" पढ़ा जाता है। सन् ११९४ में जब शहाबउद्दीन ने कन्नौज पर चढ़ाई की, राजा जयचंद खेत आए। उस समय उनका सिक्का जैसा प्रचलित था ठीक उसी नमूने का सिक्का, एक ओर लक्ष्मी की मूर्ति और दूसरी ओर "मीर महमद बिन साम" देवनागरी में लिखवाकर उसने चलाया। मुझे खेद है कि इस सोने के सिक्के का चित्र नहीं दे सका।

शहाबउद्दीन के बाद जो जो सुलतान दिल्ली के तख्त पर बैठे सबने पृथ्वीराज के सिक्के के नमूने के अपने अपने सिक्के चलाए और उन पर हिंदी में अपने नाम लिखवाए।

जलालउद्दीन फीरोज ने भी इसी प्रकार के बिलन के सिक्के बनाए, यह चित्र सं० १६ से विदित है। इस पर हिंदी में "श्री जलालदीण" मुद्रित है। शम्सउद्दीन अलतमश ने भी ऐसा ही किया। चित्र सं० १७ उनके बिलन के सिक्के का है। इस पर नांदी बाईं ओर मुख किए बना है और किनारे पर "श्री शम्सदीण" अंकित है। मुइजउद्दीन कैकुबाद ने भी अपने सिक्के पर हिंदी में अपना नाम "मोआजउदीन" लिखाया। १८वाँ चित्र उसकी मुद्रा का है। उस पर अरबी के ऐन अक्षर का अंकन नए ढंग से, बड़ी विचित्रता से किया गया। "म" लिखकर दो बिंदु देकर उसके नीचे उकार की मात्रा बना दी गई, इस ढंग से मोआजउद्दीन अंकित किया गया। गयासउद्दीन बलबन ने भी अपनी मुद्रा पर हिंदी में अपना नाम लिखाया। १९ वाँ चित्र उनके बिलन के सिक्के का है। इस पर बीच में कूफी अक्षरों में "बलबन"

श्रीर किनारे हिंदी मे "गयासउद्दीय" अंकित है। अलाउद्दीन मोहमद शाह ने भी ठीक ऐसा ही किया, यह २०वें चित्र से स्पष्ट होगा। बीच में कूफी अक्षरों से "मुहम्मद शाह", किनारे पर हिंदी में "श्री अलावदीय" अंकित है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सभी विदेशी मुसलमान सुल्तानों ने, जो दिल्ली के तख्त पर बैठे और जो अपने को बुतशिकन अर्थात् मूर्तिभंजक समझते या कहते थे, सिक्कों पर अपने नाम के साथ बड़े गौरव से "श्री" की उपाधि अंकित कराई और वह भी हिंदी के देवनागरी अक्षरों में। यह वही "श्री" शब्द है जिसके लिये दो साल पहले देश भर में बड़ी हलचल मच गई थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अपनी मुद्रा-चिह्न में श्री लिखना चाहा था। मुसलमानों को यह बात अखरी कि हिंदुओं का शब्द क्यों लिखा जाए। आश्चर्य तो यह है कि बड़े बड़े विद्वान् मुसलमान नेता भी इसके विरोधी बन गए। यदि भारतीय प्राचीन मुद्राओं का उनको तनिक भी बोध होता तो वे ऐसा विरोध न करते। बहुत विरोध होने पर विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इस शब्द को छोड़ दिया।

२१वाँ चित्र सोमल देव का है। इस पर भी हिंदी में "श्री सोमल देव" अंकित है। २२वाँ चित्र उज्जैन का है। इस पर "श्री श्रोंकाल" हिंदी में अंकित है। उज्जैन में श्रोंकालेश्वर का मंदिर प्रसिद्ध है जिसे अलाउद्दीन ने तुड़वा डाला था। २३वाँ चित्र शमशीरल देव का है। इस पर भी हिंदी में लेख है। ये सब सिक्के बारहवीं शताब्दी के हैं। इनसे यह प्रमाणित होता है कि बारहवीं शताब्दी से हिंदी को आजकल के देवनागरी अक्षरों से मिलती लिपि में मुद्राओं पर स्थान मिलने लगा।

सोलहवीं शताब्दी में जब शेरशाह ने भारत में अपना अधिकार बिहार बंगाल तक फैलाया तो उसने भी अपनी मुद्राओं पर हिंदी को स्थान दिया। २४वाँ चित्र शेरशाह के चाँदी के रुपए का है। इस पर बीच में कूफी अक्षरों में "शेरशाह सुल्तान खुल्द अल्लाह मुलकहू व सुल्तानहू" अंकित है। किनारे पर ऊपर की ओर हिंदी में "श्री सेरसाह" लिखा है। उसके बेटे इसलामशाह ने भी ऐसा ही रुपया चलाया। २५वाँ चित्र इसलाम-

भारतीय मुद्राएँ

शाह के सिक्के का है। कूफी अक्षरों में "इसलामशाह बिन शेरशाह सुल्तान ,खुल्द अल्लाह मुलकहू" अंकित है और नीचे की ओर हिंदी में "श्री इसलाम साह" लिखा है। इनके समय तक तो मुद्राओं पर हिंदी को बराबर स्थान मिला, पर जब मुगल बादशाह बाबर, हुमायूँ और अकबर ने अपने अधिकार जमाए और सिक्के चलाए तो इन्होंने पहले कूफा अक्षरों में अपने नाम सिक्कों पर लिखे। हुमायूँ ने पहले पहल फारसी अक्षरों का प्रचार भारत में किया। इसके पहले फारसी अक्षरों को, जिसमें उर्दू लिखी जाती है, यहाँ कोई नहीं जानता था। मुझे एक चाँदी का सिक्का हुमायूँ का मिला था जिस पर सुंदर फारसी अक्षरों में "मोहमद हुमायूँ बादशाह" अंकित था। यह पहला सिक्का था. जिस पर फारसी भारत में आकर लिखी गई। यह सिक्का इलाहाबाद म्यूजियम को मैंने दे दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तभी से अकबर और उसके बाद जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब इत्यादि सभी बादशाहों ने फारसी का प्रचार किया। राज-कार्य सब फारसी में होते रहे। सिक्कों पर भी फारसी अक्षरों को जगह दी गई और हिंदी देवनागरी को हटा दिया गया। मुगल बादशाहों ने सैकड़ों तरह के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के जिन जिन शहरों को ले लिए उन उनके नाम से चलाए। पर आज तक किसी सिक्के पर किसी मुगल बादशाह की लिखाई हिंदी नहीं मिली। इन बादशाहों ने तो फारसी अक्षरों का प्रचार किया। पर हर्ष का विषय यह है कि बची खुची देशी रियासतें अपने जो सिक्के बनाती रहीं, उन पर बराबर हिंदी लिखी जाती रही। यह अब तक चला आता है। २६ वाँ चित्र राणा साँगा के चैाकोर ताँबे के सिक्के का है। इस पर हिंदी में "श्री राणा संग्राम साह सं० १५६९" अंकित है। यह विक्रमी संवत् है। २७ वाँ चित्र उदयपुर की चाँदी की मुद्रा का है। इस पर एक ओर हिंदी में "दोस्ती लंधन" और दूसरी ओर "चित्रकूट (चित्तौर) उदयपुर" अंकित है। इस सिक्के का चलन अब बंद हो गया है। २८ वाँ चित्र जयपुर के ताँबे के सिक्के का है। ऐसा ही चाँदी का सिक्का भी बनाया गया

था। इस पर हिंदी में यह अंकित है—"यह सिक्का पर छाप महाराज जयसिंघ का—श्रीपुर।"

उनतीसवाँ चित्र ईस्ट इंडिया कंपनी के पैसे का है। इस पर फारसी और कैथी अक्षरों में "एक पाई सीका" अंकित है।

तीसवाँ चित्र बड़ौदा के सिक्के का है। इस पर देवनागरी अक्षरों में संस्कृत श्लोक अंकित है।

इकतीसवाँ चित्र सिकिम के पैसे का है। इस पर भी हिंदी में "श्री श्री श्री सिकिम सर्कार" अंकित है। इन्होंने नैपाल के सिक्के की नकल की है।

बत्तीसवाँ चित्र नैपाल राज्य का है। ताँबे के सिक्के पर देवनागरी में "श्री ५ पृथ्वी वीर विक्रम साह देव" अंकित है। नैपाल राज्य चौथी शताब्दी से गुप्त अक्षरों में संस्कृत, बाद में देवनागरी में बराबर हिंदी लिखता आया है।

तैंतीसवाँ चित्र लंका (सिलोन) के बारहवीं शताब्दी के ताँबे के सिक्के का है। उस समय वहाँ के राजा साहस मल्ल थे। सिक्के पर एक मूर्ति बेढंगी बनी है और "श्री मत साहस मल्ल" देवनागरी अक्षरों में अंकित है। चित्र सं० ३४, ३५, और ३६ रियासत जावरा, होलकर और कच्छ के ताँबे के सिक्कों के हैं। और भी देसी राज्यों, जैसे गायकवाड़, अलवर, रतलाम इत्यादि, के सिक्कों पर हिंदी में लेख मिलते हैं।

सारांश यह कि भारत के लगभग सभी देशी राज्यों ने—निजाम और भूपाल के सिवाय—अपने सिक्कों पर हिंदी को जगह दे रखी है। त्रावनकोर और मैसूर में तामिल और तेलुगु अक्षर लिखे जाते हैं। इस प्रकार मुद्राओं से यह प्रमाणित होता है कि हिंदी और देवनागरी अक्षर देशव्यापी और सर्वप्रिय हैं। ये सहज ही हमारी राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि बने हुए हैं और बने रहेंगे।

देवनागरी लिपि और मुसलमानी शिलालेख

[लेखक—डा० हीरानंद शास्त्री, एम्० ए०, डी० लिट्०]

हमारे देश के लिये आजकल सर्वसाधारण वर्णमाला का प्रश्न विकट सा हो रहा है। जब तक इसका संतोषजनक निपटारा नहीं हो जाता, तब तक 'फूट मेवा हिंदोस्तान का' फलता ही रहेगा। वर्णमाला के साथ धर्म को क्यों जोड़ दिया जा रहा है, इसका उत्तर तो यही हो सकता है कि इस प्रश्न को ज्यों का त्यों बनाए रखना ही उद्देश्य है। अन्यथा यह प्रश्न तो क्षण भर में मिट सकता है। धर्म के साथ सार्वजनिक अक्षरों का संबंध अनिवार्य नहीं हो सकता। एक देश में कई जातियाँ होती हैं और उसके निवासी भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते हैं। परंतु उन्हें एक ही वर्णमाला के प्रयोग करने में कोई बाधा नहीं हो सकती। वे अपने अपने धर्म का पालन भली भाँति कर सकते हैं और उनकी जातीयता भी अक्षुण्ण रह सकती है। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट भले ही रोमन अक्षरों का प्रयोग करें, उनके धर्म पर कोई आक्षेप नहीं। चीन के मुसलमान भले ही चीनी वर्णों का प्रयोग करें, उनके मुसलमान होने में लेश भर भी संकोच नहीं। और तो और, फारसी और अरबी अक्षर एक होने पर भी भिन्न जैसे हैं। तथापि उनके प्रयोक्ता मुसलमान धर्म के अनुयायी रह सकते हैं, कोई अड़चन नहीं। इसी देश में अनेक मुसलमान हैं, जो देवनागरी वर्णों को काम में लाते हैं। उन्हें फारसी-अरबी अक्षर आते ही नहीं। फिर भी वे पक्के मुसलमान हैं। उनके मुसलमान होने में कोई भी शंका नहीं। इन सब तथ्यों को देखकर यही प्रतीत होता है कि सार्वजनिक लिपि को किसी भी धर्म के साथ जोड़ देना और यह कह देना कि यह तो अमुक धर्म की लिपि है

और अमुक धर्म की संस्कृति की घातक है ढकोसला सा ही है, सर्वमान्य नहीं हो सकता। इस देश के रहनेवालों को यह तटस्थ होकर ध्यान से विचार लेना चाहिए। इसका निपटारा परम श्रेयस्कर होगा। यह ढकोसला थोड़े ही समय से निकाला गया है पहले नहीं था। मुसलमानी राज्य में भी ऐसा कोई विवाद नहीं था। मुसलमान शासकों ने देवनागरी वर्णों का स्वयं प्रयोग किया था। इस बात को हमने अपने लेखों से कई बार सिद्ध किया है*।

प्राचीन काल में तो ब्राह्मी लिपि इस सारे देश की राष्ट्र-लिपि थी। कहा जा सकता है कि लंकाद्वीप में भी मौर्य्यकाल के आसपास यही राष्ट्रलिपि होगी। तभी तो उस समय के लेख वहाँ इन्हीं अक्षरों में लिखे पाए जाते हैं। अखिल भारतवर्ष में तो इन वर्णों में लेख लिखे प्राप्त हुए हैं। यह तभी हो सकता है जब यह लिपि राष्ट्र-लिपि रही हो। इस ब्राह्मी-लिपि से भिन्न भिन्न लिपियाँ उत्पन्न हुईं। देवनागरी वर्णमाला इसी लिपि की मुख्य दुहिता है। इन अक्षरों का प्रचार सातवीं शती में जापान तक पहुँच गया था। होरिंजी ताडपत्रों में, जो वहाँ छठी शती में जा पहुँचे, यह वर्णमाला लिखी गई थी, जिससे वहाँ के लोग इस लिपि को पढ़ना सीख जायँ। आठवीं शती में तो इसकी एक अवस्था हो गई थी। मुसलमानों के यहाँ आने के समय इसी वर्णमाला का पूर्ण प्रचार उत्तर-भारत में था, कहीं कहीं दक्षिण में भी। जैन संप्रदाय के लोग तो प्रायः इसी लिपि में लिखा करते थे, चाहे प्रांत-लिपि कोई रही हो। चाहे यहाँ कितनी ही लिपियाँ रही हों, नागरी लिपि ही प्रधान थी। जब मुसलमान बादशाह यहाँ आ पहुँचे, यहाँ के राजा लोग इसी का उपयोग राजकीय कार्यों में करते थे। अलबेरूनी के वर्णन से यह स्फुट ही है। अतएव महमूद गजनवी ने इस वर्णमाला का प्रयोग अपने सिक्कों में किया। बेरूनी उसी के साथ आया था। महमूद ने कलमा का अनुवाद करा के

* पत्रिका वर्ष ४३, अंक १ में हमने शास्त्री महोदय के 'देवनागरी और भारत के मुसलमान शासक' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण लेख का 'चयन' किया है।

एक मुसलमानी शिलालेख

(इसे छापने का अधिकार बड़ोदा सरकार के अधीन है।)

इन्हीं देवनागरी अक्षरों में अपने लाहौर के मशहूर सिक्के पर लिखवा दिया*। यह कितने महत्त्व की बात है।

महमूद गजनवी से लेकर शेरशाह सूरी और उसके उत्तराधिकारी इसलामशाह और आदिलशाह तक इस लिपि का प्रयोग मुसलमानी सिक्कों पर पाया जाता है। मुगल बादशाहों ने इस लिपि का प्रयोग अपने सिक्कों पर नहीं किया। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें कोई विशेष आग्रह होगा। औरंगजेब को चाहे रहा हो, कह नहीं सकते। किंतु अकबर को तो कोई दुराग्रह नहीं हुआ होगा। वह तो स्वयं हिंदी का कवि भी माना गया है। भला फिर वह कैसे नागरी लिपि का द्वेषी होगा। सिक्कों और अन्यान्य बातों को छोड़कर हम एक अत्यंत स्फुट और हर्षदायक प्रमाण आज उपस्थित करते हैं, जिससे स्पष्ट पता चल जायगा कि अकबर के समय तक मुसलमानों को देवनागरी लिपि के प्रयोग पर कोई आपत्ति नहीं थी, प्रत्युत इस लिपि को वे स्वयं प्रयोग में लाते थे—यह नहीं कि हिंदुओं के काम के लिये, अपने ही काम के लिये और यह भी नहीं कि फारसी या अरबी के साथ, बल्कि स्वतंत्र रूप से। यह प्रमाण हमें अभी दो तीन महीने हुए मिला है। यह एक शिलालेख है जो नौसारी में मिला है। नौसारी गायकवाड़ महाराज के मुख्य नगरों में से है और बड़ौदा रियासत के चार प्रांतों में से एक प्रांत का प्रधान नगर है। यह नगर पारसी लोगों का प्रधान स्थान है। प्रसिद्ध पारसी देशभक्त दादा भाई नौरोजी यहीं उत्पन्न हुए और यहाँ पर पारसी लोगों के पवित्र मंदिर बने हुए हैं। मुसलमानों का भी यहाँ बहुत जोर रहा है, जिससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह लेख किसी दबाव के कारण लिखा गया हो। ऐसे अन्य लेख भी होंगे। परंतु हमारे कथन की पुष्टि के लिये यही एक उदाहरण पर्याप्त है। इसमें एक कुँए के बँधवाने का उल्लेख है जिसे एक मुसलमान सज्जन ने बँधवाया था। विक्रमी संवत् १६८८

---

* "अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद"। दे०—इसी अंक में पृष्ठ ७, अंतिम पैरा और तत्संबंधी चित्र। —संपादक।

के उल्लेख को छोड़कर, जब कि यह कुआँ खोदा गया, शेष सब लेख—तारीख, साल, महीना इत्यादि—मुसलमानी है। मुसलमान नामों के आदि में "श्री" का प्रयोग भी, जो इसमें पाया जाता है, सहनशीलता और परस्पर प्रेम का ही द्योतक समझना चाहिए। कुआँ "श्री मुहम्मदखाँ" ने बनवाया, शेर आलम के बेटे फतहखाँ ने इसमें सहायता की और यह शुभकार्य "श्री जलालुदीन अकबर बादशाह के अमल अर्थात् राज्य में किया गया—सन् ९९५ माह जमादिउस्सानि तारीख २४ रोज च्या (चार शंबा) को। इसमें किसी हिंदू का नाम नहीं। यह भी नहीं कहा गया कि यह कुआँ किसके लिये बँधवाया गया। लिखने का तात्पर्य यह है कि सोलहवीं शती तक मुसलमानों को देवनागरी अथवा आजकल के हिंदी अक्षरों को प्रयोग मे किसी प्रकार की बाधा नहीं थी और इस वर्णमाला के प्रयोग से उनके धर्म पर कोई आघात नहीं हुआ। इस लेख की प्रतिलिपि उपस्थित करता हुआ मैं यही कहूँगा कि हम सबको विशेषतः हमारे मुसलमान भाइयों को मुहम्मदखाँ, फतेहखाँ जैसे सज्जनों का अनुसरण करना चाहिए और हिंदी वर्णों का साधारण कामों के लिये प्रयोग करते हुए इस देश के सब निवासियों में एकता के बढ़ाने का शुभ कार्य करना चाहिए।

———

राष्ट्र-लिपि के विधान में रोमन लिपि का स्थान

[लेखक—डा॰ ईश्वरदत्त, विद्यालंकार, पी-एच्॰ डी॰]

भारत की अनेक समस्याओं में लिपि की भी एक जटिल समस्या है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि हमारी भाषा संबंधी हिंदी-हिंदुस्तानी समस्या का कारण भी बहुत अंशों में यह लिपि-समस्या ही है। यह आज की नहीं है। इसे आरंभ हुए आज एक सौ साल से कुछ अधिक समय होता है, जैसा कि उस समय के अँगरेज अफसरों के लेखों तथा सरकारी हुक्मनामों को पढ़ने से पता चलता है[1]। पहले यह समस्या मुख्यतः[2] देवनागरी और उर्दू इन दो ही लिपियों की प्रतियोगिता तक सीमित थी, परंतु लगभग पचीस वर्षों से इसमें रोमन-लिपि भी विशेष रूप से सम्मिलित हो गई है। यद्यपि इसके पृष्ठपोषकों की संख्या नागरी और उर्दू लिपि के पक्षपातियों के समक्ष आज भी बहुत अल्प है, तथापि उनके मत की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मुसलमानों के भारत में आने से पूर्व देवनागरी लिपि के सामने प्रतियोगिता में खड़ी होनेवाली कोई दूसरी लिपि न थी। परंतु उनके राज्य-काल में फारसी लिपि में ही, जिसे वे ईरान से अपने साथ लाए थे, कुछ अक्षरों की वृद्धि करके उर्दू लिपि बना ली गई और इसका व्यवहार सामान्यतः राज-कार्यों में बराबर होता रहा, यद्यपि देवनागरी का प्रयोग भी हमें यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। रावबहादुर काशीनाथ दीक्षित, डाइरेक्टर जेनरल आर्कित्रालाजिकल सर्वे आफ इंडिया, की

१—वह समय भारत के गवर्नर जेनरल लार्ड विलियम बेनटिंक का था। इस विषय पर फर्रुखाबाद के जज ऑनरेबल फ्रेडरिक जान शोर के सन् १८३४ और १८३५ के लेख विशेष महत्त्व के हैं। देखिए विहार प्रा॰ हिं॰ सा॰ स॰ गया के सभापति आचार्य्य बदरीनाथ वर्म्मा का भाषण—हिंदी और उर्दू पृ॰ ४६-५०।

२—क्योंकि कुछ अँगरेज उस समय भी रोमन लिपि चलाने का यत्न कर रहे थे।

रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि ईसवी सन् १२१० से लगभग १६२५ तक के पठान बादशाहों के सिक्कों पर देवनागरी अक्षरों का व्यवहार पाया जाता है। सामाजिक जीवन में तो नागरी अपना अधिकार बनाए ही रही। उसके बाद अँगरेजों का शासन प्रारंभ होने पर कुछ समय तक तो अदालतों में फारसी भाषा और उर्दू लिपि का ही प्रयोग जारी रहा, परंतु पीछे से देशी भाषाओं और लिपियों का व्यवहार शुरू करने की आज्ञा दे दी गई। परंतु शासन और उच्च शिक्षा के प्रचार का कार्य उधर अँगरेजी में होता रहा। फलतः समय पाकर रोमन लिपि के पृष्ठपोषकों का भी एक पृथक् वर्ग तैयार हो गया।

इस प्रकार आज हम इस देश में राष्ट्रलिपि के संबंध में भिन्न भिन्न विचार रखनेवाले व्यक्तियों के मुख्यतः तीन दल पाते हैं। प्रथम दल चाहता है कि देवनागरी को भारत की राष्ट्रलिपि माना जाय। दूसरे दल के अनुसार नागरी और उर्दू दोनों को एक साथ अपनाना चाहिए। तीसरे दल के विचार में इन दोनों को न रखकर राष्ट्रलिपि के पद पर रोमन लिपि को प्रतिष्ठित कर देना चाहिए। यद्यपि देश में देवनागरी जाननेवालों की संख्या सबसे अधिक है, उर्दू लिपि जाननेवालों की उनसे कम और रोमन लिपि से परिचित व्यक्तियों की सबसे कम, तथापि राष्ट्रीयता के भावों से प्रेरित होकर बहुत से नागरी जाननेवाले भी दूसरे दल का साथ देने में देश का कल्याण समझने लगे हैं। इस प्रकार यदि इन लोगों को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो द्वितीय दलवालों की संख्या संभवतः प्रथम दल से भी बढ़ जाय। जो भी हो, इस विषय में तो संदेह के लिये स्थान नहीं कि शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से गुणों एवं दोषों का विचार करने पर देवनागरी लिपि न केवल भारतवर्ष में बल्कि संसार भर में सर्वश्रेष्ठ लिपि सिद्ध होती है। इस विषय में द्वितीय दल के विचारकों का कथन है कि यदि विज्ञान की दृष्टि से देवनागरी 'सर्वगुण-आगरी' हो तो भी दुनिया के सब काम एकमात्र आदर्शवाद के सिद्धांत पर न तो चल ही रहे हैं और न चल सकते हैं। आखिर व्यावहारिकता भी कोई चीज है। इसलिये हमें

अपने आपको कोरे आदर्शवाद तक सीमित न रखकर आदर्शवाद और व्यवहारवाद के सामंजस्य को ही अपनाना चाहिए। रोमन लिपि के पोषक इसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर विशेष बल देते हैं और मुख्यत: उसी के आधार पर इसकी सर्वश्रेष्ठता स्थापित करते हैं।

रोमन लिपि के पक्षपातियों की संख्या भले ही अल्प हो, किंतु श्री सुभाषचंद्र वसु एवं मौलाना अबुल कलाम आजाद सरीखे नेताओं की इसके प्रति सहानुभूति होने के कारण इस विषय में जनता में बहुत भ्रम फैल रहा है। इतना ही नहीं, असम की सरकार द्वारा तो उस प्रांत में अनिवार्य हिंदुस्तानी की शिक्षा रोमन लिपि द्वारा देने का श्रीगणेश भी हो गया है। अत: यहाँ हम राष्ट्रलिपि बनने के लिये रोमन लिपि का दावा कहाँ तक ठीक है इसी विषय पर विचार करेंगे।

रोमन लिपि के पोषकों में प्राय: दो प्रकार के व्यक्ति आते हैं:—

१—जो नागरी और उर्दू से सर्वथा अथवा भली भाँति परिचित नहीं हैं, किंतु जिनका रोमन लिपि पर पूर्ण अधिकार है—जैसे क्रिश्चियन, ऐंग्लो-इंडियन और ऐसे भारतीय जिनपर पाश्चात्य शिक्षा का रंग विशेष गहरा चढ़ा है।

२—जो नागरी अथवा उर्दू से परिचित होते हुए भी या तो भारत के अंतर्राष्ट्रीय संबंध को ध्यान में रखकर या उर्दू लिपि की त्रुटियों का विचार करके क्रमश: इस देश और अपने समुदाय का स्थायी कल्याण रोमन लिपि को ही अपनाने में निहित मानते हैं। तदनुसार इस वर्ग में क्रमश: साम्यवादियों और ऐसे मुसलमानों का समावेश होता है जिन्हें नागरी लिपि की प्रतियोगिता में उर्दू लिपि के देर तक टिक सकने में संदेह है।

रोमन लिपि के प्रतिनिधित्व का कार्य तो सन् १८१३ से होता आ रहा था जब कि पादरी जे० नोल्स साहब ने लंडन के पत्र 'राजपूत हेरल्ड' में 'Reading and writing in India' अर्थात् 'भारत में पढ़ना-लिखना' इस शीर्षक से प्रकाशित अपने लेख में विद्वानों की एक समिति द्वारा आवश्यक संशोधन कराकर रोमन लिपि को स्कूलों और कच-

हरियों में जारी कर देने के लिये सरकार को सलाह दी थी,[१] किंतु जन-साधारण ने उस समय इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। पिछले पाँच-छ: वर्षों में देश में कांग्रेस के प्रचार की वृद्धि के साथ साथ हिंदुस्तानी को राष्ट्र-भाषा बनाने के पक्ष में लोकमत प्रबल होने लगा और सात (किंतु असम को यदि मिलाना हो तो आठ) प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल के आ जाने पर तो हिंदुस्तानी को इन प्रांतों की सरकारों ने भी राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार किया तथा देवनागरी एवं उर्दू इन दो लिपियों को राष्ट्रलिपि का स्थान देना आरंभ कर दिया। इस नीति के विरोधियों में इसकी प्रतिक्रिया भी तत्काल ही होने लगी और पुराने मृतप्राय रोमन-लिपि-आंदोलन में पुन: प्राण आ गए। डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, कांग्रेस समाजवादी संघ के यूसुफ मेहर अली साहब तथा प्रोफेसर निरंजन नियोगी आदि रोमन के शुभचिंतक बड़ी तत्परता से इसका प्रचार करने लगे[२]। इसके बाद कांग्रेस के हरिपुरा वाले अधिवेशन में राष्ट्रपति श्री सुभाषचंद्र वसु ने अपने भाषण में रोमन लिपि का समर्थन किया, जिसने इस आंदोलन में एक प्रबल प्रोत्साहन का काम किया।

सन् १९३६ तक पं० जवाहरलाल नेहरू भी रोमन लिपि के ही समर्थक थे। किंतु जिन्होंने पंडितजी की उसके बाद सन् १९३८ में प्रकाशित Eighteen Months in India (भारत में अठारह मास) नामक पुस्तक पढ़ी है उनसे यह बात छिपी नहीं है कि इस विषय में उनके विचार बदल चुके हैं। उक्त पुस्तक में आपने स्पष्ट स्वीकार किया है कि यद्यपि शीघ्र लेखन की दृष्टि से रोमन लिपि नागरी या उर्दू से अधिक उपयुक्त है तथापि उसके त्याग के लिये भी पर्याप्त कारण हैं। "लिपि हमारे साहित्य का एक आवश्यक अंग है जिसके अभाव में हम बहुत अंशों में अपनी प्राचीन संस्कृति से ही विच्छिन्न हो जायँगे।"[३]

१—देखिए सरस्वती, जुलाई, १९१३।

२—देखिए हंस, मार्च १९३८, पृ० ५७७ पर मनमोहन चौधरी का 'राष्ट्रलिपि' शीर्षक लेख।

३—"The scripts are essential parts of our litera-

रोमन लिपि के संबंध में श्री सुभाषचंद्र बसु के विचार जनता को केवल उनसे हरिपुरावाले भाषण- द्वारा ही संक्षेप में मिल सके थे। श्री लक्ष्मीनारायण भारतीय जी ने 'विशाल भारत' के नवंबर, सन् १९३८ के अंक में प्रकाशित अपने 'रोमन लिपि और राष्ट्रपति' शीर्षक लेख द्वारा जनता को इस विषय में उनके विचारों से विस्तृत परिचय प्राप्त करने का अवसर दिया है।

रोमन लिपि के पक्ष में अभी तक प्रकट किए गए कुल विचारों को हम पाँच युक्तियों में विभक्त कर सकते हैं।

१—इसे अपना लेने से भारत का अन्य देशों के साथ अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करने में बड़ी सहायता मिलेगी। दुनिया के लगभग दो-तिहाई लोगों ने इसे स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार यह एक अंतर्राष्ट्रीय लिपि बन गई है। इस युग में अंतर्राष्ट्रीय संबंध एक शक्ति है और एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्रों के साथ संसर्ग में आने की यथार्थ आवश्यकता है[१]।

संसार की लगभग दो-तिहाई जनता ने रोमन-लिपि को अपना लिया है,[२] इस युक्ति में कितना सत्य है इसका अनुमान तो इतने से ही हो

---

tures; without them we would be largely cut off from our old inheritance.''

Eighteen Months in India, p. 251

१—देखिए (१)—२२ दिसम्बर सन् १९३८ के Searchlight में प्रकाशित मौलाना अबुल कलाम आजाद के निम्नलिखित शब्द—

"The Roman script had been adopted by nearly two thirds of the world's population. It had become an international script. In present days when internationalism was a living force and international intercourse a real necessity, the Roman script might prove very useful."

(२)—श्री सुभाषचंद्र बसु का हरिपुरा कांग्रेसवाला भाषण—"I am inclined to think that the ultimate solution and the best solution would be the adoption of a script that would bring us into line with the rest of the world."

सकता है कि संसार की लगभग पौने दो अरब जनसंख्या में से सौ करोड़ तो केवल एशिया की ही है जो प्रायः कुल की कुल रोमन से भिन्न लिपियों का प्रयोग करती है, तो भी पाठकों के विशेष ज्ञान के लिये यहाँ श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन के शब्दों को उद्धृत कर देना उपयोगी होगा—

"भारत, बर्मा और लंका को छोड़कर एशिया में ही चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया और मुस्लिम राज्यों की लिपियाँ रोमन से भिन्न हैं—अर्थात् एशिया की १०० करोड़ जन-संख्या में ३५ करोड़ भारतीय और ६० करोड़ अन्य जनता रोमन का व्यवहार नहीं करती। उत्तरी अफ्रीका के कुछ भू-भाग, मिस्र और फिलिस्तीन आदि भी रोमन नहीं बर्तते। यूरोप का सबसे बड़ा हिस्सा रूस भी रोमन से भिन्न लिपि व्यवहार करता है। ग्रीस और जर्मनी का कुछ भाग भी उसे स्वीकार नहीं करता। अर्थात् यूरोप की ५० करोड़ प्रजा में भी कम से कम २३ करोड़ जनसंख्या अरोमन लिपियाँ व्यवहार करती है। साधारणतया हम कह सकते हैं कि भारत को छोड़कर बाकी संसार का कम से से कम आधा भाग और भारत को मिलाकर दो-तिहाई भाग रोमन से भिन्न लिपि का व्यवहार करता है।"[१]

इस प्रकार उपर्युक्त कथन की निःसारता दिखला चुकने के बाद हम इस प्रथम एवं प्रबलतम युक्ति के मुख्य अंश पर आते हैं। इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान युग में अंतर्राष्ट्रीय संबंध एक बड़ी शक्ति है। ऐसे संबंध की उपयोगिता निर्विवाद है; किंतु प्रश्न तो यह है कि क्या अन्य राष्ट्रों की भाषाओं के ज्ञान के बिना एकमात्र रोमन लिपि के ही ज्ञान से भारत का अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित हो जायगा? क्या इस लिपि ही को अपना लेने से भारतवर्ष अन्य राष्ट्रों के संसर्ग में आ सकेगा? नहीं, केवल लिपिज्ञान से तो इस बात का भी पता नहीं चलता कि अमुक पंक्तियाँ हैं किस भाषा की।

१—देखिए 'हिंदू', ३ अक्टूबर १९३८।

रोमन लिपि के समर्थक जब यह कहते हैं कि इस लिपि को भारत की राष्ट्रलिपि बना लेने से देश को दूसरे राष्ट्रों से संपर्क स्थापित करने में सहायता मिलेगी, उस समय वे इस कथन के अंतर्भुक्त अर्थों पर विशेष विचार नहीं करते। वे यह मान सा लेते हैं कि प्रत्येक भारतवासी का अन्य राष्ट्रों के साथ संपर्क में आना आवश्यक है और उसे ऐसा कर सकने के लिये भारत से भिन्न सब राष्ट्रों की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। हम इस विषय में इतना ही कहना चाहते हैं कि ये दोनों बातें न तो आवश्यक हैं और न संभव ही। अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के लिये एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्रों से संपर्क स्थापित करना तो आवश्यक हो सकता है, किंतु एक राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का दूसरे राष्ट्रों के साथ संपर्क स्थापित करना आवश्यक नहीं माना जा सकता। उसके लिये तो केवल अपनी राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का ही ज्ञान अनिवार्य हो सकता है।

आधुनिक विज्ञान जैसे विषयों के ज्ञान के लिये भी प्रत्येक भारतीय के लिये रोमन लिपि जानना आवश्यक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस क्षण हिंदी भाषा को (इसका जो भी स्वरूप निर्धारित किया जाय) राष्ट्रभाषा मान लिया गया उसी क्षण से इसी भाषा और इसके लिये जो भी लिपि उपयुक्ततम सिद्ध हो उसी लिपि में सब प्रकार के साहित्य की रचना करना भी हमारे लिये अनिवार्य हो जाता है। केवल रोमन लिपि के ज्ञान से अँगरेजी एवं जर्मन आदि अन्य पाश्चात्य भाषाओं में वर्तमान वैज्ञानिक साहित्य का ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता।

प्राचीन तार्किकों का सिद्धांत है 'सति कुड्ये चित्रं भवति कुड्याभावे कुतश्चित्रम्' अर्थात् भित्ति होने पर ही उस पर चित्र बन सकता है, किंतु जब भित्ति ही नहीं तो उस पर चित्र कैसा? इसी प्रकार यदि भारत की अपनी कोई भाषा नहीं; अपनी कोई लिपि नहीं, अपनी कोई संस्कृति नहीं, और इन बातों के लिये भी उसे पराधीन ही रहना पड़ा तो उसकी स्वतंत्र राष्ट्रीय सत्ता ही कहाँ रही? फिर उसे एक पृथक् राष्ट्र कहना या मानना यदि आत्मप्रवंचन नहीं तो और क्या है? ऐसी

स्थिति में उसका अन्य राष्ट्रों के साथ अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करने की चर्चा भी आत्मविडंबन मात्र है।

२—रोमन लिपि के पृष्ठपोषकों की दूसरी प्रबल युक्ति यह है कि इसे अपना लेने से नागरी और उर्दू का झगड़ा मिट जायगा। भारतीय जी के 'रोमन लिपि और राष्ट्रपति' शीर्षक लेख का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। उसमें रोमन लिपि को स्वीकार कर लेने से होनेवाले जो छः लाभ श्री सुभाषचंद्र बसु के अपने शब्दों में गिनाए गए हैं उनमें से पहला लाभ इस प्रकार है—'नागरी और उर्दू का जो झगड़ा है, उसका फैसला हो जायगा।' इनकी यह द्वितीय युक्ति असंगत और अव्यावहारिक है। इसे कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता। जनता ऐसा घाटे का व्यवहार करने के लिये कभी तैयार नहीं होगी। इस बात को क्या रोमन लिपि के विरोधी और क्या समर्थक सभी मानते हैं। सुभाष बाबू स्वयं इसे अव्यावहारिक मानते हैं, क्योंकि पहले यह कहकर कि—

"अब रहा प्रश्न देवनागरी और उर्दू का। आज जो परिस्थिति हम देख रहे हैं उस परिस्थिति में यह आशा कम है कि दोनों में से कोई एक लिपि सारा भारत स्वीकार करेगा। लेकिन यह जरूर संभव है कि कोई तीसरी लिपि सारा भारत मंजूर करे।"

अगले ही अनुच्छेद में आप कह उठते हैं :—

"मैं जानता हूँ कि जब तक भारत परतंत्र रहेगा तब तक वह कभी विदेशी लिपि मंजूर नहीं करेगा। गुलामी के वक्त में विदेशी लिपि स्वीकार करने से राष्ट्रीय अभिमान में जरूर चोट लग सकती है।"[१]

इस प्रकार सुभाष बाबू और उनके विचार के लोगों के अनुसार कम से कम जब तक भारत परतंत्र है तब तक तो वह विदेशी लिपि स्वीकार नहीं करेगा।

३—रोमन लिपि के पक्ष में तीसरी युक्ति यह दी जाती है कि इसे स्वीकार कर लेने से हम वैज्ञानिक तथा आधुनिक आविष्कारों का पूरा लाभ उठा सकते हैं। इस विषय में सुभाष बाबू के शब्द इस प्रकार हैं :—

१—देखिए विशाल भारत, नवंबर, १९३८, पृ० ५७५।

"रोमन लिपि से एक फायदा और हम उठा सकते हैं। आज हम अपनी लिपि में टेलिग्राम नहीं कर सकते हैं। रोमन लिपि के सरेआम व्यवहार से हम अपनी भाषा में टेलिग्राम कर सकेंगे। लाइनोटाइप वगैरह आधुनिक मुद्रण-यंत्र आज की स्थिति में हमारे काम में आना बहुत कठिन है। रोमन का उपयोग होने से इन तमाम आधुनिक मशीनों से हम अच्छा काम ले सकेंगे। सेना में जितने प्रकार के 'सिग्नलिंग' हैं उनमें भी हम अपनी भाषा का व्यवहार कर सकेंगे। बेतार के तार (वायरलेस टेलिग्राम) तक में हमें रोमन लिपि द्वारा काफी लाभ हो सकता है। सारांश, रोमन लिपि से वैज्ञानिक कार्यों में बड़ी सहायता मिल सकती है।"[१]

जब लोग लिपि जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करते हुए आधुनिक यंत्रों को दृष्टि में रखकर अपनी नागरी जैसी वैज्ञानिक लिपि[२] का परित्याग करके रोमन लिपि को अपनाने अथवा एकाएक नागरी लिपि का कलेवर बदल डालने के परिणाम पर जा पहुँचते हैं तब हमें उनकी इस भूल पर बहुत दुःख होता है। इस भूल में जितना हिस्सा रोमन लिपि के समर्थकों का है उतना ही नागरी की लाइनोटाइप मशीन के जन्मदाता श्री हरिगोविंद जी गोविल तथा उनके विचारों से सहमत उन सभी सज्जनों का है जिनके अनुसार यदि देवनागरी के ७०० टाइपों का काम १५० टाइपों से ही हो जाता हो तो नागरी लिपि में कैसा भी क्रांतिकारी सुधार कर देना चाहिए। इसे वास्तव में लिपि-सुधार कहना चाहिए या 'लिपि-विकार'! यहाँ हम इतना ही कहकर संतोष करेंगे कि रोमन लिपि के समर्थक और नागरी लिपि के सुधारक दोनों एक ही मौलिक भूल के शिकार बनकर हमारे सामने दो पृथक् पृथक् प्रस्ताव लेकर उपस्थित होते हैं। अब देखना यह है कि वह मौलिक भूल है क्या।

१—देखिए विशाल भारत, नवंबर १९३८, पृ० ५७७।

२—कुछ विचारकों का कथन है कि देवनागरी की वर्णमाला तो वैज्ञानिक है किंतु लिपि नहीं। यदि ये विचार इस विषय पर पूर्ण विचार करेंगे तो नागरी लिपि की भी वैज्ञानिकता इनकी समझ में आ सकेगी।

इस जगत् में मनुष्य ने लिपि का आविष्कार पहले किया था और छापने आदि के यंत्रों का पीछे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लिपि और इन यंत्रों में उपकार्य-उपकारक-भाव संबंध है। लिपि उपकार्य है और मुद्रणयंत्र उपकारक। उपकारक का कार्य उपकार्य के प्रयोजन की सिद्धि में सहायक होना होता है। इसी लिये उपकारक को उपकार्य के अनुकूल बनाया जाता है, न कि उपकार्य को उपकारक के अनुकूल।

मुद्रण-यंत्र और टेलिग्राफ आदि यंत्रों के अनुसार लिपि को बदल डालने का प्रयत्न उलटी गंगा बहाना है, क्योंकि रोमन लिपि के समर्थक और लिपि-सुधारक लोग कहते हैं कि इन मशीनों के अनुसार हमें अपनी लिपि को बदल डालना चाहिए। इससे हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि यदि किन्हीं नई ध्वनियों के लिये हमें अपनी वर्णमाला में कुछ संकेतों की वृद्धि करनी पड़े तो उसके लिये भी द्वार बंद कर देना चाहिए; किंतु हम नागरी जैसी परम वैज्ञानिक लिपि को यंत्रों के पीछे चलाने की नीति का घोर विरोध करते हैं। यंत्रों को (अर्थात् उनके बनानेवालों को) हमारी लिपि के पीछे चलना चाहिए।

आज यदि भारतीय लिपियों में तार नहीं दिए जाते तो इसका उत्तरदायित्व तार देनेवालों पर है न कि भारतीय लिपियों पर। टेलिग्राफी का आविष्कार यह नहीं कहता कि मेरे द्वारा वे ही तार भेजे जा सकते हैं जिनके संदेश a, b, c, d आदि रोमन लिपि ही के अक्षरों में लिखे गए हों अ, आ, इ, ई आदि नागरी अक्षरों में नहीं। यदि जुगोस्लाविया और बल्गेरिया आदि देशों में अरोमन लिपियों में तार दिए जा सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि वही कार्य भारतवर्ष में भी न किया जा सके। जो बात सादे तारों के विषय मे कही गई है वही बेतार के तारों और सेना संबंधी सब प्रकार के 'सिग्नलों' के विषय में भी कही जा सकती है। हिंदी के टाइपराइटर तो कई वर्षों से प्रचलित थे ही, किंतु अब श्री गोविलजी की कृपा से हिंदी की लाइनोटाइप मशीन भी तैयार हो गई है। अब यदि कहा जाय कि अभी हिंदी के टाइपराइटरों और लाइनोटाइप मशीनों के काम में वह सफाई नहीं आई है जो रोमन अक्षरों

के इन यंत्रों के काम में पाई जाती है तो हमें इतना ही कहना होगा कि आरंभ में त्रुटियाँ सर्वत्र रहती हैं परंतु वे समय पाकर स्वयं ही दूर हो जाया करती हैं।

४—रोमन लिपि के पक्ष में चौथी युक्ति यह दी जाती है कि इसे अपना लेने से योरप की फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं के अध्ययन में सहायता मिलेगी। इस कथन से रोमन लिपि के समर्थकों का तात्पर्य यह है कि योरप की भाषाओं का ज्ञान हमारे लिये आजकल अनिवार्य सा हो गया है और वह रोमन लिपि सीखे बिना प्राप्त नहीं हो सकता। अतः जब हमारे लिये रोमन लिपि जानना अनिवार्य है ही तब उसे ही राष्ट्र-लिपि क्यों न बना लिया जाय? ऐसा करने से फिर हमारे लिये एक और लिपि सीखना आवश्यक न रह जायगा।[1]

इस युक्ति का समाधान गौण रूप से तो प्रथम युक्ति की आलोचना करते हुए ही किया जा चुका है, तो भी क्रम-प्राप्त होने के कारण इस पर यहाँ मुख्य रूप से भी विवेचन हो जाना उचित है। यह युक्ति इस मौलिक भूल पर आश्रित है कि प्रत्येक भारतवासी के लिये योरप की विविध भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य है; किंतु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वास्तव में ऐसी बात नहीं है। हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का ज्ञान तो प्रत्येक हिंदुस्तानी के लिये जरूरी होना चाहिए, परंतु प्रत्येक हिंदुस्तानी स्त्री और पुरुष के लिये अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटैलियन, स्पैनिश एवं योरप की अन्यान्य भाषाओं का पढ़ना आवश्यक नहीं हो सकता। इन आधुनिक तथा प्राचीन ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं के अध्ययन को वैयक्तिक रुचि और वैयक्तिक आवश्यकता पर ही छोड़ देना चाहिए। यदि कोई इन्हें पढ़ना चाहे या किसी को इनके ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होती हो तो वह इन्हें खुशी के साथ पढ़ सकता है। विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा को न हम प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य बनाना उचित समझते हैं और न पश्चिम के ही किसी

१—देखिए—विशाल भारत, नवंबर, १९३८, पृ० ५७५ पर सुभाष बाबू के शब्द।

देश में उसे अनिवार्य बनाया गया है। उसका संबंध व्यक्तिगत रुचि, शक्ति और आवश्यकता से है। इस प्रकार उच्च कोटि की शिक्षा के लिये खोले गए महाविद्यालयों में आवश्यकता और रुचि के अनुसार अन्य विषयों के साथ इन भाषाओं और इनसे संबंध रखनेवाली लिपियों का अध्ययन भी किया जा सकता है। जब योरप की इन आधुनिक भाषाओं को पढ़ने की आवश्यकता बतलाई जाती है तब यह मानो मान लिया जाता है कि भारत की एक राष्ट्रभाषा न आज कोई है और न कभी कोई होगी; न उसमें योरोपीय भाषाओं का सा साहित्य आज है और न कल को हो ही सकेगा। ऐसी दीन-हीन मनोवृत्ति के साथ हमारी सहानुभूति नहीं हो सकती।

५—रोमन लिपि के पक्ष में पाँचवीं युक्ति—यदि इसे भी युक्ति कहा जा सके—यह दी जाती है कि विदेशियों को भारत की अनेक लिपियाँ सीखने में बहुत दिक्कत होती है। उनकी इस असुविधा को दूर करने के लिये रोमन लिपि को ही भारत की राष्ट्रलिपि बना देना चाहिए। इस संबंध में श्री सुभाष बाबू की पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

"इस बात के लिये तो हमें कोई संदेह न होना चाहिए कि आज हिंदुस्तान में जितनी लिपियाँ मौजूद हैं वे हमारी एकता के लिये बड़ी रुकावट उपस्थित करनेवाली हैं। साथ साथ यह भी एक बात मैंने सोची कि जब कोई विदेशी सज्जन हिंदुस्तान की भाषाएँ सीखने की कोशिश करें तो तरह तरह की लिपियाँ सीखने में उनको कितनी दिक्कत और परेशानी उठानी पड़ेगी। अगर एक अंतर्राष्ट्रीय लिपि हिंदुस्तान में होती तो इसमें शक नहीं हजारों परदेशी हिंदुस्तान की भाषाएँ सीखते। अंतर्राष्ट्रीय भाई-चारे के लिये यह बहुत जरूरी है कि हिंदुस्तान में ऐसी लिपि इस्तेमाल हो जो कि हर मुल्क में इस्तेमाल होती है।"[१]

इस उद्धरण में कही गई बातों का समाधान क्रमशः इस प्रकार है—

१—दे०—विशाल भारत, नवंबर, १९३८, पृ० ५७५।

इस तथ्य को हम स्वीकार करते हैं कि हिंदुस्तान की अनेक लिपियाँ इसकी एकता में बाधक हैं। परंतु जब नागरी और उर्दू इन दो ही लिपियों का स्थान रोमन लिपि को देना असंभव है तब भारत की कुल लिपियों का स्थान इसे दे सकना तो और भी अधिक दु:साध्य बात होगी; क्योंकि जहाँ उनमें से अधिकांश का नागरी लिपि से बहुत कुछ साम्य है और जहाँ वर्णमाला सभी भारतीय लिपियों की प्राय: एक ही है, वहाँ रोमन लिपि उन सबसे सर्वथा भिन्न है।

हमें पहले स्वदेशियों की कठिनता की चिंता करनी होगी या विदेशियों की कठिनता की? जो विचारा अपना ही उपकार नहीं कर पाता वह परोपकार क्या करेगा?

अंतर्राष्ट्रीय संबंध के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं।

रोमन लिपि की उपादेयता सिद्ध करने के लिये तुर्की के उदाहरण पर बड़ा बल दिया जाता है, किंतु यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि यह उदाहरण विषम है। तुर्की भाषा में अरबी की अपेक्षा बहुत अधिक स्वर हैं, और अरबी भाषा स्वर-ध्वनियों में बहुत दरिद्र है। अत: तुर्की को अरबी लिपि का परित्याग करके रोमन लिपि को स्वीकार कर लेने में अवश्य लाभ था। परंतु रोमन लिपि के साथ तुलना करने पर तुर्की के लिये अरबी लिपि जितनी दोषपूर्ण सिद्ध हुई भारत के लिये देवनागरी के साथ तुलना करने पर रोमन लिपि उससे भी अधिक दोषपूर्ण सिद्ध होती है; क्योंकि जहाँ एक ओर नागरी के १६ स्वरों के समक्ष रोमन वर्णमाला में केवल ५ ही स्वर हैं वहाँ दूसरी ओर नागरी के शुद्ध ३३ व्यंजनों के समक्ष इसमें केवल २१ ही व्यंजन हैं। फलत: यदि आज हम रोमन लिपि को अपना लें तो कल को २३ करोड़ हिंदू अपने भगवान् राम और कृष्ण तक का नाम न ठीक ठीक लिख ही सकेंगे और न पढ़ ही सकेंगे; क्योंकि रोमन वर्णमाला में न हमारा अकार है और न आकार। तदनुसार 'Rama' को 'आर्‌ए-एम्‌ए' पढ़ा जा सकता है, 'रैमै' भी, 'रेमे' भी, 'रेमै' भी और 'रैमे' भी, किंतु 'राम' तो कभी नहीं। इसे 'रामा' पढ़नेवालों की संख्या तो आज भी कम नहीं है। 'कृष्ण'

की अवस्था और अधिक शोचनीय हो जायगी; क्योंकि रोमन वर्णमाला में ऋकार, मूर्धन्य णकार और ङकार भी नहीं हैं।

इस रोमन लिपि ही की बदौलत आज हमारे पुल्लिंग 'राम' और 'कृष्ण' स्त्रीलिंग 'रामा' और 'कृष्णा' के सदृश बोले जाने लगे हैं। यह बात नागरी लिपि का प्रयोग करने पर असंभव हो जाती है।

इसी प्रकार ७ करोड़ मुसलमान इस लिपि में 'ख़ुदा' तक नहीं लिख सकते; क्योंकि इसकी वर्णमाला में 'ख़े' की ध्वनि के लिये कोई वर्ण ही नहीं है। इसके उत्तर में रोमन लिपि के समर्थक केवल दो ही प्रश्न कर सकते हैं।

१—'ख़े' की ध्वनि के लिये देवनागरी ही की वर्णमाला में कौन सा चिह्न है?

२—यदि रोमन लिपि वाले इसमें अनुपस्थित ध्वनियों का कार्य विशेष चिह्नों द्वारा चला लें तो क्या हानि है?

प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि देवनागरी वर्णमाला में सब से अधिक स्वर और सबसे अधिक ही व्यंजन हैं। अतः यदि किसी लिपि को अपेक्षित वर्णों के अभाव की विशेष चिह्नों द्वारा पूर्ति करने का अधिकार देना हो तो वह यही लिपि हो सकती है; क्योंकि ऐसा करने में ही अधिक से अधिक लाघव है, कम से कम परिवर्तन करना पड़ता है। वास्तव में तो 'ख़ुदा' और 'ग़नीमत' आदि शब्दों के 'ख़े' और 'ग़ैन' आदि वर्णों की ध्वनियों का प्रश्न नागरी में उठता भी नहीं; क्योंकि खकार और गकार के नीचे एक बिंदु लगाकर ख़े और ग़ैन का कार्य लेने की प्रथा नागरीलिपि वालों के लिये अब इतनी पुरानी वस्तु हो गई है कि बिंदु के प्रयोग को देखकर प्रत्येक पाठक को निश्चित रूप से अभीष्ट ध्वनियों का बोध स्वतः हो जाता है।

द्वितीय प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्णों के अपने संश्लिष्ट रूप से पृथक् सत्तावाले चिह्नों को किसी भी लिपि में कम से कम स्थान देना चाहिए; क्योंकि ये पीछे से जोड़े जानेवाले चिह्न लिखने में और विशेष कर छपाई में छूट जाया करते हैं। यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी पुष्टि हमारा प्रतिदिन का अनुभव पूर्ण रूप से करता है। अतः

यदि 'Kamāla' (कमला) नाम के अंतिम अक्षर 'a' के ऊपर की पड़ी रेखा लिखने या छपने से रह गई तो उसे 'कमला' पढ़ना चाहिए अथवा 'कमल' इस बात के निर्धारण में यह लिपि सहायक नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि s के ऊपर वक्र रेखा ('s) और नीचे बिंदु (ṣ) एवं n के नीचे बिंदु (ṇ) लिखने अथवा छपने से रह गया तो तालव्य शकार, मूर्द्धन्य षकार और मूर्धन्य णकार का निश्चय भी नहीं हो सकता। परंतु नागरी लिपि के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। नागरी लिपि में तो इन सभी ध्वनियों के लिये निश्चित वर्ण सदियों से व्यवहृत होते आ रहे हैं, जब कि रोमन लिपि में भिन्न भिन्न लेखक भिन्न भिन्न चिह्नों का प्रयोग करते हैं। उनमें अभी तक किसी निश्चित पद्धति का अनुसरण नहीं हो रहा है। इस गड़बड़ी का अंत कब होगा इसका अनुमान रोमन लिपि के पोषक स्वयं ही नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ—तालव्य शकार को यदि ए० बी० कीथ साहब 'ç' इस प्रकार लिखते हैं तो वेबर साहब ''s' इस प्रकार और विन्टरनिट्स साहब 'š' इस प्रकार। यह गड़बड़ी अभी तो थोड़ी है, आगे चलकर यही बहुत विकराल रूप धारण कर लेगी; क्योंकि रोमन लिपि का व्यवहार करनेवालों को जैसे जैसे ध्वनियों का पता लगता जाता है वैसे वैसे इनके भेदक चिह्नों की संख्या भी बढ़ती जा रही है और ज्यों ज्यों इन चिह्नों की संख्या बढ़ रही है त्यों त्यों यह लिपि अधिक ही अधिक जटिल बनती जा रही है। इस प्रकार साधारण जनता के लिये तो यह एक कठिन पहेली ही बन जायगी।

रोमन लिपि के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं :—

१—जिन ध्वनियों को हम रोमन अक्षरों द्वारा लिपिबद्ध करना चाहते हैं उनका बोध कराने की शक्ति इनमें नहीं है। उदाहरणार्थ—पेड़ा, पीढ़ा, ऋषि, आज्ञा, बाळ गंगाधर तिलक इत्यादि में रेखांकित ध्वनियाँ शुद्ध रोमन लिपि में नहीं लिखी जा सकतीं। इसी प्रकार इसमें फारसी के ख़ुदा आदि और अरबी के तअल्लुक़ आदि शब्द भी, जिनका व्यवहार उर्दू भाषा में पर्याप्त मात्रा में होता है, नहीं लिखे जा सकते।

इस लिपि में भेदक चिह्न भी सब ध्वनियों के लिये अभी तक नहीं बनाए गए हैं। भविष्य में बनाकर उनके द्वारा यदि इन ध्वनियों को लिखा भी गया तो उन्हें पढ़ेंगे कितने ?

२—इस लिपि में लिखने और छापने के अक्षर भिन्न भिन्न हैं जिससे सीखनेवाले को दुगुना श्रम करना पड़ता है।

३—इसमें बड़े और छोटे अक्षरों का भी भेद सीखना पड़ता है। अतः वह श्रम चौगुना हो जाता है।

४—इसका व्यवहार करने से स्थान अधिक घिरता है। उदाहरणार्थ नीचे का चित्र देखिए।

देवनागरी और रोमन लिपियाँ पृथक् पृथक् इतना स्थान लेती हैं :—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
मैं		आ	प	से		इ	त	ना		हो		क	ह	ना		चा	ह	ता		हूँ				
M	a	i	ñ		ā	p	a	s	e		i	t	a	n	a		h	ī		k	a	h	a	n
ā		c	h	ā	h	a	t	ā		h	ū	ñ												
२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८												

इस चित्र में एक ही वाक्य, 'मैं आपसे इतना ही कहना चाहता हूँ' प्रति-अक्षर समान स्थान देते हुए देवनागरी और रोमन में पृथक् पृथक् लिखा गया है। देवनागरी ने यदि २१ वर्ग लिए हैं तो रोमन ने ३८। इस प्रकार रोमन ने इस वाक्य में ८० प्रतिशत अधिक स्थान लिया है। इसमें संदेह नहीं कि रोमन में नागरी के समान ऊपर और नीचे की मात्राएँ नहीं लिखनी होंगी, परंतु उनके स्थान में अब भेदक चिह्न भी तो लगाने पड़ेंगे ! अतः स्थान में किसी प्रकार की बचत नहीं होगी। पाठक रोमन लिपि के इस दोष का पूरा पूरा अनुभव तभी कर सकते हैं जब कि उन्हें किसी को विस्तृत समाचार पोस्टकार्ड द्वारा रोमन लिपि में लिखकर भेजना पड़े। इस प्रकार लिखने और छापने में कागज अधिक लगेगा।

५—स्थान-विस्तार के कारण दृष्टि के प्रसार में अधिक समय लगेगा, पढ़ने में आँखों को लंबा मार्ग तै करना होगा और पढ़ने में

देर लगेगी। यदि समय की बचत के लिये उनसे बलपूर्वक लंबा मार्ग थोड़े समय में पूरा करवाया गया तो आँखों पर अनुचित बोझ पड़ेगा और भविष्य में बहुत से पाठकों के लिये एक एक की जगह दो दो चश्मे लगाने की नौबत आ सकती है।

६—स्वरों को व्यंजनों से पृथक् लिखने की पद्धति के कारण छपाई में टाइप भी अधिक लगेंगे। उदाहरणार्थ—हमारे क अथवा ख में तो आकार साथ ही लिखा और छापा जाता है, किंतु रोमन में k और kh से a पृथक् लिखा और छापा जाता है। फलतः जहाँ हमारे यहाँ 'कमल' शब्द क+म+ल इन तीन टाइपों से ही छापा जा सकता है वहाँ रोमन में k+a+m+a+l+a इन छः टाइपों से निर्वाह होता है। इसके अतिरिक्त रोमन में हमारी बहुत सी ध्वनियों का बोध एक से अधिक वर्णों द्वारा कराया जाता है, जैसे ख का kh द्वारा, छ का chh द्वारा, और ऐ का ai द्वारा। संयुक्त अक्षरों का बोध कराने में तो इस मार्ग की गुरुता अपनी पराकाष्ठा पर ही पहुँच जाती है, जैसे राष्ट्र शब्द के अकेले 'ष्ट्र' अक्षर के लिये रोमन में s+h+t+r+a इन पाँच टाइपों का उपयोग करना पड़ता है। भेदक चिह्नों द्वारा 'ष्ट्र' की छपाई में तो चार टाइपों से भी काम हो जायगा, किंतु कात्स्न्र्य शब्द का 'त्स्न्र्य' तो छः टाइपों से कम में छापा ही नहीं जा सकता।

७—दोष संख्या ५ में जहाँ पढ़ने में अधिक समय लगने का उल्लेख हुआ है वहाँ अब दोष संख्या ७ में उपर्युक्त कारण से लिखने में भी अधिक समय लगेगा।

८—लेखन में लेखनी उठानी न पड़े इस उद्देश्य से अक्षरों को एक-दूसरे से मिलाकर लिखने के कारण यह लिपि अस्पष्टता को प्रोत्साहन देती है। इसमें लेखक अपने समय और श्रम की बचत करके पाठक के समय और शक्ति की हानि करता है। इस प्रकार यह लिपि केवल एक ही पक्ष के हित को ध्यान में रखना जानती है। दोनों पक्षों का समान रूप से हित-साधन करना इसके ध्येय से बाहर की वस्तु है।

६—इस लिपि को अपना लेने पर एक-दो पीढ़ियों के बाद हमारा समस्त प्राचीन—वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी और खड़ी बोली आदि का—साहित्य केवल पुरातत्त्ववेत्ताओं की खोज का ही विषय बन जायगा।

इसलिये जो कुछ ऊपर प्रतिपादन किया गया है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि जब तक समस्त भारत की राष्ट्रभाषा ही अँगरेजी नहीं हो जाती, जो एक सर्वथा असंभव बात है, तब तक रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि बनाने का कोई अर्थ ही नहीं है।

अब यदि रोमन लिपि के समर्थक यह कहना चाहें कि—अच्छा, कम से कम जहाँ नागरी और उर्दू इन दो लिपियों को राष्ट्र-लिपि का स्थान मिल रहा है वहाँ एक तीसरी रोमन लिपि भी रहे तो क्या हानि है? तो इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि रोमन लिपि का व्यवहार करनेवालों की संख्या उर्दू लिपि का व्यवहार करनेवालों की संख्या से बहुत कम है। अतः उर्दू लिपि चाहे रोमन जैसी ही अवैज्ञानिक और दोषपूर्ण है तो भी उसका व्यवहार करनेवालों की संख्या का विचार करते हुए रोमन लिपि को उर्दू लिपि की समकक्षता प्रदान करना भी न्यायसंगत नहीं है। इसे नागरी और उर्दू लिपियों के साथ स्थान देने से बँगला, गुजराती एवं तेलगू आदि प्रांतीय लिपियों में प्रबल प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न हो जायगी जो हमारे लिये अत्यंत घातक सिद्ध होगी।

अतः राष्ट्रलिपि के विधान में रोमन लिपि का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

———

नागरी और मुसलमान

[लेखक—श्री चंद्रबली पांडे, एम्० ए०]

कौन जानता था कि इस अभागे देश में एक दिन ऐसा भी आ पड़ेगा कि दिन को दिन कहने में भी संकोच होगा और कुछ अपने ही लोग इस विश्व-उजागर सत्य को मानने में भी आनाकानी करेंगे कि वस्तुत: नागरी ही इस देश की राष्ट्रलिपि है। उन लोगों को अभी अलग रखिए जिनके बाप-दादा इसी पुण्यभूमि की मिट्टी में उगे थे और अपनी चमक-दमक दिखाकर इसी में विलीन हो गए। बात तो उन परदेशप्रिय महानुभावों की है जो आज भी अपने आप को न जाने कहाँ का जीव समझते हैं और बात बात में न जाने किस देश की दुहाई देते हैं। कभी वह दिन भी था कि यहाँ के परदेशी मुसलमान अपनी शक्ति और शासन के युग में राष्ट्रलिपि नागरी का व्यापक व्यवहार करते थे और भूलकर भी उसे 'काफ़िरों की चीज़' नहीं समझते थे। मुसलिम बादशाहों के सिक्कों पर हिंदी को स्थान मिला तो कोई अजीब बात नहीं हुई। नागरी तो उनकी मसजिदों में भी घर कर गई और उनकी सत्य-निष्ठा की पैरवी करने में लगी रही। संक्षेप में इतना जान लीजिए कि समर्थ मुसलमानों का इसलाम हिंदी का सहायक था और कुरान मजीद के इस महामंत्र का अर्थ भली भाँति समझता था कि—

"मा अर्सलना मिन् रसूलिन् इल्ला बेलेसाने क़ौम ही।"

(सूरत इब्राहीम, आयत ४)

यानी "नहीं भेजा हमने कोई पैग़ंबर मगर साथ ज़बान क़ौम उसकी।"

(शाह रफ़ीअउद्दीन साहब देहलवी)

एक बार नहीं, बार बार कुरान मजीद में यह चेतावनी दी गई है कि जब कभी किसी जाति में पैग़ंबर भेजा गया तो वह उसी की जाति तथा उसी की बोली का। कारण वही बताया गया है जिसके आधार पर आज देश-भाषाओं का महत्त्व बढ़ रहा है। कौन नहीं जानता कि

अपना आदमी अपनी बोली के सहारे हृदय पर जो अधिकार जमा लेता है वह कोई बाहरी किसी बाहरी बोली के सहारे कदापि नहीं। कुरान मजीद की इसी शिक्षा का परिणाम है कि कट्टर गाजी मूर्तिभंजक महमूद गजनवी ने अपने हिंदी सिक्के पर हिंदी को स्थान दिया और संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में लिखवा दिया 'अव्यक्तमेकं' और 'अवतार'। अल्लाह के लिये 'अव्यक्तमेकं' तो सहज सा जान पड़ता है, पर 'रसूल' के लिये 'अवतार' खटक सा जाता है। पर इस 'खटक' का प्रधान कारण धर्म नहीं, हिंदी मुसलमानों की अपाहिज और पिछली कट्टरता अथवा हठ-धर्मी है। सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने तो यहाँ तक कर दिखाया कि 'कलमा' को 'पाढ़त' और 'कुरान' को 'पुरान' बना दिया। 'पदमावत' के 'स्तुति खंड' का अध्ययन करें और देखें कि इसलाम हिंदी में किस इसलामी मुँह से बोल रहा है और शरीअत का पालन और समर्थन भी किस खूबी से डटकर कर रहा है। 'अखरावट' की रचना तो हिंदी अक्षरों को लेकर ही हुई है।

बात एक 'गोमठ' की है। दमोह प्रांत के बटिहाडिमपुर के रम्य गोमठ का रंग देखिए। इसका निर्माता कोई हिंदू नहीं, शुद्ध मुसलमान है। मुसलमानी अल्लाह की वंदना किस ढंग से हुई है, तनिक देखिए। कितनी सटीक स्तुति—

"सर्वलोकस्य कर्तारमिच्छाशक्तिमनंतकम्।
अनादिनिधनं वंदे गुणवर्णविवर्जितम्॥"

आज ईरान में 'अल्लाह' की जो ईरानी वंदना हो रही है वह भी इसी खरी इसलामी परंपरा की एक छटा है, किसी अनूठी हठधर्मी का आटोप नहीं है।

'जल्लाल'कृत इस गोमठ की भाषा तथा लिपि के विषय में लोग तरह तरह की बातें पैदा कर सकते हैं, कूटनीति के इस जमाने में उसे चाल का परिणाम समझ सकते हैं। इसलिये इसके प्रसंग को अधिक[१] बढ़ाना ठीक

१—पूरे लेख के लिये देखिए 'एपिग्राफिया इंडिका' भाग १२ नंबर ६, पृ० ४६। इसका संपादन रायबहादुर डाक्टर हीरालाल ने किया है।
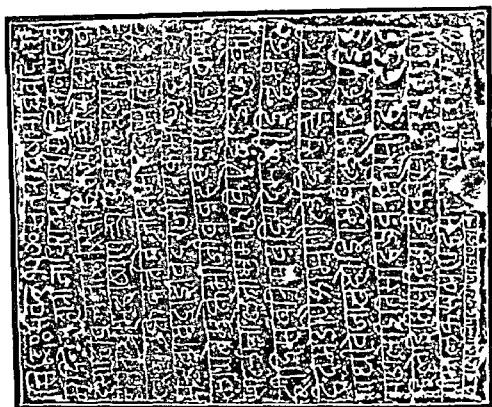
नहीं। एक 'मसीत'(मसजिद)की बात सुन लीजिए और इस चलित संस्कृत के बखेड़े को दूर कीजिए। बुरहानपुर की आदिलशाही मसजिद आपके सामने है। देखिए तो सही क्या और किस भाषा तथा किस लिपि में लिखा है। आपने देख लिया कि 'खुदा के घर' में भी नागरी और 'मुई' संस्कृत के लिये स्थान है। उन्हें निराश होने का कोई कारण नहीं। उस पर अत्यंत सुंदर अक्षरों में संस्कृत में लिखा गया है--

"श्री सृष्टिकर्त्रे नमः।
अव्यक्तं व्यापकं नित्यं गुणातीतं चिदात्मकं।
व्यक्तस्य कारणं वंदे व्यक्ताव्यक्तं तमीश्वरं॥ १॥
यावच्चन्द्रार्कतारादिस्थितिः स्यादंबरांगणे।
तावत्फारुकिवंशोसौ चिरं नंदतु भूतले॥ २॥
वंशेथ तस्मिन् किल फारुकींद्रो बभूव राजा मलिकाभिधानः।
तस्याभवत्सूनुरुदारचेताः कुलावतंसो गजनीनरेशः॥ ३॥
तस्मादभूत्केसरखानवीरः पुत्रस्तदीयो हसनक्षितीशः।
तस्मादभूदेदलशाहभूपः पुत्रोभवत्तस्य मुबारखेंद्रः॥ ४॥
तत्सूनुः क्षितिपालमौलिमुकुटव्याघृष्टपादांबुजः,
सत्कीर्त्तिर्विलसत्प्रतापवशगामित्रः क्षितीशेश्वरः।
यस्याहर्निशमानतिर्गुणगणातीते परे ब्रह्मणि,
श्रीमानेदलभूपतिर्विजयते भूपालचूडामणिः॥ ५॥

स्वस्ति श्री संवत् १६४६ वर्षे शाके १५११ विरोधिसंवत्सरे पौषमासे *शुक्लपक्षे १० घटी २३ सहैकादश्यां तिथौ सोमे कृत्तिकाघटी २३ सह* रोहिण्यां शुभ घटी ४२ योगे वणिजकरणेस्मिन् दिने रात्रिगतघटी ११ समये कन्यालग्ने श्रीमुबारकशाह सुत श्री एदलशाहराज्ञा मसीतिरियं निर्मिता स्वधर्मपालनार्थं।"[1]

१—इसका संपादन भी डाक्टर हीरालाल ने ही किया है। अवतरण को श्लोक के रूप में बोधगम्य बनाने के लिये कर दिया गया है। इसके लिये भी देखिए 'एपीग्राफिया इंडिका,' भाग ९ नंबर ४८ पृ० ३०८-०६।

'स्वधर्मपालनार्थ' की व्याख्या व्यर्थ है। धर्म किसी भाषा एवं लिपि में लपेटकर कहीं लटकाया तो जाता नहीं। वह तो मानव हृदय में रमता और रोम रोम से न जाने किस किस भाषा में भाषण करता रहता है। नागरी और संस्कृत में भी उसका स्वर उसी प्रकार सुनाई देता है जिस प्रकार अरबी और फारसी में। प्रमाण के लिये अल्लाह का आदेश ऊपर अवतरित हो चुका है। यहाँ उसी का पालन किया गया है। 'तारीख़ गुरीबी' के लेखक ने जी खोल कर इसका प्रतिपादन किया है और कई सिद्ध सूफियों का प्रमाण भी दिया है।

संस्कृत फिर भी सबकी बोली नहीं, वह केवल 'शिष्ट' जनों की भाषा है। अतएव उसे छोड़ अब भाषा का भी एक उदाहरण ले लीजिए। यह भी एक मुसलमानी चीज है। एक छोटा सा 'इश्तिहार' है, 'गँवारी' अथवा लोकभाषा में लिखा गया है। पर चलित संस्कृत का हाथ पकड़कर आगे बढ़ रहा है और आज भी मुँह खोलकर धीरे से कह रहा है कि अभी संस्कृत मरी नहीं, पड़ी पड़ी सबको रास्ता दिखा रही है, उसी के आधार पर हम भी आगे बढ़ रहे हैं। अच्छा, तो वह इश्तिहार है—

"सिद्धिः संवत् १५७० सतरा वर्षे माघ वदी १३ सोमे दिने महाराजाधिराज राज श्री सुलितान महमूदसाहि विन नासिरसाहि राज्ये अस्सै दमौव नगरे श्री महापाण आज़म मलूपां विण मलूपां मुक्ते वर्तते तत्समये दाम विजाई व मराडवा व दाई व दरजी ऐ रकमौ जु दमड़ा लागते मीजी व वहदाराण हर वेरिस सालीना ले तो मुमाफिकि ऐ छोड़े जु कोई इस बरिस व इस देश थी इन्ह मह लेहि दामड़ा पैका मांगे लेई सु अपण दीण थी वेजाड़ होइ मुसलमान होइ दमड़ा लेइ तिसहि सुवर की सौंहा हिंदू होइ लेइ तिसहिं गाई की सौंहा पूवानगी मलिक सेषण हसनषां निरबदा छ मौ कोठवालु सोनिपहजू गोपाल पलचिपुर वारे शुभं भवतु।"

'इश्तिहार' की खिचड़ी भाषा बड़े मार्के की है। और तो और, 'वहदाराण' का फारसी रंग भी इसमें शामिल हो गया है। पर हमारा ध्येय भाषा का अध्ययन नहीं प्रत्युत नागरी का प्रचार दिखाना है। इतना तो आपने देख ही लिया कि भारत के समर्थ मुसलमानों ने अपने शासन में

किस प्रकार नागरी को संस्कृत तथा भाषा के साथ अपनाया और 'धर्म-पालनार्थ' भी उसका व्यवहार किया। अब थोड़ा यह भी देख लीजिए कि फारसी भाषा के साथ भी नागरी का प्रयोग हुआ है और उतरा भी खूब खरा है। ओरिएंटल कालेज मैगज़ीन के संपादक मौलवी मुहम्मद शफ़ीअ् साहब ने दो फारसी फरमानों का संपादन करते हुए लिखा है—

"मुख्तसर यह कि यह दो फ़रमान हैं। इनमें से एक फ़रमान ९४८ में जारी हुआ और दूसरा ९५० में। चूँकि ९५० वाला फ़रमान ज़्यादा अच्छी हालत में है और साफ़ पढ़ा जाता है इसको मुक़द्दम रखा गया है और दूसरे को मुअख्खर। दोनों फ़रामीन अहद शेरशाह (९४६ ता ९५२) से तअ़ाल्लुक रखते हैं। और इनमें यह अजीब खुसूसियत पाई जाती है कि पहले सारा फ़रमान फ़ारसी में लिखा गया है फिर उसके नीचे हिंदी हुरूफ़ मगर फ़ारसी ज़बान में इबारत को दुहराया गया है। चुनांचे फ़ारसी इबारत में असमाय मवाज़ा के तलफ़्फ़ुज़ और मुशतबहात की तौज़ीह के लिये हिंदी हुरूफ़ की तहरीर से बहुत मदद मिली है।

"यह खुसूसियत जिसका ज़िक्र हुआ है सूरियों के सिक्कों में भी पाई जाती है। उनपर बादशाह का नाम फ़ारसी हर्फ़ों के अलावा नागरी हर्फ़ों में भी लिखा है। लेकिन यह तरीक़ा शेरशाह का ईजाद न था। कुछ अर्सा हुआ एक फ़रमान इब्राहीम बिन सिकंदर लोधी (९२३ ता० ९३०) के अहद की नज़र से गुज़रा जो ९२७ की तहरीर था और जिसमें बियोनिह इन फ़रमाना की तरह सफ़हा के ऊपर के (क़रीबन दो तिहाई) हिस्से में फ़ारसी तहरीर थी और निचले हिस्से में इसी इबारत को नागरी हुरूफ़ में लिखा गया था। मालूम होता है कि सूरियों के फ़रामीन बिल्कुल उसी तर्ज़ और उसी नमूना पर लिखे जाते थे जिस पर लोधियों के फ़रामीन लिखे जाते थे। आख़िरी सतर की तहरीर से यह बात और भी नुमायाँ होती है।" (ओरिएंटल कालेज मैगजीन, लाहौर, मई सन् १९३३ ई०, पृ० ११५-१६)

विचार करने की बात है कि फारसी फरमानों में हिंदी अक्षरों को स्थान क्यों मिला। सो भी शुद्ध मुसलमानी फरमानों पर जिनका

हिंदुओं से कोई संबंध नहीं। अब या तो आप यह स्वीकार कर लें कि उस समय फारसी भी नागरी अक्षरों में पढ़ाई जाती थी अथवा यह मान लें कि अपनी साधुता, सचाई और खरेपन के कारण वह भी फारसी फरमानों पर विराजमान हो जाती थी। अन्यथा फारसी भाषा और हिंदी लिपि का बेतुका महत्त्व क्या? नागरी लिपि में फारसी भाषा क्यों? मौलवी मुहम्मद शफ़ीअ साहब ने तो खुले शब्दों में कह दिया है कि यदि हिंदी अक्षर में उक्त फरमान न होते तो "फ़ारसी इबारत के बाज़ अल्फ़ाज़ से इश्तिबाह का रफ़ा करना नामुमकिन था।" (देखिए वही, पादटिप्पणी)

समर्थ मुसलमानों के शासन में नागरी की जो व्यापक प्रतिष्ठा रही उसके ठोस चित्र आपके सामने उपस्थित हैं। उनका जमकर अध्ययन करें और इतना और जान लें कि मुगल सम्राटों ने यद्यपि अपने सिक्कों पर नागरी को स्थान नहीं दिया तथापि किसी प्रकार भी उसके महत्त्व को कम नहीं किया। उनकी हिंदी रचना को देखने से सारा भ्रम दूर हो जायगा। क्या आपको यह भी बताना पड़ेगा कि—

"रिआया की भाखा पर रग़बत इस ख़ानदान का आईन रहा है।" (मुग़ल और उर्दू, बरमानी एंड संस, फियर्स लेन कलकत्ता, सन् १९३३ ई० पृ० ६५) सचमुच मुगलों का हिंदी-प्रेम सराहनीय है। कट्टर गाजी औरंगजेब तक तो हिंदी में कविता करता और हिंदी भाषा को महत्त्व देता था। हम 'मुगल बादशाहों की हिंदी' की चर्चा अन्यत्र कर चुके हैं, अतएव संक्षेप में यहाँ इतना ही निवेदन करते हैं कि उनके शासन में नागरी का कभी अपमान नहीं हुआ प्रत्युत हिंदी साहित्य को जो उत्कर्ष उनके राज्य में मिला वह कभी उसको नसीब न हुआ।

बीती बातों को छोड़िए। आज भी अनेक मुसलमान नागरी का गुणगान करते हैं। पर उनमें से कुछ कहते यह हैं कि—

"मैं यह नहीं कहता कि नागरी हर्फ़ों में उर्दू लिख पढ़ नहीं सकते। ज़रूर लिख पढ़ सकते हैं। लेकिन लिटरेचर की तहज़ीब और

तरक्की जिन हर्फों में अब तक हो चुकी है उन हुरूफों को इस वक्त बदल देना मौजूदा लिटरेचर की तरक्की का मिटाना है। और यह अम्र की आइंदा इससे उम्दा लिटरेचर हिंदुस्तान में नागरी हर्फों में पैदा हो सकता है मन्तिकी इम्कान में ज़रूर है लेकिन बासबाब ज़ाहिर मुहाल और सख़्त मुश्किल मालूम होता है।" (ज़बान उर्दू, अबुल फ़ज़ल अब्बासी, गुलाब एंड संस प्रेस लखनऊ, सन् १९०० ई०, पृ० १४।)

अब यह आपको कर्त्तव्य रहा कि या तो उन कारणों को दूर करें जिनके कारण नागरी में उर्दू साहित्य का उत्कर्ष 'सख्त मुश्किल' दिखाई देता है अथवा उस परंपरागत प्रिय नागरी लिपि का विनाश कर आत्महत्या करें जो कि समर्थ मुसलमानों के शासन में फूली फली और आज भी 'घंटों, दिनों या हफ्तों' में आ जाती है और सभी प्रांतीय लिपियों से हाथ मिलाती है।

मलिक मुहम्मद जायसी का जीवनचरित

[लेखक—श्री सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी, बी० ए०]

मलिक मुहम्मद जायसी रायबरेली जिले के जायस[1] नामक कसबे में सन् ९०० हिजरी में (१४९४ ई० में) पैदा हुए थे। इनके जन्म के समय भूचाल आया था जिसका वर्णन मलिक जी ने स्वयं 'आखिरी कलाम' में किया है—

भा अवतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

ये सात बरस के थे तभी इनको चेचक निकली। माँ ने मनौती की कि अच्छे होने पर मकनपुर में मदार शाह के मजार पर जाऊँगी। मलिक जी अच्छे तो हो गए परंतु इनकी बाईं आँख जाती रही, बहुत बदसूरत हो गए। पद्मावत में ये खुद लिखते हैं—'एक नयन कवि मोहमद गनी।' बाएँ कान से बहरे हो गए, एक तरफ के हाथ पाँव से भी बेकार और कुबड़े हो गए थे। माँ अपनी मनौती पूरी न कर सकी कि मर गई, बाप पहले ही मर चुके थे। इससे मलिक ननिहाल[2] चले गए और फकीरों में शामिल हो गए। जवानी में जायस वापस आए और शाह मुबारक बोदला अशरफ़ी के चेले हो गए। फिर कालपी चले गए। वहाँ से ९३७ हिजरी में (१५३० ई० में) वापस लौट आए।

१—जायस का पुराना नाम विद्या या उद्या नगर है। इसको उद्दालक मुनि ने बसाया था। १००० ई० में यहाँ भरों की हुकूमत थी। उद्या नगर एक मजबूत किला था। १०२७ ई० में मुसलमानों ने इसे जीत लिया। यह ऊँचे टीले पर बना है। मकान दो मंजिला, तीन मंजिला हैं।

२—मलिक जी की ननिहाल मानिकपुर जिला प्रतापगढ़ में थी, परंतु मालूम नहीं कि किस खानदान में थी। लेखों से पता चलता है कि मलिक जी को अपनी ननिहाल से किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ, और न ये ननिहाल के प्रशंसक ही थे।

मलिक जी का संबंध सलौन से—मलिक जी का सलौन जिला रायबरेली से घनिष्ठ संबंध था। संभव है कि ननिहाली संबंध के ही कारण रहा हो, क्योंकि सलौन और मानिकपुर के गद्दीधर वास्तव में एक हैं।

मलिक जी का संबंध कालपी से—मलिक जी ने अपनी सभी रचनाओं में अशरफी खानदान की, जो जायस में रहता था, बहुत प्रशंसा की है; परंतु अंतिम दो ग्रंथों में 'मुहदी' की तारीफ की है। मुहदी या मुहीउद्दीन चिश्ती खानदान के पूर्वज थे और जहाँ तक पता चलता है कालपी के रहनेवाले थे। प्रकट है कि मलिक जी का कोई घरेलू संबंध कालपी से न था। अनुमान किया जाता है कि मलिक जी कालपी में फकीरों की तरह घूमते हुए पहुँच गए और वहाँ बाबर बादशाह की तारीफ की और जन्मभूमि की याद में कविता लिखी। कालपी उस समय बाबर के अधीन था। यह भी संभव है कि वहाँ से जायस आकर 'पद्मावत' लिखी हो या 'पद्मावत' की मुख्य घटना को कविता का रूप दे दिया हो और फिर देश की प्रशंसा इत्यादि जायस में आकर लिखी हो, और लेखक ऐसा करते भी हैं। ऐसी दशा में यह विवाद कि मलिक जी की जन्मभूमि जायस थी या गाजीपुर आप ही मिट जाता है और 'जायस नगर धरम अस्थानू' से जो संदेह उत्पन्न होता है वह दूर हो जाता है। क्योंकि 'आखिरी कलाम' में वे स्वयं लिखते हैं 'जायस नगर मोर अस्थानू' जिससे साफ जाहिर होता है कि जायस मलिक जी का घर है और मलिक मुहम्मद के साथ 'जायसी' शब्द का प्रचलित हो जाना भी इसका एक पुष्ट प्रमाण है।

'पद्मावत' में मलिक जी ने शेरशाह सूरी की तारीफ की है। परंतु पता नहीं कि शेरशाह के दरबार में मलिक जी को पद्मावत के पेश करने का अवसर भी मिला या नहीं। अलबत्ता मीर हसन की मसनवी[१] से साबित होता है कि अकबर के दरबार में वे पहुँचे थे—

१—रिमुजुल आरिफ नाम की मीर हसन की लिखी मसनवी से लिए हुए ये कुछ पद्य हैं जो ११८८ हिजरी (१७७४ ई०) में छपी है और हैदराबाद के कुतुबखाने में है।

"थे मलिक नाम मुहम्मद जायसी।
वह कि पद्मावत जिन्होंने है लिखी॥
मर्दे आरिफ़ थे वह और साहब कमाल।
उनका अकबर ने किया दरयाफ़्त हाल॥
हो के मुश्ताक उनको बुलवाया सिताब।
ताकि हो सोहबत से उनकी फ़ैज़याब॥
साफ़ बातिन थे वह और मस्त अलमस्त।
लेक दुनिया तो है यह जाहिर परस्त॥
थे बहुत बदशक्ल और वह बदकवी।
देखते ही उनको अकबर हँस पड़ा॥
जो हँसा वह तो उनको देख कर।
यों कहा अकबर को होकर चश्मेतर॥
हँस पड़े माटी पर ऐ तुम शहरयार।
या कि मेरे पर हँसे बे अख़्तियार॥
कुछ गुनह मेरा नहीं ऐ बादशाह।
सुर्ख़ बासन तू हुआ और मैं सियाह॥
अस्ल में माटी तो है सब एक जात।
अख़्तियार उसका है जो है उसके हाथ॥
सुनते ही यह हर्फ़ रोया दादगर।
गिर पड़ा उनके कदम पर आन कर॥
अलग़रज़ उनको व एजाज़े तमाम।
उनके घर भिजवा दिया फिर वस्सलाम॥
साहबे तासीर हैं जो ऐ हसन।
दिल प करता है असर उनका सुख़न॥"

ऊपर लिखी हुई कविता से मालूम होता है कि अकबरी दरबार से वे बड़ी इज्जत के साथ घर वापस आए। फ़रमान अकबरी ९६३ हिजरी (१५५५ ई०) जो सैयद पियारा हुसेनी रईस जायस के नाम है और जिसकी बदौलत तमाम जायस वालों को माफी मिली है उसमें

भी मलिक जी की कोई चर्चा नहीं है। यह निश्चय है कि मलिक जी अपने जीवन के अंतिम काल में मँगरा के बन में रहे। अनुमान किया जाता है कि शेरशाह के जमाने में जब कसबा जायस के सब रईस लोग शहर से बाहर निकल गए तो मलिक भी उन्हीं के साथ मँगरा के बन में चले गए।

"जब हुमायूँ बादशाह शेरशाह से हार मानकर ईरान चले गए तो जायस के लोग प्रति दिन खबरें उड़ाया करते थे कि हुमायूँ बादशाह आते हैं। यह खबर अखबारों द्वारा शेरशाह को मिली। बादशाह ने सूबेदार पर अपना क्रोध प्रकट किया कि कसबा जायस को खोद डालो और वहाँ के लोगों को निकाल दो। इसी प्रकार वह बात पूरी की गई। यहाँ के कुल निवासी घर छोड़कर जिसको जहाँ जगह मिली बस गए। परंतु शेखों का दल निकलकर मँगरा के जंगल में बस गया। वह जंगल पहले परगना गढ़ अमेठी में था। अब तक वहाँ आबादी और कब्रों के निशान पाए जाते हैं और अब भी वह जगह मँगरा के नाम से प्रसिद्ध है। अब वह हसनपुर और मददपुर की रियासत के अधीन है। जब १२ वर्ष के बाद हुमायूँ वापस आए तो फिर जागीरें दीं और बसने की आज्ञा दी।"[१]

मालूम होता है कि पहली बार इस सिलसिले में तमाम सैयदों और शेखों के साथ मलिक जी का इस प्रकार परिचय बढ़ा और हुमायूँ के समय में घर वापस आए। क्योंकि खानदानवालों ने उनको वहाँ न छोड़ा होगा और अपने गुरु का वियोग उनसे सहा न गया होगा। इसके बाद अकबर के दरबार में मलिक की पैठ हुई।

मलिक जी की जन्मभूमि—कुछ इतिहास लिखनेवाले लिखते हैं कि मलिक जी और उनके बाप-दादे गाजीपुर के रहनेवाले थे। इस बात के सबूत में वे मलिक जी की यह कविता पेश करते हैं—

जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥

१—कलमी तारीख़ मरतबा शेख़ अब्दुल गफ़ूर कज़ानवी जायसी आनरेरी मजिस्ट्रेट, तारीख जदीद क़सबा जायस १३०६ हिजरी (१८८८ ई०)।

ऊपर लिखी कविता से यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि मलिक जी जायसी नहीं बल्कि गाजीपुरी थे। संभव है कि यह कविता कालपी या मानिकपुर से वापस आने पर कही गई हो। इसके अतिरिक्त मलिक जी ने स्वयं भी 'आखिरी कलाम' में जायस को अपना स्थान कहा है। 'जायस नगर मोर अस्थानू'

ऊपर लिखी हुई कविता मलिकजी ने उस समय लिखी थी जब वे जायस से दूर कालपी में थे। जो लोग काव्यकला और मनोविज्ञान से परिचित हैं वे अच्छी तरह जानते हैं कि मनुष्य उस समय अपना नाम पता बताता है जब वह ऐसे स्थान में हो जहाँ उसके मित्र और परिचित मौजूद न हों। मीर तक़ी 'मीर' ने भी जब लखनऊ के मुशायरा में पहली बार गजल पढ़ी और लोगों को अपना परिचय दिया तो अपने स्थान के बड़प्पन को इस प्रकार प्रकट करना उचित समझा—

"क्या मेरा हाल पूछो हो पूरब के साकिनो ?
मुझको ग़रीब जान के हँस हँस पुकार के ॥
दिल्ली जो एक शहर था आलम में इंतख़ाब।
रहते थे जहाँ मुंतख़ब ही रोज़गार के ॥
उसको फ़लक ने लूटकर ताराज कर दिया।
हम रहनेवाले हैं उसी उजड़े दयार के ॥"

कहा जाता है कि एक बार अकबर बादशाह ने आपकी विद्वत्ता और साधुता तथा कविता की ख्याति सुनकर आपको दिल्ली बुलाया। आप वहाँ गए भी परंतु यात्रा के कष्ट और गर्मी से और भी अधिक काले पड़े गए। पहले से माता के दाग थे और एक नेत्र से हीन भी थे। जब दरबार में पहुँचे तो दरबारियों ने घृणा की दृष्टि से देखा और आपस में हँस पड़े। सबों ने कहा कि 'नाम बड़ा पर दर्शन थोड़ा।' यह देखकर मलिक जी ने कहा कि 'मोहिं हँससि कि कोहरहिं।' इसका असर बादशाह पर ऐसा पड़ा कि वह इनकी विद्वत्ता का कायल हो गया और बहुत कुछ इनाम-अकराम देकर विदा किया।

मलिक जी खेती करते थे। एक बार खेत से लौट रहे थे कि एक औरत कुछ लेकर अपने मर्द के पास खेत पर जा रही थी। उसकी खुशबू पाकर आपने कहा 'अस कै जरै तो कस न बसाइ'। इसको सुनकर सुननेवालों पर ऐसा असर हुआ कि बहुत से लोग उसी समय उनके भक्त हो गए।

आप बड़े नम्र स्वभाव के आदमी थे। जहाँ तक हो सकता था कभी अकेले भोजन न करते थे। एक दिन आपकी लौंड़ी खीर पकाकर खेत पर ले गई। बहुत देर तक ढूँढ़ने के बाद इनको एक रोगी सर पर लकड़ियाँ लिए जाता दिखाई दिया। उसके हाथों से खून और पीव टपक रहा था। लाचार होकर पीर के कथनानुसार अकेले भोजन नहीं किया बल्कि उसी के साथ खाना आरंभ किया। खा चुकने के बाद जो कुछ खून पीव से सना बचा उसको उठाकर पी गए। वह तो शीघ्र ही गायब हो गया, और बहुत खोजने पर भी नहीं मिला। परंतु मलिक साहब संसार के सिद्ध फकीर हो गए।

मलिक जी का धर्म—मलिक जी धर्म के विचार से सूफी मुसलमान थे। पद्मावत में इन्होंने चारों खलीफों की बड़ाई की है। शाह मुबारक बोदला के ये चेले थे। इससे पता चलता है कि ये उस परंपरा के साधक थे जो मखदूम अशरफ जहाँगीर की थी। मैंने बाबा फरीद सूफी जायसी की जबानी सुना कि मखदूम साहब ने 'लतायफ़ अशरफ़ी' में लिखा है 'ज़ेरे अलम नशिस्तम् व जम्बुल गर्दानी मीकुनम्' जिससे मालूम हुआ कि तैमूर बादशाह से पहले यह वंश ताजिया पूजनेवाला था। अशरफी वंश जायस में आज भी ताजिया की पूजा करता है। शाहअली जायसी का इमामबाड़ा और उनकी मेंहदी बहुत मशहूर है। इसलिये संभव है कि मलिक जी का नियम भी इसी प्रकार का रहा हो। मखदूम साहब के मज़ार पर किछोछा शरीफ में आज तक आशूर की रात मखदूम साहब के नाम ताजिया रक्खा जाता है और उसको हुजूरी का ताजिया कहते हैं।

मलिक जी और उनका वंश—मलिक जी मलिक वंश से थे। मिस्र में मलिक सेनापति और प्रधान मंत्री को कहते थे। खिलजी राजकाल में अलाउद्दीन ने बहुत से मलिकों को अपने चचा के मारने के लिये नियत किया था। इससे इस काल में यह शब्द प्रचलित हो गया। ईरान में मलिक जमीनदार को कहते हैं। मलिक जी के पूर्वज निगलाम देश ईरान से आए थे और वहीं से इनके पूर्वजों की पदवी 'मलिक' थी। 'हज़िनतुल असफ़िय' के लेखक ने मलिक जी को 'मुहक्किक़ तंदिही' की उपाधि से विभूषित किया है। मलिक जी के वंशज भी अशरफी खानदान के चेले थे और मलिक कहलाते थे। 'तारीख़ फ़िरोज़शाही' में है कि बारह हजार के रिसालादार को मलिक कहते थे। मलिक जी के हकीकी वारिस मलिक थे। इसलिये खानदान भर मलिक कहलाता था। मलिक जी स्वयं चंद बीघे मौरूसी जमीन पर अपना निर्वाह करते थे। आपका आधा शरीर जन्म से ही खराब था। बराबर अपने पीर शाह मुबारक बोदला की सेवा में आप लगे रहते थे। पीर के आज्ञानुसार कभी अकेले भोजन न करते थे। आपकी कविता भक्तों को बहुत पसंद थी। सैयद अब्दुल-रज्जाक कादिरी फकरुलउलमा निजामुद्दीन लखनवी, मीर सैयद इस्माईल बिलग्रामी इत्यादि उनकी कविता पसंद करते थे। मलिक जी और बंदगी निजामुद्दीन अमेठी में गुरु भाई होने के कारण परस्पर बड़ा प्रेम था। कुछ लोग कहते हैं कि वे अमेठी के वन में ईश्वर के भजन में मग्न थे कि उसी समय उधर से एक शेर निकला। और लोग उसकी ताक में थे ही। उसी के धोखे में मलिक जी तीर का निशाना हो गए। इस प्रकार मलिक जी की जान गई।

लेखक इस आधार पर उस वंशावली को, जो मलिक मुहम्मद जायसी के वंश की बताई जाती है और कंचाना के एक मलिक जी के पास है, संदेह की दृष्टि से देखता है कि ये लोग कंचाना के शेख हैं और कंचाना के शेख, जैसा कि पुराने कागजों से पता चलता है, अब्दुल रहमान वल्द हजरत अबूबकर खलीफा प्रथम के वंश में हैं और सिद्दीकी

हैं न कि फारुकी। कुछ लोग, जैसे मुहम्मद इस्माईल साहब फजानवी, अब अपने को फारुकी लिखते हैं, किंतु उनके पूर्वज सिद्दीकी थे और अपने को सिद्दीकी लिखते भी थे। वे संप्रदाय की दृष्टि से कुछ भी हों, परंतु कुल के विचार से सिद्दीकी हैं। अस्तु,संक्षेप में लेखक एक पुरानी दस्तावेज के आधार पर, जो १०२७ हिजरी (१६१८ ई०) में मलिक जी के वंश में लिखी गई थी, इस परिणाम पर पहुँचता है कि मलिक जी मुहल्ला गोरियाना के निगलामी मलिक खानदान से थे जिनकी वंशावली और वंशजों का इस समय पता नहीं। हाँ, उनके पुराने संबंधी पुराने खानदानी संबंध की बुनियाद पर कंचाना में बसे हैं। मलिक जी और मलिक शमसुद्दीन गोरियानवी निगलामी एक खानदान से थे जिनको अकबर की आज्ञा से सैयद पियारा हुसेनी के नाम पर ९६३ हिजरी (१५५६ ई०) में २०० बीघा जमीन माफी मिली थी। मलिक जी के पूर्वज की शादी, जैसा कि प्रसिद्ध है, मुहल्ला कंचाना में हुई थी। इसलिये मलिक जी को थोड़ी जायदाद और एक मकान कंचाना में भी मिल गया था। उनकी ननिहाल मानिकपुर में थी। उनके पिता मलिक राजे अशरफ मामूली जमींदार थे और किसानी करते थे। चंद बीघा जमीन मौरूसी माफी उनके अधिकार में थी जिससे उन्होंने और मलिक जी ने अपना जीवन निर्वाह किया। मलिक जी के समय में किसी प्रकार खुशहाली हुई। घर में लौंडी थी, सात बच्चे और स्वयं मियाँ बीबी थे। खेती करते थे। जीविका की चिंता के बाद इतना समय निकल आता था कि लिखने-पढ़ने में लग जाते थे। मलिक जी के पूर्वज अशरफी खानदान के चेले थे। शेख निगलामी के दादा और शेख सलोना अंसारी तथा काजी शेख अंसारी के बड़े दादा शीराज से आकर फीरोज शाह के समय में यहाँ बसे थे। अंसारियों का एक खानदान इब्राहिम शाह लोदी के समय में जायस से जा कोंभी में आबाद हो गया, जिनमें से अकबर के जमाने में काजी शेख अब्दुल वाहिद की लड़की बीबी मैथी की शादी सैयद कासिम, बिरादर सैयद सलोना के भाई के साथ हुई और मौजा कौरासोखा उर्फ कासिमपुर दहेज में मिला। मलिक जी की सगी छोटी बहिन सैयद सलोना

वल्द सैयद पियारा हुसेनी से ब्याही थी। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि जायस के सैयद फारुकी शेखों के यहाँ अपनी रिश्तेदारियाँ नहीं करते। उनका विवाह-संबंध सिर्फ सिद्दीकी शेखों से है। इसलिये उपर्युक्त वंशवृक्ष और भी गलत साबित होता है।

मलिक जी के वंशज—मलिक जी के बाद मलिक कबीर का जमाना बहुत अच्छा गुजरा। उनकी गणना जायस के खास मुफ्ती लोगों में थी। कुछ फतवों पर, जो उस जमाने के मिले हैं, कुछ लोगों की (जिनका वर्णन लेखक ने अपने दूसरे संग्रह 'बाबे इतफेतावा' में किया और उनके कलमी और मोहरी लेख जमा किए हैं)—सैयद उम्र वल्द सैयद कासिम वल्द सैयद पियारा हुसेनी रईस तथा कबीर मलिक मुहम्मद फरही की–मुहर और दस्तखत, अकबर तथा जहाँगीर के समय की, मौजूद है। बीबी तौलन तथा बीबी रकिया खानजहाँ वल्द मुहम्मद कंच की एक दस्तावेज बैनामा भी मिली है जो १०३६ हिजरी (१६२६ ई०) में लिखी गई थी। ऊपर कबीर के दस्तखत हैं। मलिक अहमद कबीर की मुहर और एक तहरीर ९९७ हि० (१५६६ ई०) की मिली हुई है, जिससे पता चला है कि ९९७ हि० में वे कलम और मुहर वाले थे। इसलिये उनका जन्म-काल ९५० या ९६० हि० में मालूम होता है और यह सिद्ध होता है कि मलिक मुहम्मद जायसी ने अकबर का समय देखा था। मलिक कबीर के वंश का बहुत दिनों तक बना रहना उनके वंशवृक्ष से सिद्ध होता है। इसलिये यह किंवदंती कि मलिक जी का वंश नष्ट हो गया बिलकुल झूठ है। यहाँ एक दूसरा सवाल पैदा हो सकता है कि संभव है कि यह मलिक मुहम्मद दूसरे हों और वह मलिक जी दूसरे हों। किंतु यह केवल कल्पना ही कल्पना है। क्योंकि फतवों पर खानदान अशरफी की मुहरों के साथ उनकी मुहर का होना खुद साबित करता है कि ये मलिक कबीर उन्हीं मलिक मुहम्मद जायसी के बेटे थे जो खानदान अशरफी के चेले थे। क्योंकि अकबर बादशाह के समय से लेकर औरंगजेब बादशाह के समय तक खानदान अशरफी तथा खानदान

सैयद पियारा हुसेनी को जायस में वह प्रतिष्ठा प्राप्त थी कि उनके सामने किसी का चिराग जायस में नहीं जल सका और जायस में सिवा एक मलिक मुहम्मद के दूसरे की चर्चा उस जमाने में और उसके बाद १५० वर्ष तक नहीं आती।

मलिक जी का संबंध जायस के अशरफी वंश से—मलिक जी शाह मुबारक बोदला के चेले थे जो अकबर के समय में मखदूम अशरफ जहाँगीर के वंश से थे। मलिक जी ने अपने ग्रंथों में उनकी विद्या-भक्ति और सद्गुणों की प्रशंसा की है। वे ऐसे आज्ञाकारी थे कि अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार उन्होंने कभी अकेले खाना नहीं खाया जिसके बारे में कोढ़ी के साथ खीर खाने की घटना प्रसिद्ध ही है।

मलिक जी ने 'पद्मावत' में लिखा है कि मखदूम सैयद अशरफ जहाँगीर (मृ० सन् १४०१ ई०) प्रसिद्ध मुरशिद थे। उन्होंने सच्चा रास्ता दिखलाया। मखदूम साहब चिश्ती धर्म को मानते थे। मलिक जी कहते हैं कि मैं उनके घर का खादिम हूँ। उनके लड़के हाजी शेख साहब सज्जादानशीन हैं। उनके दो लड़के हैं। पहले शेख मुहम्मद जो चौदहवीं रात की चाँद की तरह पूर्ण हैं दूसरे शेख कमाल जो उसी तरह परिपूर्ण हैं। दोनों कुतुब (ध्रुव) की तरह अपनी जगह से नहीं हटते।

मलिक जी के गुरु का नाम मुहीउद्दीन अब्दुल कादिर (साकिन कालपी), उनके गुरु का नाम शेख बुरहान, उनके गुरु अलदाद, उनके गुरु सैयद मुहम्मद, उनके गुरु दानियाल, उनके गुरु हजरत ख्वाजा खिजिर और उनके गुरु सैयद कत्ताल राजू थे। यह शजरा चिश्तिया पंथ का है।

शिष्य-परंपरा—मलिक जी ने 'पद्मावत' और 'अखरावट' दोनों में अपने गुरुओं के सिलसिले को साफ साफ लिखा है जो निजामुद्दीन औलिया तक पहुँचता है। 'आखिरी कलाम' में भी इसका उल्लेख है। मलिक जी का संबंध मुहीउद्दीन से जीवन के अर्ध-काल में हुआ।

मलिक जी के चार मित्र—मलिक जी की जीवनी की तरह उनके चार मित्रों का हाल भी संदिग्ध है। उन चारों के नाम तथा

गुण मलिक जी ने खुद पद्मावत में लिखे हैं। परंतु कठिनाई यह है कि जिस तरह मलिक जी ने अपने पिता का नाम कहीं नहीं लिखा उसी तरह अपने मित्रों के पिताओं का नाम भी कहीं नहीं लिखा। दूसरे, कई महापुरुष एक ही नाम के, एक ही समय में, विद्या और गुण की दृष्टि से लगभग एक ही श्रेणी के जायस में पाए जाते हैं। इसलिये उनका ठीक ठीक पता लगाना असंभव सा हो जाता है। पद्मावत का प्रसंग यह है—

चार मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सिर पहुँचाए॥
यूसुफ मलिक पँडित बहु ज्ञानी। पहिले भेद बात वै जानी॥
पुनि सलार खादिम मतिमाना। खाँडे दान उभय नित बाना॥
मियाँ सलोने सिँह बरियारू। बीर खेत रन खरग जुझारू॥
शेख बड़े बड़ सिद्ध बखाना। किय आदेश सिद्ध बड़ माना॥
चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े। और सँजोग गोसाईं गढ़े॥
बिरिछ होइ जौ चंदन पासा। चंदन होइ बेधि तेहि बासा॥
मुहमद चारिउ मीत मिलि, भए जो एकै चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा, ओहि जग बिछुरे कित्त॥

मलिक यूसुफ—हम पहले लिख चुके हैं कि मलिक एक पदवी थी। अकबर के राज्यकाल में जायस के भिन्न भिन्न खानदानों में भिन्न भिन्न मलिक पाए जाते हैं। सैयदाना में सैयद पियारा हुसेनी के बड़े लड़के मलिक थे। मुहल्ला ख्वाजगान में मलिक यूसुफ नामी एक बुजुर्ग इसी समय में मालूम होते हैं। परंतु इनका कोई संबंध मलिक जी से नहीं मालूम होता। मलिक युसुफ मलिक पट्टी मुहल्ला कंचाना कलाँ के मामूली जमींदार थे। उनके वंश में कोई नहीं है। ये विद्वान् और गुणवान् थे। सुना है कि यही सज्जन मलिक जी के मित्र और उनकी कविता के प्रेमी थे।

सालार खादिम—मुहल्ला कंचाना कसबा जायस में इस समय चार पट्टियाँ हैं—१–मलिक, २–मुला, ३–सालार, ४–कंच। ये पट्टियाँ अकबर के समय में कायम हुईं। सालार खादिम सालार पट्टी के रहनेवाले शाहजहाँ के समय तक जीवित रहे। ये पुत्रहीन थे। इनकी

लड़की के खानदान के कुछ लोग कंचाना कलाँ में बसे हैं। ये मामूली जमींदार थे, बुद्धिमान् और तलवार के धनी थे, दान खूब करते थे और मलिक जी के साथी होने के अतिरिक्त प्रेमी भी थे।

मियाँ सलोने—मलिक यूसुफ की तरह सलोना और सलोने नाम के भी तीन पूर्वज मलिक जी ही के समय में जायस में रहते थे। तीनों अपने अपने स्थान पर सज्जनता, वीरता और प्रभुता में अद्वितीय हैं। खानदानी कहावतों के अनुसार तीनों सज्जनों से मलिक जी के संबंध का पता चलता है। मलिक जी ने पद्मावत में मियाँ सलोने की बहादुरी का बखान किया है और उनको मियाँ सलोने कहकर याद भी किया है। प्रकट है कि मियाँ का शब्द इस स्थान पर मलिक के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है और यह भी विश्वास नहीं होता कि मलिक जी जैसे कुशल कवि ने पादपूर्ति के लिये कविता में इस शब्द को रख दिया हो। इसलिये यह मानना पड़ता है कि जैसे प्यार के लिये शिष्टजन अपने से छोटे किंतु सम्मानित व्यक्ति को मियाँ कहकर बुलाते हैं वही बात यहाँ भी घटित होती है। इसलिये जान पड़ता है कि आयु अथवा संबंध में छोटे होने के कारण मलिक जी मियाँ सलोने को मियाँ कहते थे और बहुत प्यार के साथ याद करते थे।

शाह मुहम्मद अशरफ अशरफी के यहाँ पुराने कागजों में कुतुबे आलम वो जुनीदे इबनाय सैयद रहिमन अब्दुल अशरफी ता० ६ रबीउल अव्वल १०१७ हिजरी (१६०८ ई०) में शेख सलोना की दस्तखत इस इबारत में पाई जाती है—'सलोना बरखुरदारे अंसारी गवाह शुद'। इसी खानदान की एक दूसरी दस्तावेज तारीख १४ रबीउस्सानी १०२६ हि० (१६२० ई०) में शेख सलोना की दस्तखत इस इबारत में मिलती है—'सलोना बरखुरदारे अंसारी गवाह शुद'। इन कागजों से शेख सलोना के समय का भी पता चलता है। उनकी औलाद मुहल्ला अंसारी में आबाद है। सुना है कि शेख सलोना का अखाड़ा कांजी हाउस के करीब गफूरगंज में था।

शेख सलोना अंसारी दूसरे—शेख अब्दुल कादिर अंसारी की किताबों में है कि शेख सलोना और मलिक मुहम्मद पीरभाई थे। ये संतानहीन और त्यागी थे। इनका मजार कसबा जायस के दक्खिन तरफ शेखाना अंसारी के इर्दगिर्द है।

मियाँ सलोने तीसरे—ये बहुत ही सुंदर थे। योग्यता और वीरता में अपने समय में एक ही थे। पूजा-पाठ में भी आपकी बहुत रुचि थी। आपका मजार मीरानपुर सैयदाना के आसपास कसबा जायस के पूर्व में सैयद पियारा हुसेनी रईस के मकबरे में अभी कुछ साल तक दुरुस्त था। परंतु अब काल के प्रभाव से बरबाद हो गया। आप कसबा जायस के सैयदाना मुहल्ला के रहनेवाले थे। आपका मकान हुसेनए सदर सैयदाना के उत्तर लगभग दो सौ डग के फासले पर जहाँगीर और अकबर के समय में था। रईस घर में पैदा हुए थे। मलिक मुहम्मद जायसी की छोटी बहन से आपकी शादी हुई थी। कोई लड़का न था। लड़कियों के वंश में कुछ लोग सैयदाना खुर्द में आबाद हैं। १००१ हिजरी (१५९२ ई०) तक के पुराने कागजों पर आपके हस्ताक्षर पाए जाते हैं—"सैयद सलोने पियारा हुसेन।" खानदानी नकवी सैयद थे और धर्म से शिया थे। इनके समय में शिया-सुन्नी का कोई सवाल न था। सैयद और शेख सिद्दीकी में शादी-ब्याह होता था।

सैयद सलोना का खानदान अकबर के समय में प्रभाव, शक्ति और प्रभुता के कारण एक प्रसिद्ध खानदान था। आपके पिता सैयद पियारे हुसेनी को अकबर के दरबार से ९६३ हिजरी (१५५६ ई०) में विशेष अधिकार मिला जिसके द्वारा कसबा जायस के सैयदों और शेखों को माफी मिली।

सैयद सलोना पिता के सामने ही मर गए थे। सैयद पियारा के हस्ताक्षर १००५ हिजरी (१५९६ ई०) तक मिलते हैं। सैयद सलोना पाँच भाई थे। ये सबसे छोटे थे। सैयद पियारा हुसेन ने सिर्फ सैयद सलोना की ही शादी मलिक जी के कुल में नहीं की, बल्कि

सैयद कासिम की शादी भी काजी शेख अब्दुल वाहिद साकिन कोभी की लड़की बीबी मैथी के साथ की। काजी शेख अब्दुल वाहिद जायस के उस अंसारी खानदान में से थे जो इब्राहिम शाह लोदी के जमाने में कोभी चला गया था। इस शादी के सिलसिले में पूरा कौरासोखा, जो अब कासिमपुर के नाम से मशहूर है, दहेज में मिला। सैयद कासिम का मकान मुहल्ला सैयदाना में महमूद शहीद से मिला हुआ उत्तर की ओर है। उनकी संतान मुहल्ला सैयदाना में अधिकतर आबाद है। सैयद कासिम के दो लड़के थे। एक सैयद शहाबुद्दीन दिल्ली सरकार के वकील थे और दूसरे सैयद उमर जिनकी मुहर और दस्तखत जहाँगीर के समय के फतवों पर अहमद कबीर के साथ साथ पाई जाती हैं।

शेख बड़े—मलिक जी के जिस प्रकार दूसरे तीन मित्रों का हाल ठीक ठीक नहीं मालूम होता उसी प्रकार शेख बड़े का भी कोई ठीक पता नहीं चलता। मलिक जी ने उनको 'शेख बड़े' लिखा है। परंतु उस समय बहुत से सैयद खानदान शेख कहलाते थे। स्वयं अशरफी खानदान के बुजुर्ग शेख कहे जाते थे, यद्यपि वे सैयद थे। इसलिये बड़े के साथ शेख शब्द का होना इस बात की दलील नहीं कि बड़े जाति के शेख थे। मलिक जी के समय में जायस के पाँच सज्जन बड़े, बूढ़े आदि नामों से प्रसिद्ध थे। १—१००० हि० (१५९१ ई०) की एक पुरानी दस्तावेज पर ये हस्ताक्षर पाए गए हैं—"शुकरउल्ला बिन मुहम्मद बालिग़ उर्फ़ बड़े।" इनके वंश, पूर्वज आदि का पता नहीं। २—अब्दुल फतह काजी सैयद बड़े वल्द अब्बू तालिब वल्द सफतुल्ला, जो काजी वश हातिम सैयद अनवी से थे। काजी बड़े औलाद सैयद अहमद तंबानवी से थे। ३—शेख बड़े काजियाना के रईसों में से थे। उनके वंश में अब कोई नहीं है। उनको काजी शेख हातिम और काजी बाजीर के नाम से भी याद किया जाता है। ४—शेख बड़ा—दस्तावेज न्यामत अशरफ १२४२ हि० (१८२६ ई०) पर निम्नलिखित हस्ताक्षर पाए गए हैं—"न्यामत अशरफ़ बिन बरकतुल्ला

बिन फ़ैज़ुल्ला वल्द शेख़ बड़ा।" ५—काज़ी शेख बड़े अंसारी जो शेख सलोना अंसारी के चचेरे चचा थे।

मलिक जी का स्वभाव—धर्म और विश्वास में मलिक मुहम्मद सूफ़ी थे। हर प्रकार के लोगों से प्रसन्नतापूर्वक मिलते थे। 'पहुँचे हुए' फ़क़ीर और प्रभावशाली व्यक्ति थे। यदि ये चाहते तो कबीर की भाँति नए धर्म का प्रचार करते, पर यह इनके स्वभाव के विरुद्ध था। इनका रास्ता कबीर से भिन्न था। परंतु अखरावट में इन्होंने कबीर का हाल बड़े अच्छे शब्दों में लिखा है। दान देना पसंद करते थे। नम्रता इनके स्वभाव में थी। बुराई के बदले भलाई करना, जवाँमर्दी इत्यादि पर बहुत से दोहे और चौपाइयाँ पद्मावत में मौजूद हैं। दान को इबादत (पूजा-पाठ) से बढ़कर समझते थे। गरीब खानदान में पैदा हुए थे और बचपन ही में अनाथ हो गए थे। इन्होंने एक दार्शनिक की भाँति जीवन के विविध अंगों पर अपनी कविता में विचार किया है। इस विषय पर पं० रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका देखने योग्य है।

मलिक जी की रचनाएँ—मलिक जी के नाम से जो रचनाएँ बताई जाती हैं उनकी तालिका यह है—

१—पदमावत, २—अखरावट, ३—सखरावत, ४—चंपावत, ५—इतरावत, ६—मटकावत, ७—चित्रावत, ८—खुर्वानामा, ९—मोराईनामा, १०—मुकहरानामा, ११—मुखरानामा, १२—पोस्तीनामा, १३—मुहरानामा, (होली नामा) १४—आखिरी कलाम।

आखिरी कलाम[१] पदमावत और अखरावट दोनों से पहिले का है। पदमावत मलिक जी का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। इन तीनों ग्रंथों का

१—इसका असली नाम 'आखिरत नामा' है। संभव है कि 'आखिरत नामा' का बिगड़ा हुआ नाम 'आखिरी कलाम' हो या यह कलाम अंत में मिला हो। इसको मलिक जी ने पद्मावत और अखरावट से पहले लिखा है। यह सुलतानपुर से हकीम अहमदुद्दीन के प्रबंध से छपा है और मिल भी सकता है।

संपादन पंडित रामचंद्र शुक्ल ने 'जायसी ग्रंथावली' के नाम से किया है और काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने उसे प्रकाशित किया है।

पोस्तीनामा की रचना पद्मावत और अखरावट से पहले अर्थात् उस काल की है जब मलिक जी के स्वभाव में गंभीरता की जगह शोखी अधिक थी। इसमें उन्होंने अफीमचियों का खाका खींचा था। जब मलिक जी ने यह कविता अपने पीर को सुनाई तो उन्हें यह अच्छी न लगी, क्योंकि वे खुद भी अफीम पीने के आदी थे। प्रसिद्ध है कि मलिक जी के उस समय सात संतानें थीं। उन सब का अंत पीर के इसी शाप से हुआ। कहते हैं, अचानक छत गिर गई और सातों एक ही साथ दबकर मर गये। बाद में पीर ने इन्हें क्षमा कर यह भविष्यवाणी की कि तुम्हारा नाम बच्चों की जगह तुम्हारी चौदह रचनाओं से चलेगा। शाह मुबारक बोदला की यह बात सच निकली।

मलिक जी का अमेठी आना—मलिक जी के मँगरा के वन में जाने के संबंध में यह कहानी मशहूर है कि बंदगी निजामुद्दीन और मुहम्मद जायसी अपने पीर शाह मुबारक बोदला की सेवा में हाजिर हुए। पीर का हुक्म हुआ कि 'तुम दोनों अमेठी जाकर उपदेश देना शुरू करो।' दरगाह के पश्चिमी दरवाजे से निकलकर मियाँ निजामुद्दीन सीधे अमेठी जिला लखनऊ चले गए। पूर्वी दरवाजे से मलिक जी निकलकर अमेठी, जिला सुलतानपुर चले आए। यह भी सुना है कि किसी फकीर से अमेठी के राजा साहब ने मलिक जी की कविता सुनकर उनको बुलाया। मलिक जी गए। राजा के संतान न थी, मलिक जी ने दुआ की। ईश्वर ने संतान दी। राजा मलिक जी के शिष्य हो गए और मलिक जी को वहीं रोक लिया। हम पहले भी लिख चुके हैं कि अमेठी में राजा रामसिंह राज करते थे। मलिक जी जन्माष्टमी के दिन वहाँ पहुँचे। दरबारियों ने दरबार में जाने से रोका। आपने कहा कि राजा से जाकर कहो कि पूजा-पाठ का समय बीता जा रहा है। राजा ने दरबारी पंडितों से पूछा। मलिक जी का कहना सच निकला। उधर मलिक जी उठकर जंगल में चले

गए। राजा वहाँ आए और उनके पैरों पर गिर पड़े। मलिक जी ने उन्हें क्षमा कर दिया और उनके लिये अखरावट नाम की एक किताब लिखी। जनश्रुति है कि वे जंगल में ईश्वर के ध्यान में मग्न थे कि उधर से एक शेर निकला। लोग उसी की खोज में थे। फलतः मलिक जी उस शेर के धोखे में तीर का शिकार हो गए और उसी जंगल में शहीद हुए।

मलिक जी की मृत्यु—काजी सैयद आदिल हुसेन ने अपनी नोटबुक में मलिक जी की मृत्यु की तारीख ५ रज्जब ९४९ हिजरी (१५४२ ई०) लिखी है जो ठीक नहीं है। मालूम होता है यह कलम की गलती है। ५ रज्जब ९९९ हि० के स्थान में ५ रज्जब ९४९ लिख गया है। 'खज़ीनतुलसैफ़ा' के लेखक मुंशी गुलाम शरूर लाहौरी ने (४७३ वें पृष्ठ पर) मलिक जी के बारे में फारसी में कुछ लिखा है। उसमें उनका मृत्युकाल १०४९ हि० (१६३९ ई०) लिखा है। कहीं कहीं मलिक जी का मृत्युकाल १०६९ हि० (१५५९ ई०) भी लिखा है जो शाहजहाँ का जमाना होता है। मलिक जी ९०० हि० (१४९४ ई०) में पैदा हुए थे। जब इन्होंने शेरशाह के काल में पद्मावत लिखी उस समय बहुत वृद्ध हो चुके थे। इसलिये यह बात किसी प्रकार मानने योग्य नहीं कि शाहजहाँ के समय तक, १७० वर्ष की आयु में जंगल का जीवन व्यतीत करते हुए ये मरे हों। इसलिये हमारी दृष्टि में मलिक जी की मृत्यु का समय ५ रज्जब ९९९ हि० (१५९१ ई०) है। 'मेराजुलवोलायत' में इनकी मृत्यु का समय अकबर का अंतिम राजकाल लिखा मिलता है।

कब्र—मलिक जी की कब्र मँगरा के बन में, रामनगर (रियासत अमेठी, जिला सुलतानपुर, अवध) के उत्तर की ओर एक फर्लांग पर है। इसकी पक्की चहारदीवारी अभी मौजूद है। इस पर अब तक चिराग जलाए जाते हैं। राजा ने एक कुरान पढ़नेवाला भी नियुक्त किया था, जिसका सिलसिला १३१३ हि० (१८९५ ई०) में बंद हो गया।

कदर पिया

[लेखक—श्री गोरालचंद्र सिंह, एम्० ए०, एल्० एल्० बी०, विशारद]

हिंदी-संसार अपने मुसलमान कवियों का सदा ऋणी रहेगा। उन अनेक मुसलमान कवियों में, जिन्होंने अपनी सरस रचनाओं से हिंदी का उपकार किया है, लखनऊ के सुविख्यात मिर्जा बाला कदर साहब का भी नाम उल्लेखनीय है। आपका निजी नाम वज़ीर मिर्जा था, पर अपनी समस्त उपाधियों सहित आप मिर्ज़ा बाला क़दर जंग नवाब वज़ीर मिर्ज़ा बहादुर के नाम से विख्यात थे। कविता आप 'कदर पिया' अथवा केवल 'कदर' के नाम से करते थे।

कवि के पिता मिर्जा कैवाँ जाह बहादुर अवध के द्वितीय सम्राट् अथवा चतुर्थ शासक बादशाह नासिरुद्दीन हैदर के घोषित किंतु कृत्रिम पुत्र थे तथा आपकी पितामही नवाब मलिका जमानिया उक्त सम्राट् की सबसे प्रियतमा महिषी थीं। कहा जाता है कि मिर्जा कैवाँ जाह साहब का जन्म उनकी माता के बादशाही हरम में दाखिल होने के पूर्व ही किसी फीलवान, कुली अथवा अन्य ही किसी व्यक्ति से हुआ था। मलिका जमानिया का, जिनका कि नाम पहिले बी हुसैनी तथा उसके पूर्व दुलारी था, पूर्व चरित इतिहास-प्रेमियों के लिये एक मनोरंजक विषय है। पर इस स्थान पर उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं। बादशाह नासिरुद्दीन हैदर बी हुसैनी से इतने अधिक प्रसन्न थे कि उन्होंने उसे 'मलिका ज़मानिया' का पद प्रदान किया तथा उसके साथ आए हुए उसके पुत्र जैनब को, जिसका कि नाम शायद मोहम्मद अली भी था, ३० लाख रुपए की जागीर तथा आसिफुद्दौला की माता बहू बेगम का वह सारा धन, जो कि फैजाबाद से अपहृत होकर लखनऊ गया था, देकर 'कैवाँ जाह' की उपाधि प्रदान की तथा उसे अपना औरस पुत्र और उत्तराधिकारी भी घोषित किया। पर कैवाँ जाह की वास्तविक

उत्पत्ति इतनी अधिक लोक-प्रसिद्ध थी कि नासिरुद्दीन हैदर की पूर्ण इच्छा होते हुए भी उनकी मृत्यु के पश्चात् कैवाँ जाह को न ईस्ट इंडिया कंपनी की सहायता मिल सकी और न वे गद्दी पा सके। उन दिनों अवध के सम्राट् का पद लगभग सोलहों आने ईस्ट इंडिया कंपनी ही के हाथ में था, इसलिये मिर्जा कैवाँ जाह साहब ने यहाँ से लेकर विलायत तक बड़ी लिखा-पढ़ी की। पर सब निष्फल रहा और नासिरुद्दीन हैदर के पश्चात् अवध के सिंहासन पर मोहम्मद अली शाह के नाम से नसीरुद्दौला आसीन हुए। इस प्रकार यदि दैव उनके पिता के प्रतिकूल न हो गया होता तो अवध के इतिहास में निश्चय ही एक ऐसा समय आया होता जब कि कवि मिर्जा बाला कदर साहब ने भी बादशाह नासिरुद्दीन हैदर के पौत्र के नाते उसके राजसिंहासन को सुशोभित किया होता।

कवि की पितामही नवाब मलिका जमानिया साहिबा लखनऊ में मोतीमहल में रहा करती थीं और वहीं ८ अक्तूबर सन् १८३६ को कवि ने जन्म ग्रहण किया। उस समय नासिरुद्दीन हैदर जीवित थे और मलिका जमानिया तथा कैवाँ जाह साहब का भाग्य-सूर्य मध्याह्न में था। कहा जाता है कि उस समय बादशाह ने जैसा कुछ उत्सव मनाया वह अकथनीय है।

कवि का प्रारंभिक जीवन अत्यंत दुःखपूर्ण रहा। जब आप दो ही मास के थे तभी आपकी माता का देहांत हो गया और आपके जन्म से ९ मास पूर्ण होते होते बादशाह नासिरुद्दीन हैदर का भी देहावसान हो गया। बादशाह की मृत्यु से आपको अकथनीय क्षति पहुँची, क्योंकि उनके सामने आपका जैसा कुछ लालन-पालन तथा सम्मान था वह उनके बाद असंभव था। बादशाह की मृत्यु के पश्चात् ही आपके पिता राजसिंहासन के झगड़े में पड़ गए और उनके लिये उन्हें विलायत तक लड़ना पड़ा, फिर भी निष्फल रहे और धन भी बहुत खर्च हो गया। इस निष्फलता का उनके दिल पर ऐसा धक्का लगा कि बादशाह की मृत्यु के दस मास बाद ही १६ मई सन् १८३८ ई० को, जब कि कवि कदर केवल डेढ़ ही वर्ष के थे, वे भी इस संसार से कूच

कर गए। हमारे कवि के पिता की कोठी मौजा भदेवाँ में, जो कि अब लखनऊ शहर का एक मोहल्ला है, थी; पर आपका जन्म अपनी पितामही के घर मोतीमहल में हुआ और जन्म के थोड़े ही दिनों बाद आपके माता-पिता दोनों जाते रहे, इसलिये जब तक आप की पितामही जीवित रहीं तब तक आप उन्हीं के पास मोतीमहल में रहकर लालन-पालन पाते रहे। पर जब आप ८ वर्ष के थे तभी वह पितामही भी इस संसार से चल बसीं। पितामही की मृत्यु के पश्चात् आपको मोतीमहल छोड़ देना पड़ा और तब से आप अपनी फूफी नवाब सुलतान आलिया बेगम के पास, जो कि बादशाह मोहम्मद अलीशाह के पौत्र नवाब मुम्ताजुद्दौला की स्त्री थीं, रहने लगे। आपकी बहुत कुछ शिक्षा-दीक्षा वहीं हुई, क्योंकि अवध के अपहरण तक अर्थात् जब तक कि आप नाबालिग रहे तब तक आप वहीं रहते रहे। तत्पश्चात् आप अपने पिता की भदेवें वाली कोठी में चले गए। भदेवें वाली कोठी में आप लगभग सन् १८७४ तक रहे और उसके पश्चात् चौलक्खी भवन में चले गए और मृत्यु-पर्यंत वहीं रहे। चौलक्खी भवन बिलकुल उसी स्थान पर था जहाँ कि अब जस्टिस विश्वेश्वरनाथ श्रीवास्तव साहेब की नई कोठी, निशात टाकी हाउस तथा पुराने म्युनिसिपल आफिस की इमारत विद्यमान हैं। कहते हैं कि चौलक्खी भवन को अजीमुल्ला नामक एक नाई ने बनवाया था और फिर कुछ काल बाद वाजिद अलीशाह साहेब ने चार लाख रुपये में मोल ले लिया था। इसी से उसका नाम चौलक्खी पड़ा।

हमारे कवि ने लगभग ६६ वर्ष तक जीवित रहकर २९ जनवरी सन् १९०२ को स्वर्गारोहण किया और वे भदेवें में अपने पिता की कोठी में दफन किए गए। आपकी कब्र वहाँ विद्यमान है। आप वेष-भूषा, रहन-सहन में हर प्रकार से नवाब और राजवंशीय थे और उसी के अनुसार आपने अनेक मुताही विवाहों के अतिरिक्त ७ महल किए और १२ पुत्र तथा १३ कन्याएँ छोड़ीं। इनमें से कुछ पुत्र अब भी जीवित हैं और लखनऊ में नितांत गरीबी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। गवर्नमेंट से जो थोड़ा बहुत मिलता है उसी पर उनकी गुजर-बसर है।

जो कुछ भी उनकी कृतियाँ मुझे उपलब्ध हो सकी हैं उन्हें देखते नवाब बाला कदर साहेब काफी अच्छे कवि ज्ञात होते हैं। हिंदी-कवि होने के अतिरिक्त आप फारसी के अच्छे विद्वान्, एक उच्च श्रेणी के चित्रकार तथा संगीत-शास्त्र के मर्मज्ञ और विशारद भी थे। आपका बनाया कोई चित्र अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। संगीत के विषय में तो आपकी जितनी ख्याति है उतनी बहुत कम संगीतज्ञों की हुई होगी, क्योंकि आपकी प्रतिभा काव्य-क्षेत्र की अपेक्षा संगीत ही के प्रांगण में विशेष चमकी। कदर पिया की ठुमरियाँ तो अब भी संगीतज्ञों में प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि आपके संगीत-शिक्षक उस समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ मिर्जा सादिक अली खाँ साहब थे। संगीतज्ञ अब भी उनको आचार्य मानते हैं।

यद्यपि आप फारसी और उर्दू के अच्छे विद्वान् थे, तथापि उर्दू में कविता कभी नहीं करते थे। कहते हैं कि एक बार किसी ने आपसे पूछा कि आप अपनी शायरी उर्दू में क्यों नहीं करते, तो आपने उत्तर दिया कि *नासिख और आतिश के सामने उर्दू शायरी न करूँगा*, सिर्फ 'भाका' ही में लिखूँगा।

आपने जितनी कुछ काव्य-रचना की है वह हिंदी में, जिसे आप 'भाका' कहते थे, की है। यह 'भाका' लखनऊ तथा उसके आसपास के देहातों के हिंदुओं के घरों में बोली जानेवाली साधारण भाषा थी। जितने भी शब्दों का आपने अपनी कविता में प्रयोग किया है वे ठेठ हिंदी शब्द हैं और यदि कहीं किसी फारसी शब्द का प्रयोग करना पड़ा है तो उसे बिना हिंदी के साँचे में ढाले आपने कभी नहीं अपनाया। उदाहरणार्थ, आपका यह पद लीजिए—

तारीख कहिन कदर, सम्मत में भरपूर।
मिर्जा कैवाँ जाह बहादुर, भए मगफूर॥

इस पद में कवि ने अपने पिता की मृत्यु का वर्ष वर्णित किया है। जैसे संस्कृत और हिंदी में संख्या द्योतित करने के लिये कुछ निर्धारित शब्दों और अक्षरों का प्रयोग होता है वैसे ही फारसी और

उर्दू में संख्या द्योतित करने के लिये भिन्न भिन्न अक्षरों के भिन्न भिन्न अंक निश्चित हैं। 'मिर्जा कैवाँ जाह महादुर भए मगफ़ूर' इस पंक्ति के समस्त अक्षरों के अंकों को जोड़ने से १८६५ निकलता है। यही उनके पिता की मृत्यु का संवत् है। आप देखेंगे कि इस पद में तारीख, मिर्जा, मगफ़ूर आदि फारसी शब्द अपने ठेठ हिंदी रूप में आए हैं तथा हिजरी सन् के बजाय विक्रम संवत् का प्रयोग हुआ है।

अवध के अंतिम सम्राट् वाजिदअली शाह ने यहाँ का शासन १३ फरवरी सन् १८४७ से १३ फरवरी सन् १८५६ तक किया। इस प्रकार कवि की किशोरावस्था तथा प्रारंभिक यौवनकाल उन्हीं के शासनकाल में व्यतीत हुआ। वाजिदअली शाह स्वयं एक कलाप्रेमी, हिंदी और उर्दू के कवि तथा बड़े ही गुणग्राहक शासक थे। उनसे कवि को काफी प्रोत्साहन मिला तथा इनपर उनकी पूरी छाप पड़ी।

कदर की अभी तक हमें कोई पुस्तक नहीं उपलब्ध हुई है; केवल कुछ फुटकर कविताएँ ही मिली हैं। उनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं।

शृंगारोक्तियाँ

(१) दिल के जलने पर अंदर से जो धुआँ निकलता है वह गरम नहीं ठंढा होता है। कदर पिया कहते हैं—

चाहत हैगी बुरी बला, करत है सब का नास।
है अचंभा जिया जलै, औ निकसै ठंढी साँस॥

(२) किसी अनोखे निशानेबाज से कवि कहते हैं—
ऐसो तुमने कदर पिया किससे सीखा तीर लगाना।
बिन जेह की कमान प्यारे और टेढ़े टेढ़े तीर तुम्हारे।
मन परदे में औ हालै तापर चूकत नाहिं निसाना।

(३) चंद्रमा और उसके कलंक के विषय में हमारे कवि की अनूठी उक्ति है—

जब से देखी सुंदर नारि, तब से चाँद नहीं इतरावत।
बढ़के भया जु नाहीं उससे, सोच में वाके घटता जावत॥

छुपके निकसत रातन का, कदर वो नाही दिनमा आवत।
मर मर ले हरमास जनम, पै सुख की झाईं नाहीं जावत॥

(४) शाही काल में अवध में भिन्न भिन्न प्रकार की लड़ाइयों का ज़ोर था। परंतु रसिक कदर पिया का विनोद नयन और दिल की लड़ाई से ही संभव था—

नयन—नयनों ने यह दिल से कहा, कि तुम तो बड़े हुशियार।
तुम तो बहले याद में उनकी, हमी रहे बेकार॥
दिल—बहला वह जो खुश रहै, यों याद देत है दुःख।
रयन दिनन हम तड़पत हैं, चयन कहाँ और सुख॥
नयन—तुमरे कारन बिपत पड़ी, जो फूट फूट के रोए।
अपने बिना काज के बैठे, अँसुअन हार पिरोए॥
दिल—भुँइ तपै तो भाप उठै, तब बन के बरसै मेंह।
तुमरे कारन हम जले, औ रोगी भया है देह॥
नयन—आप जले औ आपहि तड़पे, हमको भी रुलवाया।
किया धरा सब करम तुम्हारा, उलटे हम पर छाया॥
दिल—रो धो के तुम साफ भए, और हमको जग से खोया।
तुम्हीं बताओ नयना पहिले, किसने यह बिस बोया॥
नयन—सबही कुछ हम देखत हैं, काहे धरत हो नाम।
चाहत तुमहिन से है, कौन सा उसमें हमरा काम॥
दिल—आड़ में हम तो बैठे किसने, बुरा भला बतलाया।
तुमने पहिले छाँट लिया, तब तो हमने चाहा॥
नयन—हम हैं इसी लिये, ऊँच नीच दिखलाने को।
बोलो ज़रा धरम से पहिले, किसने कहा चाहने को॥
दिल—तुमरे कारन बिपत पड़ी, जो भए पराये बस।
लड़ भिड़ के तुम अलग रहे, और हमी गए हैं फँस॥
नयन—राज तुम्हारा नगर तुम्हारा, तुमही हो सरदार।
हम दोनों पहरे पर ठाढ़े, खैंचे हैं तलवार॥

दिल—जब चाहो फँसवाओ हमको, जब चाहो बचवाओ।
तुमरे कारन छुप के बैठे, उस पर खाया घाओ॥
नयन—यों भी तुमने पीत की औ सपने में जो चाहा।
हम दोनों तो बंद थे, किसने वहाँ फँसाया॥
दिल—अपनी अपनी बीती कहो, औ सारी कथा सुनाओ।
कदर पिया के तीर चलो कि उनसे होगा न्याओ॥

(५) आओ पिया तुम नयनन माँ, पलक ढाँप तोहे लूँ।
ना मैं देखूँ और को, ना तोहे देखन दूँ॥

(६) अपनी सी की बहुत का जाने का मर्जी।
कदर पिया परदेस गयो रहो ये पापी जी॥
करना फूला ए सखी, तो का करना बिन पी।
पी मोरा कर ना गहो, तो का करना यह जी॥

(७) नवाब वाजिदअली शाह का यह दोहा प्रसिद्ध है—"जो मैं ऐसा·········।" इस पर कदर साहेब ने निम्नलिखित पंक्तियाँ जोड़ी हैं—

कुछ भी अब तो बन नहीं आवत बिना मोहे जी खोए।
कदर पिया ने हमरे लिये तो कैसे ये विस बोए॥
बरसों से वो आए नाहीं, रही अकेली सोय।
तड़पत रोवत बैठ रही मैं, अँसुअन से मुख धोय॥
जो मैं ऐसा जानती कि पीत किए दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती कि पीत न करियो कोय॥

ईशस्तुति

कदर पिया केवल शृंगारी ही कवि न थे। ईशस्तुति की ये पंक्तियाँ देखिए—

(८) मोती मूँगा मँहगा कीनो सस्ता कीनो नाज।
अनदाना यह तूने किया जो सबके आया काज॥
बाल बीका ना कर सकै जो बैरी होय जहान।
बच के सब से यों रहै कि दाँतों बीच जबान॥

कुदरत उसकी हिकमत उसकी उसी के सारे गुन।
पल में जग संसार बनायो बस कहते इक कुन ॥
एक आँख से इक दिखलाया दोनों से भी एक।
हर इक को समझाया अलग कि तुम जानो हरि एक ॥
परबत आवे जंगल आवे, नयनों बीच समाय।
तिल धरने की जगह में अपनी कुदरत यों दिखलाय ॥

चेतावनियाँ

कदर ने चेतावनियाँ भी लिखी हैं—

(९) अनजानो जानो गफलत में दिन जो बीतत जावत है।
ये नींद जो आवत है मौत की याद दिलावत है ॥

(१०) धन पर जो बल करते हैं मूरख हैं इतराते हैं।
देखे दिन बड़े कभी के और कभी की रातें हैं ॥
छोड़ कुटुंब औ अपना देस भेष बदल के यों परदेस।
तंग गली अँधियारा कोना सभी अकेले जाते हैं ॥
यहाँ था दारा यहाँ सिकंदर सोते हैं सब भवन के अंदर।
ढेर पड़ा है माटी का यह कहके लोग सुनाते हैं ॥
कहाँ रहा वह चाँदी सोना याही माटी सब का बिछौना।
राजा परजा सब हैं बराबर कहने की सब बातें हैं ॥
रहा है कितना बाकी सिन, का जाने हैं कितने दिन।
कदर जो उन पर बीत चुकी वह दिन अब हम पर आते हैं ॥

व्यंग-विनोद

(११) आपके समय में एक सिड़िन थी जिसकी पहुँच शाही महलों तक थी। वह लोगों के मनोरंजन का विषय थी। आपने उस पर 'गीत सिड़न' के नाम से कई अनूठी युक्तियाँ लिखी हैं। उनमें से एक यहाँ प्रस्तुत है—

खाके हुई मोटी तोहफा, तोहफा मुर्ग पोलाव
गाल दोनों बिस्कुट, औ चेहरा जैसे नानपाव।

अपनी अपनी रोटियाँ, सब छिपाओ बोटियाँ
लखनऊ में छूट गया, अवध का यारो बनविलाव ॥

मसल पर दोहा

(१२) जग में रूख बड़ा घनेरा, जेह का कहत हैं बात।
फूल झड़ैं औ काँटे गिरैं, कबहूँ सूखे पात ॥

मुकरी

(१३) कान से लागै बात न करै, पड़ा रहै वह चैन करै।
छेद के मुझको दुख में डाला, क्यों सखि साजन नहिं सखि बाला ॥

पहेलियाँ

(१४) छबीली चंचल चातुर नार, घर में उसके उसकि बहार।
उल्फत उसकी जिसको होए, अपने हक में काँटे बोए ॥
इश्क का जिसने दम मारा समझो उसने झख मारा।
(मछली)

(१५) सख्त बहुत औ खूब चमक, सूरत उसकी जैसे निमक।
चातुर हो तो जान जाय, मूरख हो तो उसको खाय ॥
(हीरा)

(१६) एक नार है दुबली पतली, यार हैं उसके काने।
आग भरी आवाज बड़ी, चातुर हो पहिचाने ॥
(बंदूक)

(१७) एक नार है सच्ची मातबर, करती है वह ऐसा काम।
काला मुँह करवाती अपना औरका रोशन करती नाम ॥
(मोहर)

चयन

ओरिएंटल कान्फरेंस के हिंदी विभाग के अध्यक्ष का भाषण

आल इंडिया ओरिएंटल कान्फरेंस (अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन) के दसवें (तिरुपति-) अधिवेशन में २२ मार्च १९४० ई० को हिंदी विभाग के अध्यक्ष के पद से डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, डी० लिट्० ने निम्नलिखित भाषण दिया—

सज्जनो,

खेद की बात है कि डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, जो इस विभाग के सभापति चुने गए थे, अस्वस्थ होने के कारण नहीं आ सके। उनसे इस पद की शोभा होती। जिस सफलता के साथ वे इस विभाग का कार्य संचालन करते उसे पाने की मैं आशा भी नहीं कर सकता। यह भली भाँति जानते हुए भी आप लोगों ने मुझे उनके स्थान पर चुना है इसके लिये मैं हृदय से आपका आभारी हूँ।

आपने मेरा जो मान किया है उसे यह तथ्य कि कान्फरेंस एक ऐसे स्थान पर हो रही है जो हिंदी-भाषी प्रांत से इतने दूर होने पर भी हिंदी में सुंदर और सरस पदों के रचयिता राजा श्रीराम वर्मा (गर्भ श्रीमान्)[१] के जन्म-स्थान 'तिरुवनंत पुरम्' के इतने निकट है, मेरी दृष्टि में अधिक महत्त्व दे देता है और आपके प्रति मेरी कृतज्ञता को बढ़ा देता है।

१—वेंकटेश्वर—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १६, पृ० ३१६ से ३५४। श्रीयुत वेंकटेश्वर ने अपने उपर्युक्त लेख में राजा श्रीराम वर्मा के ३३ हिंदी-पद दिए हैं जो उन्होंने अपने प्रांत के गायकों तथा मलयालम की एक संगीत-पुस्तक से लिए हैं। श्री वेंकटेश्वर ने ही उनको पहले-पहल नागरी अक्षरों में प्रकाशित किया है। उन्हीं के अनुसार श्रीराम वर्मा को अन्य भाषाओं के साथ साथ बचपन में हिंदी भी सिखाई गई थी। वे परम वैष्णव और संगीत-प्रेमी परिवार में उत्पन्न हुए थे, तथा स्वयं बड़े भक्त और संगीतज्ञ थे। और इसमें संदेह नहीं कि वैष्णव भक्ति और संगीत का हिंदी के प्रचार में काफी हाथ रहा है।

यद्यपि गर्भ श्रीमान, जिनका जन्म १८१५ ई० में हुआ था, आधुनिक युग के आरंभ के कवि हैं, फिर भी उनका केरल प्रांत का होते हुए भी हिंदी-कवि होना इस बात को स्पष्ट सूचित करता है कि भारत के सभी प्रांतों के कुछ कुछ लोगों के लिये हिंदी में आकर्षण था।

आजकल तो हम हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के संबंध में केवल जबानी जमा-खर्च कर रहे हैं। किंतु प्राचीन काल में वह सचमुच किसी सीमा तक अंतर्प्रांतीय विचार-विनिमय की भाषा हो गई थी। श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन[१] के अनुसार, पूर्व मुगलों के शासन-काल तक "हिंदी पहले ही समस्त भारत की सामान्य भाषा (लिंगुआ फ्रैंका) हो चली थी।" के० एम्० झावेरी[२] के शब्दों में मध्ययुगीन गुजरात में हिंदी "सु-संस्कृतों और विद्वानों की मान्य भाषा थी।" उन दिनों वहाँ के कवियों में हिंदी में कविता लिखने की प्रथा सी चल पड़ी थी। यहाँ तक कि १६वीं शताब्दी के कवि परमानंद ने भी, जिन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से गुजराती में उत्तम श्रेणी के साहित्य-निर्माण का प्रयत्न किया, अपना साहित्यिक जीवन हिंदी-पद्य-रचना से ही आरंभ किया था और अपने पुत्र वल्लभ को भी गुजराती में लिखते समय हिंदी की आत्मा का अनुगमन करने का आदेश दिया था[३]। महाराष्ट्र में चक्रधर (जिनका आविर्भाव-काल १३ वीं शती बतलाया जाता है), ज्ञानदेव और नामदेव, जो १४ वीं शती में हुए थे, तथा इनके बाद एकनाथ और तुकाराम सरीखे ऊँची पहुँच के संत अपने उपास्य देव के प्रति अपने हृदय के सच्चे भावों को यदा-कदा हिंदी में भी व्यक्त करना उचित समझते थे[४]। १६३७ में विद्यमान बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह तक ने संगीत पर अपनी 'नव रस' नामक

१—सेन—हिस्टरी आव् दि बेंगाली लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर, पृ० ६०० ।

२—के० एम्० झावेरी—माइल स्टोन्स आव् गुजराती लिटरेचर, पृ० ६६ ।

३—के० एम्० झावेरी—माइल स्टोन्स आव् गुजराती लिटरेचर, पृ० १२५ ।

४—भाले राव्—केशोत्सव स्मारक संग्रह, ना० प्र० सभा पृ० ६२-६८ ।

रचना हिंदी में लिखी। गोलकुंडा के मुहम्मद कुली कुतुबशाह (राज्यकाल १५१८-५० ई०) ने जो, दक्नी हिंदुस्तानी का प्रथम कवि माना जाता है, अपनी कुछ कविताओं में हिंदी के शुद्ध रूप की रक्षा की है। किंतु ब्रजबूली, जो श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन के मत में "बँगला का पूर्ण हिंदी रूप" है और जिसमें अनेक कवियों ने बहुत सुंदर, सरस पद-रचना की है, हिंदी की आत्मा का सर्वोत्तम अभिनंदन है। इस मिश्री तुल्य मिश्रित भाषा में लिखी हुई कवि गोविंददास की कविताएँ किसी भी साहित्य का गौरव बढ़ा सकती हैं।

किंतु यदि हिंदी का स्वयं अपना उन्नत साहित्य न होता और उसके पास महत्त्वपूर्ण संदेश देने को न होता तो अहिंदी प्रदेशों में उसके प्रति इतना अनुराग न होता। हिंदी के प्राचीन साहित्य का महत्त्व प्रायः सब स्वीकार करते हैं। सूर और तुलसी पर केवल हिंदी को ही नहीं सारे भारत को गर्व है। किंतु खेद है कि हमारा प्राचीन साहित्य अभी पूर्ण रूप से प्रकाश में आया नहीं है। हम वर्तमान में इतने व्यस्त रहते हैं कि अतीत के साथ केवल मौखिक सहानुभूति दिखाकर ही रह जाते हैं। अवश्य ही नए उठते हुए साहित्य को प्रोत्साहन देने की बड़ी आवश्यकता है। किंतु इस बात की ओर हमारा बहुत कम ध्यान जाता है कि हिंदी के प्राचीन साहित्यकारों को, जिन्होंने बहुमूल्य निज-स्व का दान कर अतीत में वर्तमान की गहरी नींव डाली, जगत् के सम्मुख ला रखना भी उतना ही आवश्यक है। इसके बिना हिंदी के प्राचीन गौरव की तथ्यानुगत अनुभूति हो नहीं सकती। नागरीप्रचारिणी सभा की खोजों से स्पष्ट है कि सामग्री का अभाव नहीं है। हमारे साहित्य का अभी बहुत थोड़ा अंश प्रकाश में आ पाया है, अधिकांश अभी तक हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में ही पड़ा हुआ है, और यदि उसकी रक्षा शीघ्र न की गई तो बहुत सी अमूल्य सामग्री नष्ट हो जायगी। कुछ तो नष्ट हो भी चुकी है। उदाहरणस्वरूप यहाँ मैं केवल ऐसे दो ग्रंथों का उल्लेख करूँगा—एक तो कालिदास त्रिवेदी का 'हजारा' नामक हिंदी कवियों की कृतियों का संग्रह और दूसरा बेनीमाधवदास का 'गुसाईंचरित' नामक तुलसीदास जी का जीवनचरित। स्वयं

शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' से पता चलता है कि उक्त दोनों ग्रंथ उनके समय में विद्यमान थे। पर अब वे हमारे लिये 'सरोज' में लिखे नाम भर रह गए हैं। स्वयं 'सरोज' इस बात का साक्षी है कि शिवसिंह सेंगर का पुस्तकालय बहुत बड़ा रहा होगा। यह पुस्तकालय काँथा, जिला उन्नाव, संयुक्त प्रांत में है। आज उसकी बुरी दशा सुनने में आती है। वह नष्ट होता जा रहा है। और डर है कि यही दशा एक दिन असंगठित संस्थाओं तथा विभिन्न व्यक्तियों के पास पड़ी हुई हस्तलिखित पुस्तकों की भी हो जायगा।

इस समय की दुहरी आवश्यकता है। एक तो हस्त-लिखित पुस्तकों का ऐसे केंद्रों में संग्रह करना, जहाँ नाश के दूतों से उनकी रक्षा हो सके और खोजियों को वे आसानी से सुलभ हो जायँ और दूसरे, इस प्रकार प्राप्त संपूर्ण सामग्री का यथाशीघ्र प्रकाशन।

कुछ पुस्तकालय विद्यमान हैं, जिनमें हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह है। इन संस्थाओं के संग्रहालय भविष्य के बड़े बड़े पुस्तकालयों के लिये आधार बनाए जा सकते हैं। इस संबंध में यहाँ कुछ पुस्तकालयों का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे रायल एशियाटिक सोसायटी का पुस्तकालय, नागरीप्रचारिणी सभा का आर्य-भाषा-पुस्तकालय और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का संग्रहालय।

राजस्थान, मध्यभारत तथा अन्य प्रदेशों के अधिकांश रजवाड़ों तथा जैन उपाश्रयों और भंडारों के पास अच्छे-अच्छे हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह हैं। ऐसे सब पुस्तकालयों के अधिष्ठाता यदि अपने अपने पुस्तकालयों की सूची प्रकाशित करें तथा आधुनिक ढंग से अपने पुस्तकालयों का संचालन करें तो खोज के काम में बड़ी सहायता हो।

दूसरा इससे कम नहीं, शायद इससे अधिक महत्त्वपूर्ण काम है, जैसे-जैसे पुरातन ग्रंथ मिलते जायँ, वैसे वैसे उनको छपवाना। इस दिशा में पूरी शक्ति लगाकर काम करने की आवश्यकता है। अन्य साधनों के साथ साथ इसके लिये एक बहुत उत्तम साधन होगा 'बिब्लियोथिका इंडिका' के ढंग पर एक स्थूलकाय, सुसंपादित पत्रिका को नियमित रूप से चलाना, जिसके

द्वारा केवल प्राचीन हिंदी साहित्य का प्रकाशन हो। नागरीप्रचारिणी ग्रंथ-माला कुछ दिनों इसी ढंग पर चली।

ये कार्य बहुत बड़े हैं। इनके लिये विविध-साधन-संपन्नता की आवश्यकता है। किंतु जहाँ चाह होती है, वहाँ राह भी निकल ही आती है। इसलिये यदि हिंदी की सार्वजनिक संस्थाएँ पूर्ण मनोयोग से इन कामों को हाथ में ले लें, तो उन्हें पता चलेगा कि मानव-हृदय सदैव उत्साह से सत्प्रयत्नों का साथ देता है, और सदुद्देश्य की सफलता के लिये पूरी सहायता देने में कभी पिछड़ता नहीं।

भाषा तथा साहित्य दोनों के अध्ययन को अग्रगति देने के लिये ये कार्य आवश्यक हैं। प्राचीन समय में ध्वनिग्राहक यंत्रों के अभाव के कारण उस समय की बोली का तो हमें ठीक ज्ञान हो नहीं सकता। फिर भी इन कार्यों के हो जाने से ध्वनियों की गति-विधि, अर्थ का उनके साथ साहचर्य तथा अन्य समान विषयों के संबंध का पूरा हिंदी क्षेत्र भाषा-शास्त्री के पर्यवेक्षण के लिये खुल जायगा और हमें यह पता लग जायगा कि हिंदी की विभिन्न उपभाषाओं का किस प्रकार क्रम-विकास हुआ।

इससे हिंदी साहित्य के उदय से लेकर अब तक विभिन्न भावनाओं से स्पंदमान भारत के हृदय का चलचित्र भी हमारी दृष्टि में आ जायगा, क्योंकि मध्यदेश, जो लगभग आज का हिंदी-भाषी प्रदेश है, देश भर में चलनेवाली अधिकांश सांस्कृतिक प्रगतियों का केंद्र रहा है। इस प्रकार अपनी संस्कृति को हिंदी साहित्य की देन का भी हमें वास्तविक महत्त्व जान पड़ जायगा।

हिंदी साहित्य के पूरे इतिवृत्त के निर्माण का कार्य भी इस प्रकार सरल हो जायगा। अभी तो हमें हिंदी साहित्य की प्रधान धाराओं का ही परिचय है। इन धाराओं की सौंदर्य-वृद्धि करनेवाली विभिन्न तरंगों, उपधाराओं तथा व्यत्यस्त धाराओं का, जिनके कारण साहित्य की समस्याएँ कुछ जटिल हो जाती हैं, अभी हमें भली भाँति परिचय नहीं, क्योंकि इस संबंध में प्रकाश डालनेवाली समस्त सामग्री अभी प्रकाश में आई नहीं है।

उदाहरण के लिये मैं आपका ध्यान हिंदी साहित्य की एक उप-धारा की ओर आकृष्ट करता हूँ, जिसे हिंदी साहित्य की निरंजन-धारा कह सकते हैं। जैसा नाम से ही पता चलता है, निरंजन-धारा भी सिद्ध, नाथ तथा निर्गुण धाराओं की ही भाँति आध्यात्मिक धारा है।

हरिदास, तुरसीदास और सेवादास—इन तीन निरंजनियों की बहुत सी बानियाँ मेरे पास हैं। खेमजी, कान्हड़दास और मोहनदास की भी कुछ कविताएँ संग्रहों में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त मनोहरदास, निपटनिरंजन तथा भगवानदास का उल्लेख 'शिवसिंह सरोज', ग्रियर्सन के 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर', नागरी-प्रचारिणी सभा के खोज-विवरणों तथा 'मिश्रबंधु-विनोद' में मिलता है। पहले तीन व्यक्तियों की विस्तृत बानियों को देखने से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वे एक ही धारा के अंश हैं। और उपर्युक्त शेष व्यक्तियों की जो कुछ कविताएँ मिलती हैं, उनसे इस धारणा की पुष्टि हो जाती है।

दादूपंथी राघोदास ने नाभादास के 'भक्तमाल' के ढंग पर अपने भक्तमाल की रचना की, जिसकी समाप्ति वि० सं० १७७० = १७१३ ई० में हुई। इसमें नाभादास के भक्तमाल में छूटे हुए भक्तों का उल्लेख किया गया है। बारह निरंजनी महंतों का कुछ विवरण उसमें दिया हुआ है, जिनमें ऊपर आए हुए हरिदास, तुरसीदास, खेमजी, कान्हड़-दास और मोहनदास सम्मिलित हैं। ये सब राजस्थानी हैं।

इनमें समय की दृष्टि से सब से पहला ग्रंथकार हरिदास जान पड़ता है। राघोदास ने हरिदास को प्रागदास का शिष्य बतलाया है, जिसे छोड़कर बाद को वह गोरखपंथी हो गया। सुंदरदास ने भी—जो प्रागदास का बड़ा सम्मान करते थे और जिन्हें वे व्यक्तिगत रूप से[1] भली भाँति जानते थे—हरिदास की गणना गोरखनाथ, कंथड़नाथ और कबीर आदि की भाँति बड़े गुरुओं में की है[2]। इससे यह

१—पुरोहित हरिनारायण जी—सुंदरदास-ग्रंथावली, भूमिका पृ० ७८।

२—"कोउक गोरष कूँ गुरु थापत, कोउक दत्त दिगंबर आदू;
कोउक कंथर कोउक भर्थर, कोइ कबीरा के राखत नादू।

जान पड़ता है कि संभवतः हरिदास ने प्रागदास से दीक्षा ली थी। सुंदरदास के उल्लेख करने के ढंग से तो ऐसा भी ध्वनित होता है कि हरिदास कदाचित् दादू (जिनका जन्म १५४४ ई० में हुआ था) से भी पहले हुए। श्रीयुत जगद्धर शर्मा गुलेरी के कथन की भी इससे पुष्टि होती है, जिनके मतानुसार हरिदास ने १५२० और १५४० ई० के बीच अनेक ग्रंथों की रचना की। अपने पंथ में हरिदास हरिपुरुष कहे जाते हैं।

श्री गुलेरी के अनुसार इनके ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) अष्टपदी जोग ग्रंथ
(२) ब्रह्मस्तुति
(३) हरिदास ग्रंथमाला
(४) हंसप्रबोध ग्रंथ
(५) निरपख मूलग्रंथ
(६) राजगुंड
(७) पूजा जोग ग्रंथ
(८) समाधि जोग ग्रंथ और
(९) संग्राम जोग ग्रंथ

मेरे संग्रह में हरिदास की साखी और पद हैं। हरिदास डीडवाना में रहते थे। राघोदास ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। कहा है—हरिदास निराश, इच्छाहीन तथा निरंतर परमात्मा में लीन रहनेवाले थे। परमात्मा को इन्होंने अपने मन, वचन और कर्म से प्रसन्न कर लिया था। किंतु ये कुछ क्रोधी स्वभाव के भी जान पड़ते हैं। स्वयं

"कोउ कहै हरदास हमार जु, यूँ करि ठानत वाद विवारु;
और सुसंत सबै सिर ऊपर सुंदर के उर है गुर दादू॥"

(पीतांबर जी द्वारा संपादित सुंदर-विलास—१-५)

दूसरे स्थान पर सुंदरदास उनका उल्लेख असत् से आध्यात्मिक युद्ध करने में लगे हुए योद्धा के रूप में करते हैं—

"अंगद भुवन परस हरदास ग्यान गह्यो हथियार रे।"

(पीतांबर जी द्वारा संपादित सुंदर-विलास, पृ० ७५०)

राघो ने इन्हें क्रोध में रुद्र—'हर ज्यूँ कहर'—कहा है। टीका में इनके पीपली, नागोर, अजमेर, टोडा और आमेर जाने का भी उल्लेख है और इनके अनेक चमत्कारों का भी वर्णन है।

गोरख तथा कबीर की वाणियों से ये विशेष प्रभावित हुए थे। इन्होंने इन दोनों की बंदना की है। गोरख को तो ये अपना गुरु मानते हैं।

इनकी रचना बड़ी समर्थ होती थी। इन्होंने सिद्धों तथा जैनों की तीखी आलोचना की है। परमात्मा का इन्होंने नाथ और निरंजन दोनों नामों से गुणगान किया है।

तुरसीदास ने बड़ी विस्तृत रचना की है। मेरे संग्रह में आई हुई इनकी विपुल वाणियों का विस्तार इस प्रकार है—४२०२ साखी, ४६१ पद, ४ छोटी छोटी रचनाएँ और थोड़े से श्लोक तथा शब्द हैं। चार छोटे ग्रंथ ये हैं—

(१) ग्रंथ चौअचरी
(२) करणीसारजोग ग्रंथ
(३) साध सुलच्छिन ग्रंथ और
(४) ग्रंथतत्त्व गुणभेद

तुरसीदास बड़े विद्वान् थे। इन्होंने अपनी साखियों के विभिन्न प्रकरणों में ज्ञान, भक्ति और योग का विस्तृत तथा सुगठित वर्णन किया है। ये निरंजन-पंथ के दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादक, आध्यात्मिक जिज्ञासु तथा रहस्यवादी उपासक थे। निरंजन-पंथ के लिये तुरसीदास ने वही काम किया जो दादू-पंथ के लिये सुंदरदास ने। राघोदास ने इनकी वाणियों की प्रशंसा उचित ही की है—'तुरसी सु वाणी नीकी ल्याए हैं।"

यह भी संभव हो सकता है कि राघो का तात्पर्य यहाँ रचनाओं से न होकर तुरसी की आवाज से ही हो। 'ल्याए हैं' क्रिया कुछ इसी ओर संकेत करती जान पड़ती है।

राघो के अनुसार तुरसी को सत्यज्ञान की प्राप्ति हो गई थी और

अन्य सब वस्तुओं[1] से उनका मन हट गया था। राघो ही के अनुसार तुरसी के अखाड़े में करणी की शोभा दिखाई देती है[2]। तुरसी शेरपुर के निवासी थे।

नागरीप्रचारिणी सभा की खोज में तुरसीदास की वाणी की एक हस्त-लिखित प्रति का उल्लेख हुआ है जिसमें 'इतिहास समुच्चय' की प्रतिलिपि भी सम्मिलित है। 'इतिहास समुच्चय' के अंत में लिखा है कि उसकी प्रतिलिपि वि० स० १७७४ (१६८८ ई०) में ऊधोदास के शिष्य लालदास के शिष्य किसी तुरसीदास ने की थी[3]। यदि यह प्रति तुरसी ही के हाथ की लिखी है और ऐसी कोई बात है नहीं जिससे उसका तुरसी का लिखा होना अप्रमाणित हो, तो हमें तुरसी का समय मिल जाता है। राघोदास ने इनका उल्लेख वर्तमान काल की क्रिया के रूप में किया है। और जान पड़ता है कि राघोदास के भक्तमाल के लिखे जाने के समय तक वे काफी बूढ़े हो चुके थे, क्योंकि उस समय तक वे अपने आध्यात्मिक ज्ञान के कारण प्रसिद्ध हो गए थे। इससे भी विदित हो जाता है कि उनका संवत् १७४५ वि० में महाभारत के एक अंश की प्रतिलिपि करना असंभव नहीं। इस प्रकार ये तुरसी, प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदास से छोटे, किंतु समसामयिक ठहरते हैं।

मोहनदास, कान्हड़ और खेमजी भी बड़े अच्छे कवि थे और अध्यात्म-मार्ग में उनकी बड़ी पहुँच थी। तीनों महंत थे—मोहनदास देवपुरा के, कान्हड़ चाटसू के और खेमदास शिवहड़ी के।

१—"तुरसी पायो तत्त श्रान सो भयो उदासा"—१४३।
"तुरसीदास पायो तत्त नीकी बनि आई है"—१४४।

२—"राघो कहै करणी जिव शोभित देषो है दास तुरसी को अषारै"—१५३।

३—इति श्री महाभारथे इतिहाससमुच्चये तैंतीसमों अध्याय ॥३३॥ इति श्री महाभारथे संपूर्ण समाप्त। संवत् १७४५ वृषे मास कार्तिक सुदी ७ वार सनीवासरे॥ नगर गधार सुथाने सुभमस्तु लिपतं स्वामी जी श्री श्री श्री श्री १०८ ऊधोदास जी को सिष्य स्वामी जी श्री श्री श्री श्री १०८ श्री श्री लालदास जी को सिष्य तुलसीदास बाँचे जिसको राम राम।

कान्हड़दास इतने बड़े संत थे कि राघोदास उन्हें अंशावतार समझते थे। राघोदास के कथनानुसार कान्हड़दास इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर चुके थे। वे केवल भिक्षा में मिले अन्न ही का भोजन करते थे। यद्यपि उनको बड़ी सिद्धि तथा प्रसिद्धि प्राप्त थी, किंतु उन्होंने अपने लिये एक मढ़ी तक न बनवाई। वे 'अति भजनीक' थे और राघोदास का कहना है कि उन्होंने अपनी 'संगति के सब ही निसतारे' थे (पृ० १४०)। ये तीनों—मोहनदास, कान्हड़ और खेमजी—निश्चय ही राघोदास (वि० सं० १७७० = १७१८ ई०) से पहले हुए हैं।

सेवादास ने भी विस्तृत रचना की है। मेरे संग्रह में आई हुई उनकी 'बानी' में ३५६१ साखियाँ, ४०२ पद, ३९९ कुंडलियाँ, १० छोटे ग्रंथ, ४४ रेखता, २० कवित्त और ४ सवैये हैं।

वे सीधे हरिदास निरंजनी की परंपरा में हुए। सौभाग्य से इनकी पद्यबद्ध जीवनी भी 'सेवादास परची' के नाम से उपलब्ध है। इनके चेले (अमरदास) के चेले रूपदास ने उसकी विक्रम संवत् १८३२ (ई० सन् १७९५) में वैशाख कृष्ण द्वादशी को रचना की। रूपदास के कथनानुसार सेवादास की मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण अमावस को, संवत् १७९२ वि० में हुई थी। कबीर को इन्होंने अपना सतगुरु माना है। परची उनके चमत्कारों से भरी पड़ी है, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं।

भगवानदास निरंजनी ने, जो नागा अर्जुनदास के चेले थे, निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है—

(१) प्रेम पदार्थ
(२) अमृतधारा
(३) भर्तृहर शतक भाषा
(४) गीता माहात्म्य (१७४० वि०)
(५) कार्तिक माहात्म्य (१७४२ वि०)
(६) जैमिनि अश्वमेध (१७५५ वि०)। कोष्ठकों में दिए हुए संवत् स्वयं ग्रंथों से लिए गए हैं।

निपट निरंजन का जन्म 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार संवत् १६५० वि० (१५९३ ई०) में हुआ था। शिवसिंह ने इन्हें तुलसीदासजी की समता का संत माना है। संभवतः इनकी जन्म-तिथि के अनुमान का आधार शिवसिंह के पास के इनके किसी ग्रंथ का रचनाकाल हो। शिवसिंह के पास इनके 'शांतरस वेदांत' और 'निरंजन संग्रह' दो ग्रंथ थे। इनमें से पहला अब तक शिवसिंह के एक वंशधर के पास है, किंतु उसके अंतिम पृष्ठ अब नष्ट हो गए हैं। साहित्य के इतिहासों में निपट निरंजन के नाम से दी गई 'संत-सरसी' नामक रचना यथार्थ में 'शांतरस वेदांत' ही है। यह नाम-परिवर्तन की भूल स्वयं 'शिवसिंह सरोज' में ही (कम से कम जिस रूप में वह छपा है) किसी भाँति आ गई थी (सरोज पृ० ४३८)।

मनोहरदास निरंजनी ने 'ज्ञानमंजरी', 'ज्ञान वचनचूर्णिका' तथा 'वेदांत भाषा' की रचना की है। पहली[१] संवत् १७१६ वि०[२] में बनी थी और अंतिम की रचना भी कदाचित् इसी समय के आस पास हुई।

इन सब कवियों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को सरल और स्वाभाविक सौंदर्यमय गीतों में निकास दिया है। ये गीत बड़े ही चित्ताकर्षक हैं। इन कवियों में से कुछ तो, जिनकी विस्तृत वाणियों का अध्ययन मैंने किया है, इस बात का दावा करते हैं कि वे साधना की चरम अवस्था पर पहुँचकर आत्मदर्शन कर चुके थे। निरंजनियों में भी इस अनुभूति तक पहुँचने का मार्ग निर्गुणियों की ही भाँति उलटा मार्ग या उलटी चाल कहाता है। मन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को—जो जीव को सांसारिक बंधन में डालने का कारण होती हैं—अंतर्मुखी करना, उनके अनुसार, परम आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, संचर की प्रक्रिया को प्रतिसंचर में परिणत कर देने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसलिये हरिदास ने उलटी नदी बहाने को कहा है[२] और सत्य के खोजी को उलटा मार्ग पकड़ने का उपदेश दिया है[३]। सेवादास के अनुसार अलख को पहचानने

१—"संवत सत्रह सै माही वर्ष सोरहे माहि।
वैशाख मासे शुक्ल पक्ष तिथि पूनो है ताहि॥"

२—"उलटी नदी चलाएँगे"—पृ० २५।

३—"उलटा पंथ सँभालि पंथी सति सबद सतगुरु कहे।"

के लिये उलटा गोता लगाना आवश्यक है। ऐसा करने से आत्मा धीरे धीरे गुण, इंद्रिय, मन और वाणी से अपने आप परे हो जायगी[१]। और तुरसी कहते हैं कि जब साधक उलटा अपने भीतर की ओर लौटता है तभी वह अध्यात्म-मार्ग से परिचित होता है[२]।

निरंजनियों का यह उलटा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनुप्राणित योग-मार्ग के ही समान है। निर्गुणियों की सारी साधना-पद्धति उसमें विद्यमान है। निरंजनियों का उद्देश्य है इड़ा और पिंगला के मध्यस्थित सुषुम्णा को जागरित कर अनाहत नाद सुनना, निरंजन के दर्शन प्राप्त करना तथा बंकनालि के द्वारा शून्यमंडल में अमृत का पान करना। जो साँच की डोरी[३] उन्हें परमात्मा से जोड़े रहती है, वह है नामस्मरण। नामस्मरण में प्रेम और योग का पूर्ण समन्वय है। साधक को उसमें अपना सारा अस्तित्व लगा देना होता है। साथ ही त्रिकुटी-अभ्यास का भी विधान है, जो गोरख-पद्धति तथा गीता की भ्रूमध्य-दृष्टि के सदृश है। इस साधना-पद्धति पर—जिसमें सुरति अर्थात् अंतर्मुखी वृत्ति, मन तथा श्वास-निःश्वास को एक साथ लगाना आवश्यक होता है—निरंजनियों ने बार बार जोर दिया है। इसकी अंतिम अवस्था अजपा जप है, जिसमें श्वास-प्रश्वास के साथ स्वतः सतत नाम-स्मरण होने लगता है।

निरंजनी कविता में प्रेम-तत्त्व का महत्त्व योग-तत्त्व से किसी भी मात्रा में कम नहीं है। इंद्रियों का दमन नहीं, वरन् शमन आवश्यक है। और शमन में प्रेम-तत्त्व ही से सफलता प्राप्त होती है। इस तत्त्व की अवहेलना करनेवाले साधकों को हरिदास ने खूब फटकारा है[४]। प्रेमातिरेक से विह्वल होकर जब जीव (पतंग की भाँति) अपनी आत्मा

१—"सहजि सहजि सब जाहिगा गुण यंद्री मन बाणि।
तूं उलटा गोता मारि करि अंतरि अलख विछाणि।"

२—"जब उलटा उर अतर माही आवै, तब भल ता मघ (?ग) की सुधि पावै।"

३—"सुमिरण डोरी साँच की सत गुरु दई बताय।"—सेवादास।

४—"पाँच राषि न पेम पीया दसौ दिसा कूँ जाहिं।
देषि अवधू अकलि अंधा अजहूँ चेतै नाहिं॥"

को परमात्मा (अपने पति) के चरणों में निःस्वार्थ भाव से अर्पित कर देता है, तभी (प्रियतम परमात्मा से) महामिलन होता है[१]। इन सब निरंजनी कवियों ने प्रिय के विरह से दुखी प्रिया की भाँति अपने हृदय की व्यथा प्रकट की है[२]। तुरसीदास के अनुसार यही प्रेम-भावना प्रत्येक आध्यात्मिक साधना-पथ की प्राण होनी चाहिए। इसके विद्यमान रहने से प्रत्येक मार्ग सच्चा है, किंतु इसके अभाव में हर एक पथ निस्सार है[३]।

निरंजनियों ने अपरोक्षानुभूति का वर्णन निर्गुणियों की ही सी भाषा में किया है। सफल साधना-मार्ग के अंत में साधक को अनंत प्रकाश-पुंज की बाढ़ सी आती दिखाई देती है, जो 'जरणा' के द्वारा स्थिरता ग्रहण करने पर शीतल, झिलमिल ज्योति के रूप में स्थिर हो जाती है। इस सहजानुभूति के हो जाने पर सभी बाहरी विरोध मिट जाते हैं। स्वयं यह अनुभूति भी उलटी या स्वविरोधी शब्दावली में ही व्यक्त की जा सकती है। हरिदास के कथनानुसार गुरु शिष्य की अंतर्ज्योति को अनंत सूर्यों

१—"मैं जन बांध्यो प्रीति सूँ ......

निकट वसौ न्यारा रहौ एक मंदिर मांहि माधवे।
मैं मिलिहूँ कै तन तजौं अब मोहि जीवण नाहिं माधवे।
प्राण उधारण तुम मिलो।
अबला भनि व्याकुल भई, तुम क्यों रहे रिसाइ माधवे॥"—हरिदास।
"सुरति सुहागणि सुंदरी, वरयौ ब्रह्म भरतार।
आन दिसा चितवै नहीं, सोधि लियो करतार॥"—सेवादास।

२—"अंतरि चोट विरह की लागी, नख सिप चोट समाणी।"—हरिदास।
"कोउ बूझौ रे बाँभना, जोसी कहि कब आवै मेरा राम।
विरहिन झूरै दरस कूँ, जिय नाहीं विश्राम॥
ज्यूँ चात्रिग घन कूँ रटै पीव पीव करे पुकार।
यूँ राम मिलन कूँ बिरहिनी तरफै बारंबार॥"—तुरसीदास।

३—"प्रेम भक्ति बिन जप तप ध्यान, रूखै लागै सहज विग्यान।
तुरसी प्रेम भक्ति उर होय, तब सबही मत साँचे जोय॥"—तुरसी।

के प्रकाश से मिला देता है[१]। सेवादास झिलमिलाती ज्योति का दर्शन त्रिकुटी में करते हैं[२]। इन्हीं के शब्दों में[३] सहजानुभूति बिना घन के चमकनेवाली बिजली है, बिना हाथ के बजनेवाली वीणा है, बिना बादलों के होनेवाली अखंड वर्षा है। और तुरसी के शब्दों में आध्यात्मिक अनुभूति बहरे का ऐसी गुप्त बात सुनना है जिसमें जिह्वा तथा मुँह काम में नहीं आते। वह लँगड़े का ऐसे पेड़ पर चढ़ने की भाँति है जिस पर पैरवाले नहीं चढ़ सकते। वह अंधे के प्रकाश को देखने के समान है[४]।

उपर्युक्त सभी बातों में निर्गुणियों और निरंजनियों में साम्य है। इसी लिये राघोदास ने निरंजनियों को कबीर के से भाव का बतलाया है। किंतु फिर भी उन्होंने इन्हें कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुणी संतों में नहीं गिनाया है और उनका एक अलग ही संप्रदाय माना है। इसका कारण यही हो सकता है कि निर्गुणियों और निरंजनियों में इतना साम्य होते हुए भी कुछ भेद अवश्य है।

कबीर ने स्थूल पूजा-विधानों का तथा हिंदुओं की सामाजिक वर्ण-व्यवस्था का एकदम खंडन किया है। निरंजनियों ने भी मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का परमार्थ दृष्टि से विरोध किया है अवश्य, किंतु अपने समान ज्ञान की उच्च अवस्था तक न पहुँच सकनेवाले साधारण श्रेणी के व्यक्तियों के लिये इन बातों की आवश्यकता भी

१—"अनंत सूर निकट नूर जोति जोति लावै।"

२—"नैना माहीं रामजी झिलमिल जोति प्रकास।
त्रिकुटी छाजा बैठि करि वे निरखै निज दास॥"

३—"बिन घन चमकै बीजली तहाँ रहे मठ छाय।
हरि सरवर तहाँ पेलिए जहँ बिण कर बाजे बीण॥
बिन बादल वर्षा सदा, तहाँ बारा मास अखंड।"

४—"बहरा गुझि बानी सुनै सुरता सुनै न कोय।
तुरसी सो बानी अघट मुख बिन उपजै सोय॥
पग उठि तरवर चढ़ै सगै चढ्या न जाय।
तुरसी जोती जगमगै अंधे कूँ दरसाय॥"

उन्होंने समझी है। इसी लिये हरिदास ने अपने चेलों को मंदिरों से वैर अथवा प्रीति रक्खे बिना ही गोविंद की भक्ति करने का आदेश किया है[1]। तुरसी मूर्त से अमूर्त की ओर जाने के लिये 'अमूरति' को 'मूरति' में देखना बुरा नहीं समझते[2] और आचार का भी आखिर कुछ महत्त्व समझते हैं[3]। यद्यपि निरंजनी वर्णाश्रम-धर्म को, यदि तुरसी के शब्दों में कहें तो, शरीर का ही धर्म मानते हैं, आत्मा का नहीं; फिर भी ऐसा भी नहीं जान पड़ता कि परंपरा से चली आती हुई वर्णाश्रम-धर्म की इस व्यवस्था से उन्हें वैर है। यद्यपि वे यह अवश्य चाहते हैं कि संसार, एक परिवार की भाँति रहे और वर्णभेद ऊँच-नीच के भेद-भाव का आधार न बनाया जाय[4]।

निरंजनी इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण रामानंद, नामदेव इत्यादि प्राचीन संतों के समकक्ष हो जाते हैं। बिठोवा की मूर्ति के सम्मुख घुटने टेककर नामदेव निर्गुण निराकार परमात्मा के भजन गाया करते थे[5]। और कहा जाता है कि रामानंद ने तीर्थों तथा मूर्तियों को जल-पखान

१—"नहिं देवल स्यूं वैरता, नहिं देवल स्या प्रीति।
फिरतम तजि गोविंद भजौ, यह साधाँ की रीति॥"

२—"मूरति में अमूरति बसै अमल आतमाराम।
तुरसी भरम बिसराय कै ताही कौ लै नाम॥"

३—"जाके आचारहु नहीं, नहिं बिचार अह लेस।
उभै माहिं एक हू नहीं, तौ धृग धृग ताकौ वेस॥"

४—"तुरसी बरणाश्रम सब काया लौं सो काया करम कौ रूप।
करम रहत जे जन भए, ते निज परम अनूप॥
जन्म नीच कहिए नहीं, जौ करम उत्तम होय।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोय॥"—तुरसी।
"जनम महान भए का भयौ करत कुत चढार।
बहुरि पिंड परै होयगा, सुद्र घरहु अवतार॥
हिंदू तुरक एक कल लाई। राम रहीम दोइ नहिं भाई॥"—हरिदास।

५—फर्कुहर—आउटलाइन आव् दि रेलिजस लिटरेचर इन इंडिया, पृ० ३००।

मात्र बतलाते हुए भी शालिग्राम की पूजा का विधान किया था। संभवतः यही प्रवृत्ति अंत में भगवानदास निरंजनी कृत 'कार्त्तिक माहात्म्य', 'जैमिनि अश्वमेध' सदृश पौराणिक ढंग के ग्रंथों में प्रतिफलित हुई।

निरंजन पंथ में प्रेम तथा योग-तत्त्व संभवतः रामानंद या उन्हीं के सदृश किसी संत से आए हैं। ये प्रेम तथा योग-तत्त्व कबीर, रैदास और पीपा इत्यादि रामानंद के प्रायः सब शिष्यों की बानियों में पाए जाते हैं, इसलिये इनका मूल स्रोत गुरु में ही ढूँढ़ना चाहिए। इस बात का समर्थन रामानंद कृत कहे जानेवाले *'ज्ञान-तिलक'* और *'ज्ञान-लीला'* नाम के छोटे ग्रंथों से तथा 'सिद्धांतपटल' से भी होता है, जिसके अनुसार, राघवानंद ने रामानंद को जो उपदेश दिए हैं उनमें योग का निश्चय रूप से समावेश है[१]। महाराष्ट्री जनश्रुतियों में रामानंद का संबंध ज्ञानदेव के नाथपंथी परिवार से जोड़ा जाता है। अपने को नाथपंथी बतलाने वाले उद्धव और नयन भी रामानंद के शिष्य अनंतानंद के द्वारा रामानंद से अपनी परंपरा आरंभ करते हैं।

नाभादास जी ने रामानंद के बारहों शिष्यों को दशधा भक्ति का 'आगर' कहा है। किंतु यदि तुरसीदास ने अपनी वाणी में स्पष्ट रीति से इसकी व्याख्या सी न की होती तो दशधाभक्ति से क्या अभिप्राय है, हम यह भी न समझ पाते। इस व्याख्या को संक्षेप में यहाँ पर दे देना अनुचित न होगा।

इस व्याख्या में तुरसीदास ने सगुणी नवधा भक्ति को अद्वैत दृष्टि के अनुकूल एक नवीन ही अर्थ दे दिया है। श्रवण[२], कीर्तन और स्मरण[३] तो निर्गुणपन्थ में भी सरलता से ग्रहण किए जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त तुरसी

१—"शब्दसरूपी श्री गुरु राघवानंद जी ने श्री रामानंद जी कूँ सुनाया भरे भंडार काया बाढ़ै त्रिकुटी अस्थान जहाँ बसे—श्री सालिग्राम।"

—अमरबीज मत्र १७।

२—"सार सार मत स्रवन सुनि, सुनि राखै रिद माहिं।
ताही कौ सुनियौ सुफल, तुरसी तपति सिराहिं॥"

३—"तुरसी ब्रह्म भावना यहै, नाँव कहावै सोय।

के अनुसार पाद-सेवन[1] हृदय-कमलस्थित ज्योति-स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करना है; अर्चन[2] समस्त ब्रह्मांड में ॐ का प्रतिरूप देखना है; वंदन[3] साधु गुरु और गोविंद दोनों को एक समझकर उनकी वंदना करना है; दास्य[4] भक्ति हरि, गुरु और साधु की निष्काम सेवा करना है; सख्य[5] भक्ति भगवान् से बराबरी का अभिमान न होकर सब मार्गों से गोविंद की प्राप्ति हो सकने के विश्वास के साथ भगवान् को मित्र समझने की भावना है और आत्मनिवेदन[6] दैन्य का भाव है। तुरसी का कथन है कि यह नौ प्रकार की भक्ति सगुण नवधा भक्ति से भिन्न है और जीव को प्रवृत्ति-मार्ग की ओर न ले जाकर निवृत्ति-मार्ग

यह सुमिरन संतन कह्या, सार भूत संजोय ॥"

१—"तुरसी तेजपुंज के चरन वे हाड़ चाम के नाहिं।
वेद पुराननि बरनिए रिदा कँवल कै माहिं ॥"

२—"तुरसी प्रतिमा देपि कै पूजत है सब कोय।
अदसि ब्रह्म की पूजिबौ कहौ कौन विधि होय ॥
तुरसिदास तिहूँ लोक मैं प्रित्मा (प्रतिमा) ॐकार।
बाचक निर्गुन ब्रह्म कौ बेदनि बरन्यौ सार ॥"

३—"गुरु गोब्रिंद सतनि विपै अभिन भाव उपजाय।
मंगल सूं बंदन करै तौ पाप न रहई काय ॥"

४—"तुरसी बनै न दास कूँ आलस एक लगार।
हरि गुरु साधू सेव मै लगा रहै यकतार।
तुरसी निहकामी निज जनन की निहिकामी होय सोय।
सेवा निति किया करै फल बासना जू धोय ॥"

५—"बराबरी को भाव न जानै, गुन औगुन ताको कछू न आनै।
अपनौ मित जानिबौ राम, ताहि समरपै अपना धाम ॥
तुरसी त्रिभुवन नाथ कौ सुहृत सुभाव जु एह।
जेनि केनि ज्यूँ भज्यो जिनि तैसें ही उधरे तेह ॥"

६—"तुरसी तन मन आतमा करहु समरपन राम।
जाकी ताहि दे उरन होहु छाड़िहु सकल सकाम ॥"

की ओर ले जाती है[१]। इस नवधा भक्ति की संसिद्धि होने पर उसके उपरांत सर्वश्रेष्ठ प्रेमा-भक्ति[२] की प्राप्ति होती है, और इस प्रकार नाभादास जी की दशधा संज्ञा की सार्थकता प्रकट होती है।

जो थोड़ा सा समय मेरे लिये प्रयोजित था उसके भीतर अन्य बातों के साथ मैंने निरंजनी धारा की हिंदी-साहित्य को क्या देन है, इसकी रूप-रेखा-मात्र दिखाने का प्रयत्न किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे संतों के हृदय से निकली हुई सहज, निर्मल भावधारा से हिंदी-साहित्य खूब संपन्न हुआ है, जिसके फलस्वरूप मध्ययुग में हिंदी एक प्रकार से उत्तर भारत की आध्यात्मिक आदान-प्रदान की भाषा बन गई। अतएव इन संतों के प्रति जितनी कृतज्ञता प्रकट की जाय, थोड़ी है।

खोज से नवीन सामग्री के प्रकाश में आने पर इस प्रकार की अन्य अंतर्धाराओं के दर्शन होंगे। अलग अलग नए रचयिताओं का पता चलने से भी विभिन्न धाराओं की और उनके द्वारा समस्त साहित्य की संपन्नता प्रकट होगी।

सज्जनो! अंत में, मेरी बातों को ध्यान से सुनने के लिये, मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।

१—"एक नौधा निरवरति तन एक परयरति तन जान।
तामैं अतिकन रूपनी तारा करहिं बषान॥"

२—"तुरसी यह साधन भगति तर लौं सींची सोय।
तिन प्रेमा फल पाइया प्रेम मुक्ति फल जोय॥"

समीक्षा

आवारे की यूरोप यात्रा—लेखक डा० सत्यनारायण, पी-एच्० डी०; प्रकाशक पुस्तक-भंडार लहेरियासराय; मूल्य २॥) ।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के उन अनुभवों का परिणाम है जो उसने इँगलैंड, रूस, स्पेन और बालकन राज्यों को छोड़कर प्रायः समस्त यूरोप का भ्रमण करके प्राप्त किए हैं। जर्मनी और फ्रांस में लेखक के अधिक दिन बीते, इस कारण वहीं की घटनाओं का वर्णन अधिक है। फिनलैंड का उल्लेख मात्र है। नार्वे, स्वेडेन, डेनमार्क, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड, इटली आदि का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है। लेखक ने अपनी सारी यात्रा बहुत कुछ पैदल और कुछ मोटर लारियों, बाइसिकिल अथवा रेल पर की है। अनजान परदेश में एक भारतीय का, बिना धन-पूँजी के, यात्रा करना असीम साहस और सहनशीलता का परिचायक है। हिंदी में एक ऐसी पुस्तक उपस्थित करने के कारण लेखक बधाई का पात्र है।

परंतु इस पुस्तक द्वारा उन देशों की वास्तविक स्थिति—सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शिक्षा-संबंधी आदि—का परिचय पाने का प्रयत्न करने से निराशा ही हाथ आएगी। यही नहीं, उन देशों के प्राकृतिक सौंदर्य का भी यथेष्ट वर्णन नहीं है। इसमें लेखक के एकांत व्यक्तिगत अनुभवों का संकलन है। इसे हम लेखक की आप-बीती कह सकते हैं। यूरोपीय देशों में लेखक जिन जिन घटनाओं और परिस्थितियों में पड़ा है उन्हीं का इसमें एकत्रीकरण और वर्णन है। सच तो यह है कि इस पुस्तक को यदि यात्रा-विवरण न कहकर उपन्यास अथवा कहानी-संग्रह कहें तो अनुचित न होगा। एक तरह से यह जेनेट, विली, हाँस, केटी और हाना की कहानियों अथवा रेखा-चित्रों का संग्रह है, जिनका संबंध-सूत्र और सर्वोय पात्र लेखक है। केटी, हाना और हाँस के चित्र विशेष आकर्षक हैं। स्थान स्थान पर पिछली कहानी के सूत्र आगे आकर पुस्तक को

उपन्यास का सा रूप दे देते हैं। हाना की मृत्यु वाला अंतिम दृश्य बहुत हृदय-स्पर्शी है। डाक्टर साहब की लेखन-शैली औपन्यासिक है। इससे पुस्तक आद्योपांत रोचक है। यह रोचकता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

पेरिस और जर्मनी के वर्णन में हमें वहाँ की सामाजिक स्थिति का कुछ परिचय मिलता है। परंतु जो चित्र लेखक ने उपस्थित किया है वह असत्य न होने पर भी एकांगी है। इन वर्णनों को पढ़कर जान पड़ता है कि जर्मनी और फ्रांस के युवकों और युवतियों में ही नहीं, अधेड़ों और गतवयस्काओं में भी नैतिकता अथवा सच्चरित्रता नाम की कोई वस्तु नहीं है। विशेषतः जिस प्रकार के नैतिक पतन का परिचय जेनेट की कहानी और पेरिस के वर्णन में मिलता है वह उसकी सभ्यता की ख्याति के सर्वथा विरुद्ध है। यही प्रतीत होता है कि सच्चरित्रता, दया, आतिथ्य-सत्कार आदि की भावनाओं से दूर वह नीचों, बर्बरों का देश है। हम चकित होकर सोचने लगते हैं कि क्या यही सभ्यताभिमानी फ्रांस है!

जर्मनी में लेखक को वहाँ के रोमांटिक विद्यार्थी-जीवन से परिचित होने का अवसर मिला, जिसका आदर्श है—

"वह छात्र छात्र है कैसा! जिसका न प्रेम से परिचय।
उसका अच्छा है होना मोची—हाँ मोची, निश्चय॥"

राजनीतिक हलचल का संकेत मात्र हमें दो स्थानों पर मिलता है—एक जर्मनी में और दूसरा टीरोल और इटली में। जर्मनी में भारत के संबंध में प्रचलित प्रवादों, भावनाओं और पुस्तकों को जान कर क्षुब्ध और क्रुद्ध होना स्वाभाविक है। टीरोल में मज़दूर-आंदोलन का संक्षिप्त परंतु विशद परिचय प्राप्त होता है और इटली में फासिस्ट सरकार की निष्ठुरता और निर्दयता की झलक मिलती है।

भाषा उपयुक्त होने पर भी कहीं कहीं बहुत ही शिथिल है। कुछ स्थलों पर जान पड़ता है मानो हम किसी यूरोपीय कहानी अथवा उपन्यास का अनुवाद पढ़ रहे हैं। 'मैत्री भाव का रिश्ता' (relation of friendship), 'मूल जड़' (root cause), 'स्मृति में चिरस्मरणीय रहेगी' (will ever remain in memory) आदि वाक्य अँगरेज़ी की छाया हैं। कारण यह है

कि लेखक प्रायः अँगरेजी में सोचता और हिंदी में लिखता है। डाक्टर साहब कदाचित् बिना दर्पण के भी अपना मुख देख लेते हैं, अन्यथा वे यह न लिखते कि "मेरा चेहरा आनंद से परिपूर्ण हो खिल रहा था।" उत्तम पुरुष में कहानी लिखनेवालों को ऐसी भद्दी भूलें बचानी चाहिएँ। 'युवा (युवती) लड़कियाँ', 'युवा (युवती) औरत', 'हीरा खुँसा (खुँसी) पगड़ी' आदि वाक्य व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं। 'अनेकों', 'कौमार' आदि भी अशुद्ध हैं। 'चल-फिर करने' (चलने-फिरने), 'दबा जाने' (दबने), 'अँगीठो लेना' (अँगड़ाई लेना)', 'लग पड़ते' (लगते) आदि कुछ अद्भुत प्रयोग भी हैं। 'प्रकार से', 'कारण से', 'दर असल ही', 'अत्यंत ही', 'एकटक से,' 'कभी भी,' 'अभी भी', 'आस पास में' आदि वाक्यांशों में 'से', 'ही', 'भी', 'में' आदि का प्रयोग निरर्थक है। बड़े वाक्यों में कहीं कहीं वाक्य-रचना भी उलझ गई है।

इन स्वल्प दोषों के होते हुए भी भाषा अच्छी और सरल है। लेखक में भावुकता और अनुभव है, एवं ग्रहण करने की शक्ति है। पुस्तक सुरुचि-पूर्ण, सुपाठ्य और रोचक है। छपाई-सफाई अच्छी है। कई चित्र भी हैं।

—रामचंद्र श्रीवास्तव।

हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास—लेखक श्री गुलाबराय, एम० ए०; प्रकाशक साहित्य-रत्न-भंडार, सिविललाइंस, आगरा; मूल्य १)।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने 'निवेदन' किया है कि "पुस्तक का यही उद्देश्य है कि विद्यार्थियों के सामने ऐसी पुस्तक रक्खी जाय जिसको वे सहज में खरीद सकें और जिसके द्वारा वे हिंदी साहित्य के क्रम-विकास की रूप-रेखा जानकर उसको यथावत् समझने की ओर प्रवृत्त हों।" छोटा और सस्ता होने से यह ग्रंथ अपने उद्देश्य को पूरा कर देता है पर अच्छे विद्यार्थी के लिये कुछ बातें बहुत खटकती हैं। जैसे, कवियों और ग्रंथों के नामों की अनुक्रमणिका, प्रत्येक लेखक के अधिक से अधिक ग्रंथों की—यथासंभव सभी कृतियों की—तालिका, क्रम और वर्णन में उचित सावधानी आदि का इस ग्रंथ में अभाव है। विद्यार्थियों, विद्वानों

और सामान्य पाठकों के अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि ऐसी बातों की कमी से ग्रंथ की उपयोगिता और प्रामाणिकता दोनों ही घट जाती हैं।

वर्णना की भूलें भी विद्यार्थियों को बहुत दुःख देती हैं, जैसे 'जात्याभिमान', 'ज्योत्सना', 'बुद्धचरित्र', 'ससालोचन', 'निरूपपा' आदि। असावधानी, अक्रम आदि की भूलें इतनी अधिक हैं कि विश्वास नहीं होता कि सुयोग्य लेखक ने छपते और प्रकाशित होते समय ग्रंथ को देखा होगा। केवल दो तीन उदाहरण काफी होंगे। पृष्ठ १७६ के अंत से चौथी पंक्ति है—"आंधी, 'अकाश दीप', 'प्रतिध्वनि' नाम के उनके कई सुंदर कहानी संग्रह हैं।" वाक्य की रचना में कुछ कमी है जो चिंत्य है। दूसरी बात यह है कि 'प्रसाद' के सभी ग्रंथ अब प्रसिद्ध हो चुके हैं और कहानियों तक की संख्या गिन ली गई है। उनके संग्रह केवल पाँच हैं। उनका भी इस प्रकार नामोल्लेख करना जैसे कोई सुनी और संदिग्ध बात हो, अच्छा नहीं है। प्रसाद और प्रेमचंद के तो सभी ग्रंथों का यथासंभव क्रम से नामोल्लेख होना चाहिए। पृष्ठ १७९ में दो प्रघट्टक (पैरा) एक में मिला दिए गए हैं और 'उग्र' शीर्षक के नीचे 'विनोद' की भी चर्चा हो गई है। पृ० १८३ और १९२ पर 'गहमर' और 'पं० कृष्ण शुक्ल' जैसे अशुद्ध नामों के उदाहरण हैं। बहुत से ग्रंथों का परिचय दिया गया है, पर नाम नहीं।

स्वतंत्र सम्मतियाँ भी लेखक की कुछ निराली ही हैं। उदाहरणार्थ 'द्वापर' और 'सिद्धराज' को प्रायः सभी ढंग के लोगों ने उत्तम कृतियाँ माना है। पर इस इतिहास में उन्हें हीन कोटि का लिखा गया है। इसी प्रकार प्रसाद को कहानी के आलोचकों ने कहानीकारों में ऊँचा स्थान दिया है, पर इस इतिहास की बृहत्त्रयी में उनका नाम नहीं है।

ऐसी अप्रिय भूलों के रहने पर भी ग्रंथ सावधान परीक्षार्थियों की सहायता कर सकता है, इसमें संदेह नहीं है।

—पद्म

सूचना—समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची स्थानाभाव के कारण अब अगले अंक में प्रकाशित होगी।

—संपादक।

विविध

उपनिवेशों में हिंदी-प्रचार

"सौ वर्ष से ऊपर हुए जब भारतीयों के प्रवास का सिलसिला अँगरेजों द्वारा अधिकृत नए नए उपनिवेशों में आरंभ हुआ। पेट की ज्वाला से पीड़ित हतभाग्य भारतीयों का समूह धीरे धीरे अतलांतिक महासागर से लेकर प्रशांत महासागर वक्ष द्वीप-पुंजों और महाद्वीप के विशाल कक्षों में फैल गया। काल के विपाक से हमारे इन प्रवासी बंधुओं की संख्या आज लगभग २६ लाख से ऊपर है।

"प्रवासी भारतीयों की अधिकतर संख्या संयुक्त प्रांत के पूर्वी भाग तथा बिहार से गए हुए लोगों की है। वैसे भारत के सभी प्रांतों के लोग उपनिवेशों में कुछ न कुछ मिल जाते हैं। मलाया तथा लंका में बहुत से मद्रासी मिलेंगे। इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीका और जंजीबार में गुजरातियों की भी अच्छी जन-संख्या है। पर ब्रिटिश गायना, डच गायना, ट्रिनीडाड, जमैका, दक्षिणी अफ्रीका, मारीशस और फिजी में पूर्वियों की ही संख्या अधिक है। इन्हीं लोगों के साथ इन उपनिवेशों में भारतीय वेशभूषा, भाषा और साहित्य एवं सभ्यता तथा संस्कृति जिस रूप में पहुँची उसके चिह्न अब भी वर्तमान हैं।

"भाषा की दृष्टि से प्रवासी भारतीयों के तीन विभाग किए जा सकते हैं। पहले वर्ग में उन लोगों की गणना की जा सकती है जो भारत से कुली-प्रथा के अनुसार उपनिवेशों में ५ साल के पट्टे पर मजदूर बनाकर भेजे गए। ये सीधे-सादे कृषक भाषा के सौंदर्य और संस्कृति के महत्त्व से कोसों दूर रहे। अपनी ग्रामीण भाषा में, जिसमें भोजपुरी और अवधी का प्राचुर्य था, ये बोलचाल का व्यवहार रखते थे। पर भारत के उपर्युक्त विभिन्न जिलों में भी उपभाषा-भेद के कारण उपनिवेशों में भावों के आपसी आदान-प्रदान की आधार-शिला पर एक विचित्र भाषा की सृष्टि हुई। इसमें भोजपुरी, अवधी आदि सभी समीपवर्ती

उपभाषाओं की स्पष्ट छाया है। पर मार्के की बात यह है कि इस मिश्रण के चक्र में भी हिंदीत्व की रूप-रेखा अक्षुण्ण रूप से वर्तमान है। आरंभ में यही प्रवासी भारतीयों की भाषा रही। तेलगू, तामिल, महाराष्ट्री, गुजराती एवं बंगाली जो भी थोड़े बहुत इन उपनिवेशों में पहुँचे उन्होंने भी इसी हिंदी का आश्रय लिया। इसे छोड़कर वे अपनी प्रांतीय भाषाओं में कार्य नहीं चला सकते थे। अतः बोलचाल की यही भाषा प्रवासी भारतीयों की राष्ट्र-भाषा समझी गई। पर गोरे मालिकों ने इसे हिंदी, हिंदुस्तानी अथवा किसी अन्य शब्द से संबोधित करने की अपेक्षा 'कुली-भाषा' का नाम देना ही उपयुक्त समझा। सरकार के कागजों में भी 'कुली-भाषा' का प्रयोग किया गया है। इस अपमानजनक नामकरण के विरुद्ध अपनी आवाज कौन उठाता? प्रवासी भारतीय स्वयं इन महत्त्वपूर्ण बातों से अनभिज्ञ थे और भारतीय अपनी उधेड़-बुन में व्यस्त थे।

"सौ सवा सौ वर्ष से यह भाषा बोली जाती रही है। आज भी ऊपर गिनाए गए उपनिवेशों में यत्र-तत्र इसी भाषा का प्रचलन है। भारत से जब तक मजदूर इन उपनिवेशों में जाते रहे तब तक इस भाषा की गति निर्बाध रही। पर अब कई वर्षों से इस भाषा की धारा सूखती जा रही है। पुराने भारतीय मजदूर ही इसकी रक्षा किए हुए हैं और जहाँ तक इस भाषा की शुद्धता की बात है वह इन्हीं तक सीमित है।

"इस बात की आशा रखना कि इन भारतीय मजदूरों की उपनिवेशों में उत्पन्न हुई संतति भी इसी प्रकार भाषा का व्यवहार करेगी असंभव है। पाश्चात्य विदेशी वातावरण का प्रभाव इन पर न पड़ता यह कैसे हो सकता था? अतः जहाँ तक इन वंशजों का प्रश्न है, ये लोग घरों में तो अँगरेजी-मिश्रित हिंदी बोलते हैं और बाहर केवल अँगरेजी का ही व्यवहार रखते हैं। यह दूसरा वर्ग है। इस प्रकार शनैः शनैः हिंदी का स्थान अँगरेजी लेती चली जा रही है। यदि हिंदी के संरक्षण का कोई प्रयत्न न हुआ तो लाखों की संख्या में प्रवासी भारतीय हिंदी की गोद से च्युत हो जायँगे और उनके भारतीयपन का द्योतक उनकी आकृति और वर्ण के अतिरिक्त और कुछ न रहेगा।

प्रवासी भारतीयों का तीसरा वर्ग वह है जिसके अंतर्गत हिंदू अथवा मुसलिम धर्म को छोड़कर ईसाई धर्म को अंगीकार करनेवाले तथा अन्यमतावम्बी संपन्न गृहस्थ हैं। इन दोनों समुदायों के लोग पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति में रँगे हुए हैं। इनकी भावनाओं का उद्गम-स्रोत यूरोप और अमेरिका के अंतस्तल में है। यदि ये अपने रंग को बदल सकते तो भारतीयता के इस चिह्न को विदाई देने से बाज नहीं आते। इनके घरों में बच्चे से बूढ़े तक केवल अँगरेजी बोलते हैं। छोटे छोटे शिशुओं को तुतलाती हुई आवाज में 'पापा', 'मामा' उच्चारण करते हुए सुनकर किस सच्चे भारतीय को हार्दिक वेदना न होगी ?

"भाषा की दृष्टि से प्रवासी भारतीयों की परिस्थिति की आलोचना करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अपनी संस्कृति के संरक्षण और प्रस्तार के नाम पर हमें अपने इन सुदूरवर्ती बंधुओं में संगठित रूप से हिंदी-प्रचार की योजना रखनी चाहिए। विश्व का कोई भी ऐसा उपयोगी विशाल कक्ष नहीं है जहाँ भारतीयों की थोड़ा बहुत संख्या न हो। ये ही भारतीय भाषा-प्रचार के वास्तविक केंद्र बन सकते हैं।

"अब हमें उन साधनों पर विचार करना है जिनके द्वारा हिंदी-प्रचार-योजना सफल बनाई जा सकती है। सर्वप्रथम, जिन उपनिवेशों में अधिक संख्या में भारतीय हैं वहाँ स्कूलों में हिंदी पढ़ाने के लिये सरकारी साहाय्य प्राप्त करना चाहिए। जब पहले पहल भारतीय उपनिवेशों में गए तो उनकी संतान को हिंदी पढ़ने के लिये कहीं कहीं पर सरकार ने व्यवस्था कर दी, पर धीरे धीरे वह नष्ट हो गई। दक्षिणी अमेरिका के डच गायना नाम के प्रदेश में, जहाँ भारतीयों की संख्या लगभग ३६ हजार है, डच सरकार ने आरंभ में हिंदी पढ़ाने के लिये स्कूलों में प्रबंध किया। कुछ भारतीय हिंदी पढ़ाने के लिये नियुक्त किए गए। पर कई वर्षों से इन स्कूलों से हिंदी उठा दी गई और भारतीय बच्चों को केवल डच ही पढ़ने के लिये विवश होना पड़ता है। अँगरेजी उपनिवेशों की भी अवस्था इसी प्रकार है। प्रवासी भारतीयों की जनसंख्या की दृष्टि से अतलांतिक महासागर की कुक्षि में ब्रिटिश गायना,

ट्रिनिडाड और जमैका विशेष महत्त्वपूर्ण देश हैं, जिनमें क्रमशः डेढ़ लाख, एक लाख पचपन हजार तथा अट्ठारह हजार भारतीय बसे हुए हैं। ब्रिटिश गायना और ट्रिनिडाड में भारतीयों की जनसंख्या सारी आबादी की एक तिहाई भाग है। पर स्कूलों में अँगरेजी के अतिरिक्त फ्रेंच और स्पैनिश को स्थान प्राप्त है, हिंदी का कोई नाम लेवा नहीं भी है।

"यदि उन सभी स्थानों पर, जहाँ प्रवासी भारतीय बसे हुए हैं, सरकार के पास उचित रूप से 'मेमोरियल' भेजे जायँ और कुछ उत्साही और अधिकारी लोग अपनी माँगों को रक्खें तो कोई कारण नहीं कि उनकी बातों की उपेक्षा की जाय। इस कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये समस्त उपनिवेशों में आंदोलन की आवश्यकता है जिसके संचालन और नियंत्रण का केंद्र नागरीप्रचारिणी सभा, काशी जैसी भारत की कोई गंभीर साहित्यिक संस्था हो।

"उपनिवेशों में हिंदी-प्रचार का दूसरा साधन उचित पुस्तकों का प्रकाशन है। भारत से भिन्न परिस्थिति होने के कारण पाठ्य-पुस्तकें भी विशेष प्रकार से लिखी होनी चाहिए। अँगरेजी माध्यम से ही उन्हें हिंदी का ज्ञान सरलता से हो सकता है। इस दिशा में दक्षिण हिंदी-प्रचार-समिति बहुत कुछ काम कर सकती है। मद्रास में हिंदी-प्रचार के रास्ते में जो कठिनाइयाँ आई हैं प्रायः उन्हीं कठिनाइयों का मुकाबला हमें उपनिवेशों में करना पड़ेगा।

"हिंदी-प्रचार का तीसरा साधन चित्र-पट है। आमोद-प्रमोद, सिनेमा आदि पश्चिमीय जीवन का एक विशेष अंग है। भारतीय सिनेमा के फिल्मों द्वारा प्रवासी-भारतीयों के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इन्हें भारत के नित्यप्रति जीवन का जहाँ ज्ञान होता है वहाँ भाषा को सुनते सुनते उसे सीखने की अभिलाषा होती है। सन् १९३५ ई० की बात है। ट्रिनिडाड के इतिहास में वह पहला अवसर था जब 'बाला जोबन' नाम का प्रथम चल-चित्र प्रदर्शित किया गया। सारे उपनिवेश में धूम सी मच उठी। प्रवासी भारतीयों को यह देखकर गर्व होता था कि उनके देश में भी बड़ी

बड़ी अट्टालिकाएँ, मोटरें तथा आधुनिक विज्ञान की वैभवशाली वस्तुएँ वर्तमान हैं। उन्हें भारत के संबंध में जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ था वह ईसाई मिश्नरी संस्थाओं द्वारा हुआ था। इन संस्थाओं से संबद्ध बंधुओं ने प्राय: भारत का ऐसा चित्रण किया था जिससे वह पूरा बर्बरों का देश साबित होता था। अत: भारतीय चल-चित्रों से इन धारणाओं का बहुत कुछ आपसे आप ही निराकरण हो जाता था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रवासी भारतीय नवयुवकों का हृदय यह जानकर उत्फुल्ल हो उठता था कि उनके देश की भी कोई सुलझी हुई प्यारी भाषा है जिसके प्रयोग में सौंदर्य और मार्दव है। हम लोगों के सैकड़ों व्याख्यानों का जो प्रभाव नहीं पड़ता वह कुछ चल-चित्रों के द्वारा सफल हुआ। कितने ही नवयुवकों ने भारतीय चल-चित्रों की भाषा समझने के लिये हिंदी पढ़ने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की।

"ऊपर कतिपय ऐसे साधनों की ओर संकेत किया गया है जिनके द्वारा उपनिवेशों में हिंदी-प्रचार को संगठित रूप दिया जा सकता है। कई ऐसे उपनिवेश हैं जहाँ बहुत सी भारतीय संस्थाएँ कार्य कर रही हैं और उनसे गौण रूप से हिंदी का प्रचार भी हो रहा है। ऐसे भूखंडों में दक्षिण अफ्रीका, मारीशस और फिजी का नाम लिया जा सकता है। भारतीय संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ मिश्नरी संस्थाएँ हैं जहाँ विदेशी लोग हिंदी के ज्ञाता और प्रेमी हैं। हिंदी-प्रेमी सज्जनों और संस्थाओं को स्थान स्थान पर संगठित कर यदि हिंदी-प्रचार का काम दृढ़ रूप से आरंभ कर दिया जाय तो निकट भविष्य में बोलनेवालों की संख्या और प्रसार की दृष्टि से हमारी भाषा को विश्व में एक अभूतपूर्व स्थान प्राप्त हो जाय।"

श्री सत्याचरण एम्० ए० बी० टी० ने उपनिवेशों में हिंदी-प्रचार के विषय में अपने अनुभव और विचार हमारे पास लिख भेजे हैं। कुछ संक्षेप के साथ हम उन्हें यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। सत्याचरणजी प्रवासी भारतीयों के बीच बहुत प्रचार-कार्य कर चुके हैं, अत: वे इस विषय में साधिकार लिखते हैं।

प्रवासी भारतीयों की विविध समस्याओं में उनकी भाषा-समस्या बड़ी शोचनीय है। अपनी भाषा को धीरे धीरे खोकर वे अपनी संस्कृति, सभ्यता और राष्ट्रीयता से भी एक मौलिक संबंध खो बैठ रहे हैं। उनकी और समस्याओं की ओर तो देश के विचारकों और सुधारकों का ध्यान जाता रहा है, उद्योग होते रहे हैं और उनके कुछ फल भी मिले हैं, परंतु इस भाषागत समस्या की ओर यथोचित ध्यान ही नहीं दिया गया है। कुछ व्यक्तियों और संस्थाओं ने अवश्य ध्यान दिया है और यथाशक्ति उद्योग किए हैं। पर सबल और संघटित उद्योग के बिना किसी विशेष फल की आशा ही क्या!

सौभाग्य से प्रवासी भारतीयों के पारस्परिक व्यवहार की अपनी भाषा हिंदी ही रही है, जो सहज ही भारत की प्रधान भाषा या राष्ट्र-भाषा है। अतः व्यवहार और संस्कार दोनों की दृष्टि से उनमें हिंदी की ही संवृद्धि आवश्यक है।

सत्याचरणजी ने जो विचार और परामर्श प्रस्तुत किए हैं उनकी ओर हम प्रत्येक राष्ट्राभिमानी और राष्ट्रभाषा (हिंदी-) प्रेमी व्यक्ति और संस्था का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

परामर्शदाता ने नागरीप्रचारिणी सभा की ओर संकेत किया है। सभा ने इस गुरु कार्य के संघटन के लिये यथा-शक्ति उद्योग किया है और कर रही है। उत्साही व्यक्तियों तथा संस्थाओं से उसका आग्रह है कि वे अपनी उदारता और सहयोग इस ओर भी बढ़ाएँ। फिर कोई कारण नहीं कि हमारा राष्ट्राभिमान और राष्ट्रभाषा-प्रेम यथेष्ट चरितार्थ न हो।

आभार-स्वीकृति

श्री शंभुप्रसाद बहुगुना, जिनका 'नंददास' शीर्षक लेख पत्रिका वर्ष ४४, अंक ४ में प्रकाशित हुआ है, लिखते हैं कि "उस लेख में पृष्ठ ४१३ पर 'सुदामा चरित' और 'सिद्धांतपंचाध्याई' का उल्लेख हुआ है। इनकी सूचना मुझे लखनऊ विश्वविद्यालय के सुविद्वान् प्रोफेसर श्री दीनदयाल जी गुप्त एम्० ए० एल-एल० बी० से मिली थी, जिनका

मैं इस सूचना के लिये आभारी हूँ। श्रद्धेय गुप्तजी के कथनानुसार उक्त दोनों पुस्तकें बाबू ब्रजरत्नदास के पास सुरक्षित हैं।"

बाबू ब्रजरत्नदास जी के संग्रह में बहुगुना जी के लेख में उल्लिखित नंददास की सभी रचनाएँ हैं।

एक विचारणीय शब्द

पत्रिका वर्ष ४४, अंक ४ के पृष्ठ ४२१ पर 'कुछ विचारणीय शब्द' शीर्षक 'चयन' प्रकाशित हुआ है। उसके संबंध में कलकत्ता से श्री विमलाचरण देव एम० ए० बी० एल० लिखते हैं कि "उसमें 'Tug of war' के प्रतिशब्द का विचार है। इस पर मुझे Wilson's Glossory की याद आई। उस पुस्तक में है—

Barra', Burra [H] A rope, especially one pulled on the 14th of the light half of the month kuar, by two opposing villages. The party that breaks it or drags it out of the hands of the other is regarded as victor and retains the character for a year, when the contest is repeated."

हिंदी शब्द सागर (ना० प्र० सभा) में 'बर्रा' शब्द का ऐसा ही अर्थ दिया है—"बर्रा—संज्ञा पु० [हिं० बरना] रस्से की खिंचाई जो कुआर सुदी चौदस (बाँटा चौदस) को गाँवों में होती है। जो लोग रस्सा खींच ले जाते हैं यह समझा जाता है कि वे साल भर कृतकार्य होंगे।"

बर्रा शब्द 'बरे' हुए या बटे हुए रस्से का वाचक है। लक्षणा से अथवा 'बर्रा-खिंचाई' के संक्षिप्त रूप में यह रस्सा-खिंचाई का अर्थ देता है। हमें प्रसन्नता होती यदि यह शब्द सर्वत्र टकसाली किया जा सकता। यह तो एक प्रादेशिक बोली का शब्द है और अब बहुत कम प्रचलित है। इसमें ऐसी शक्ति भी नहीं लक्षित होती कि इसे पुनरुज्जीवित किया जा सके। अतएव काका कालेलकर के 'गज-ग्राह' शब्द का हमने अनुमोदन किया है। उसमें एक प्रसिद्ध और आकर्षक संकेत है, अतः टकसाली हो जाने की शक्ति है।

जापानी अंतर्राष्ट्रीय निबंध-प्रतियोगिता

टोकिओ की कोकुसाइ बुंका शिंकोकाइ (अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संबंध सभा) ने इस वर्ष जापानी साम्राज्य के २६वें शताब्दि-महोत्सव के अवसर पर एक अंतर्राष्ट्रीय निबंध-प्रतियोगिता की योजना की है। इस प्रतियोगिता का विशेष उद्देश जापान के संबंध में शेष संसार की जानकारी बढ़ाना तथा पूर्वीय और पश्चिमीय सभ्यताओं के बीच सौहार्द और सहयोग के भावों की वृद्धि करना है।

निबंध निम्नलिखित विषयों में से किसी एक पर लिखा जाना चाहिए—

१—जापानी संस्कृति की विशेषताएँ
२—जापान और बाहरी देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान
३—विश्व में जापानी संस्कृति का स्थान

निबंधों पर निर्णय विषय, मौलिकता और निरूपण की दृष्टि से होगा। निबंध जापानी, चीनी, अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटालियन, पोर्चुगीज अथवा स्पेनिश में ८००० शब्दों के अंदर लिखा होना चाहिए।

३० सितंबर १९४० निबंध भेजने की अंतिम तारीख है। ३० नवंबर १९४० तक निबंध अवश्य उक्त सभा के पास पहुँच जाना चाहिए।

निबंधों के लिये सभा ने बड़े आकर्षक प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुरस्कारों की योजना की है।

उत्साही लेखकों को इस विषय में और जानकारी के लिये उक्त सभा को मेइजी-सेइमेई-कन, मरुनाउची, टोकिओ जापान के पते पर लिखना चाहिए।

—कृ।

———

सभा की प्रगति

सभा के सं० १९९६ के वार्षिक विवरण में गत चैत्र मास तक की प्रगति का विवरण दे दिया गया है। इस वर्ष २१ वैशाख को सभा का ४७ वाँ वार्षिक अधिवेशन हुआ जिसमें सं० १९९७ के लिये पदाधिकारियों तथा सं० १९९७–९८ के लिये प्रबंध-समिति के सदस्यों का चुनाव हुआ। सभा के पदाधिकारियों तथा प्रबंध-समिति के सदस्यों की उक्त चुनाव के बाद की नामावली नीचे दी जाती है—

पदाधिकारी

सं० १९९७ के लिये

सभापति–पं० रामचंद्र शुक्ल, दुर्गाकुंड, काशी।
उपसभापति–पं० रामनारायण मिश्र, कालभैरो, काशी।
उपसभापति–पं० रमेशदत्त पांडे, बरना का पुल, काशी।
प्रधान मंत्री–पं० रामबहोरी शुक्ल, क्वींस कालेज, काशी।
अर्थमंत्री–बाबू जीवनदास, अग्रवाल महाजनी पाठशाला, काशी।
साहित्यमंत्री–बाबू रामचंद्र वर्मा, सरस्वती फाटक, काशी।

प्रबंध-समिति के सदस्य

सं० १९९७–९८ के लिये

बाबू राधेकृष्णदास, शिवाला, काशी। श्री सहदेव सिंह एडवोकेट, बड़ी पियरी, काशी। राय सत्यव्रत, लहरतारा, बनारस छावनी। श्री कृष्णानंद, ३।१७८ अर्दली बाजार, बनारस छावनी। रायबहादुर श्री रामदेव चोखानी, ठि० दौलतराम रामदेव बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता। डा० सच्चिदानंद सिनहा, पटना। पं० जगद्धर शर्मा गुलेरी, पंजाब कृषि महाविद्यालय, लायलपुर। पं० चंद्रबली पांडे, ठि० मुं० महेशप्रसाद आलिमफाजिल, अमेठी कोठी, नगवा, बनारस। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, आर्यनगर, लखनऊ। पं० भोलानाथ शर्मा, बरेली कालेज, बरेली। श्री भँवरलाल नाहटा, संपादक 'राजस्थान', बंदर बाजार, सिलहट। बाबू मूलचंद्र अग्रवाल, विश्वमित्र कार्यालय, १४।१ ए, शंभू चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता। बाबू लक्ष्मीनारायण सिंह सुधांशु, जिला बोर्ड, पूर्णिया।

सं० १९९७–९८ के लिये

बाबू मुरारीलाल केडिया, नंदन साहु की गली, बनारस। पं० केशवप्रसाद मिश्र, भदैनी, काशी। बाबू ठाकुरदास एडवोकेट, राजादरवाजा, काशी। राय साहब ठाकुर शिवकुमार सिंह, वैजनत्था, बनारस। श्री दत्तो वामन पोतदार, १०८ शनिवार पेठ, पूना। श्री व्योहार राजेंद्र सिंह, साठिया कुआँ, जबलपुर। श्री सरदार माधवराव विनायकराव साहब किबे, इंदौर छावनी। बाबू भजरतदास एडवोकेट, बुलानाला, काशी। पं० श्यामसुंदर उपाध्याय, सेक्रेटरी, जिला बोर्ड, बलिया। पं० श्रीचंद्र शर्मा, रघुनाथ स्ट्रीट जम्मू। डा० हीरानंद शास्त्री, डाइरेक्टर आव् आर्कियालजी, बड़ौदा राज्य, बड़ौदा। श्री सा० नागप्पा, ९४४ चामुंडी बढ़ावण मैसूर। श्री पी० वी० आचार्य, आल इंडिया रेडियो, मद्रास।

सं० १९९७ के लिये

बाबू कृष्णदेव प्रसाद गौड़, २०८ बड़ी पियरी, काशी। राय कृष्णदास, रामघाट, काशी। श्री वंशगोपाल झिंगरन, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, कोल्हुआ, बनारस। पं० विद्याभूषण मिश्र, थियासाफिकल गर्ल्स कालेज, बनारस। बाबू हरिहरनाथ टंडन, सेंट जांस कालेज, आगरा। पं० अयोध्यानाथ शर्मा, सनातनधर्म कालेज, कानपुर। पं० रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, नहर मुहल्ला, अजमेर। श्रीमती कमलाकुमारी, २९९ सराय गोवर्धन, काशी। स्वा० हरिनामदासजी उदासीन, श्रीसाधुवेला तीर्थ, सक्खर, सिंध। श्री सुधाकर जो, शारदा मंदिर लि०, नई सड़क, दिल्ली। श्री सत्यनारायण लोया, मारवाड़ी हिंदी पुस्तकालय ७७५ रेजिडेंसी बाजार, हैदराबाद दक्षिण। श्री जी० सच्चिदानंद, १०५५, नंदराज, अग्रहर, मैसूर। श्री पुरोहित हरिनारायण जी शर्मा, तहबीलदार का रास्ता, जयपुर।

उपसमितियाँ

प्रबंध-समिति के ५ ज्येष्ठ १९९७ के अधिवेशन में सभा के भिन्न भिन्न विभागों की उपसमितियाँ इस प्रकार बनाई गईं—

साहित्य उपसमिति	संयोजक	साहित्य-मंत्री।
लिपि और भाषा उपसमिति	,,	श्री चंद्रबली पांडे।
अर्थ उपसमिति	,,	अर्थ-मंत्री।
बिक्री उपसमिति	,,	श्री बैजनाथ केडिया।
पुस्तकालय उपसमिति	,,	एवं निरीक्षक श्री कृष्णदेव-प्रसाद गौड़।
संकेतलिपि उपसमिति	,,	श्री निष्कामेश्वर मिश्र।

खोज विभाग

इस वर्ष खोज-विभाग के निरीक्षक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल और सहायक निरीक्षक श्री विद्याभूषण मिश्र चुने गए।

संपादक-मंडल

नागरीप्रचारिणी-पत्रिका के संपादक-मंडल का चुनाव इस प्रकार हुआ—

श्री रामचंद्र शुक्ल श्री मंगलदेव शास्त्री

श्री केशवप्रसाद मिश्र श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

श्री कृष्णानंद (संपादक)

'प्रसाद' व्याख्यानमाला

व्याख्यानमाला के संयोजक श्री विद्याभूषण मिश्र चुने गए

३१ वैशाख १९९७ तक सभा में २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन.	प्रयोजन
१२ वै० ९७	श्री सुधीरकुमार बसु	२५)	श्रीरामप्रसाद समादरकोष
२६ ,, ,,	श्री काशीप्रसाद, कोठी श्री किशोरीलाल मुकुंदी-लाल, काशी।	२५)	कला-भवन
२७ ,, ,,	मेहता श्री फतहलाल साहब, उदयपुर	४००)	,,
,, ,, ,,	,, ,,	१००)	स्थायी कोष
२८ ,, ,,	श्रीमती रामदुलारी दुबे, अजमेर	१००)	,, ,,
		६५०)	

नोट—जिन सज्जनों के चंदे किश्त से आते हैं उनके नाम पूरे चंदे प्राप्त होने पर प्रकाशित किए जायँगे।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

✓ (१) **मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था**—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

✓ (२) **मध्यकालीन भारतीय संस्कृति**—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

✓ (३) **कवि-रहस्य**—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १)

✓ (४) **अरब और भारत के संबंध**—लेखक, मौलाना सैयद सुलेमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

✓ (५) **हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता**—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६)

(६) **जंतु-जगत्**—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल-एल० बी० । सचित्र । मूल्य ६।।)

✓ (७) **गोस्वामी तुलसीदास**—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीताबरदत्त बड़थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

✓ (८) **सतसई-सप्तक**—संग्रहकर्ता रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६)

(९) **चर्म बनाने के सिद्धांत**—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३)

(१०) **हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट**—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०, मूल्य १।)

(११) **सौर-परिवार**—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

✓ (१२) **अयोध्या का इतिहास**—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०, सचित्र । मूल्य ३) ।

(१३) **घाघ और भड्डरी**—संपादक, पं० रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३)

(१४) **वेलि किसन रुकमणी री**—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

✓ (१५) **चंद्रगुप्त विक्रमादित्य**—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

✓ (१६) **भोजराज**—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य कपड़े की जिल्द ३।।); सादी जिल्द ३)

✓ (१७) **हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी**—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य कपड़े की जिल्द १।।); सादी जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज्ल। मूल्य १।)।

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम॰ ए॰, डी॰ लिट्॰ (पेरिस)। मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकर-सहाय सक्सेना। मूल्य कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम॰ ए॰। मूल्य कपड़े की जिल्द ४॥); सादी जिल्द ४)

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन॰ सी॰ मेहता, आई॰ सी॰ एस्॰। सचित्र। मूल्य सादी जिल्द ६), कपड़े की जिल्द ६॥)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम बी॰ ए॰। मूल्य ॥)

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरिरामचंद्र दिवेकर, एम॰ ए॰, डी॰ लिट्॰ (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य कपड़े की जिल्द २); सादी जिल्द १॥)

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम॰ ए॰, डी॰ लिट्॰। मूल्य १।)

(२७) राजस्व—लेखक, श्री भगवानदास केला। मूल्य १)

(२८) मिना—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम॰ ए॰, डी फिल॰। मूल्य १)

(२९) प्रयाग-प्रदीप—लेखक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव, मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३॥)

(३०) भारतेंदु हरिश्चंद्र—लेखक, श्री ब्रजरत्नदास, बी॰ ए॰, एल-एल॰ बी॰। मूल्य ५)

(३१) हिंदी कवि और काव्य (भाग १)—संपादक, श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम॰ ए॰, एल्-एल॰ बी॰। मूल्य सादी जिल्द ४॥); कपड़े की जिल्द ५)

(३२) हिंदी भाषा और लिपि—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम॰ ए॰, डी॰ लिट्॰ (पेरिस)। मूल्य ॥)

(३३) रंजीतसिंह—लेखक, प्रोफेसर सीताराम कोहली, एम॰ ए॰। अनुवादक, श्री रामचंद्र टंडन, एम॰ ए॰, एल्-एल्॰ बी॰। मूल्य १)

प्राप्ति-स्थान—हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के
प्रतिनिधि पुस्तकविक्रेता

जिनके यहाँ सभा की सब पुस्तकें प्राप्त हो सकती हैं—

१—इंडियन प्रेस, बुकडिपो, प्रयाग।
शाखाएँ—बनारस, जबलपुर, पब्लिशिंग हाउस आगरा, पटना, लाहौर, छपरा।
२—ज्ञानमंडल पुस्तक भंडार, चौक, काशी।
३—हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बंबई।
४—राजस्थान पुस्तक मंदिर, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर।
५—साहित्य रत्न भंडार ५३ ए, सिविल लाइन, आगरा।
६—भार्गव पुस्तकालय, चौक, काशी।
७—इंडियन बुक शाप, थियासाफिकल सोसाइटी, काशी।
८—साहित्य निकेतन, कानपुर।
९—दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, त्यागराय नगर, मद्रास।
१०—सस्ता साहित्यमंडल, दिल्ली।
शाखाएँ—अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ; बड़ा सराफा, इंदौर।
११—पंजाब संस्कृत बुकडिपो, नया बाजार, पटना।
१२—श्री अनंतराम वर्मा, जवेरी बाग, इंदौर।
१३—विद्यामंदिर, सर्गासूली, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर।
१४—हिंदी पुस्तक भंडार, हीराबाग, बंबई ४।
१५—मानससरोवर साहित्य निकेतन, मुरादाबाद।
१६—हिंदी भवन, हास्पिटल रोड, अनारकली, लाहौर।
१७—हिंदी साहित्य एजेंसी, बाँकीपुर, पटना।
१८—हिंदी कुटिया „ „ „
१९—हिंदी पुस्तक एजेंसी, ज्ञानवापी, काशी।
शाखाएँ—२०३ हरिसन रोड, कलकत्ता; दरीबा कलाँ, दिल्ली, गनपत रोड, लाहौर; (बाँकीपुर) पटना।
२०—शारदा मंदिर लि०, नई सड़क, दिल्ली।
२१—सरस्वती प्रेस बुकडिपो, बाँस का फाटक, काशी।
शाखाएँ—अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ; खजूरी बाजार, इंदौर; जीरो रोड, इलाहाबाद।

—

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४५—अंक २ [नवीन संस्करण] श्रावण १९९७

भृगुवंश और भारत

[लेखक—भारतदीपक डा॰ विष्णु सीताराम सुकथनकर एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰]

मूल लेख अँगरेजी भाषा में the Bhrgus and The Bhārata नाम से भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना की त्रैमासिक मुखपत्रिका के अक्तूबर १९३८ के अंक में प्रकाशित हुआ है। इसके लेखक डा॰ सुकथनकर हैं जो पूना से प्रकाशित होनेवाले महाभारत के संशोधित संस्करण के संपादक हैं। लेख के विशेष गौरव के कारण इसका विशद भावार्थ यहाँ प्रकाशित किया जाता है। हम भंडारकर इंस्टीट्यूट की पत्रिका के संपादक महोदय के और लेखक के विशेष आभारी हैं, जिन्होंने इसके अनुवाद की अनुमति सहर्ष प्रदान की।

महाभारत राष्ट्रीय महत्त्व का ग्रंथ है। यह लेख उसके पाठ-विकास के संबंध में नया प्रकाश डालता है। संक्षेप में इसकी स्थापना यह है। महाभारत में भार्गव-सामग्री का अत्यधिक सन्निवेश है। भृगुओं की कितनी ही कथाएँ कई बार महाभारत के उपाख्यानात्मक भाग में सम्मिलित की गई हैं। वैदिक साहित्य में भी जो भार्गव गौरव अज्ञात था वह पहली बार महाभारत में पाया जाता है। भरत-वंश की सीधी-सादी युद्ध-कथा में भार्गव-वंश की सामग्री कैसे मिल गई? अपने आप ऐसा हो गया हो सो बात नहीं। जान बूझकर भार्गव-कथाओं के मेल से मूल भारत ग्रंथ को महाभारत का रूप दिया गया। पुरानी कथाओं को और

वर्णनों को भार्गव-रंग में रंजित किया गया। व्यास का यह कार्य नहीं था। उनकी चतुर्विंशति साहस्री संहिता का नाम भारत था। वैशंपायन ने भी यह परिवर्धन नहीं किया। अकेले उग्रश्रवा सूत ने भी एक बार में यह परिष्कार कर दिया हो, यह भी संभव नहीं है। असल बात यह है कि महाभारत का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण भार्गवों के प्रबल और साक्षात् प्रभाव के अंतर्गत तैयार किया गया। यह कार्य कई शताब्दियों में संपन्न हुआ होगा। महाभारत एक काव्य था। उसका पाठ भी तरल अवस्था में था। किसी गाढ़े समय में सूतों के द्वारा मूल भारत भार्गव-प्रभाव में आया और महाभारत रूप में परिवर्धित होकर वापिस मिला। शांति और अनुशासन पर्वों में जो धर्म और नीति-परक अंश हैं वे भी भार्गव-प्रभाव के फल हैं। भरतवंश की युद्ध-कहानी के बदले नए रूप में महाभारत एक धर्म-ग्रंथ बन गया। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे। उन्होंने भरतवंश से भी पहले भार्गववंश की कथा सुनने की इच्छा प्रकट की। आदिपर्व में आज तक महाभारत के दो प्रारंभ पाए जाते हैं, एक अ० १ में भारत का, दूसरा अ० ४ में महाभारत का भार्गव प्रारंभ। लेखक की स्थापनाओं का सारांश उपसंहार में देखना चाहिए।

—अनुवादक, वासुदेवशरण अग्रवाल

भृगु वंश का इतिहास अत्यंत रोचक और प्राचीन है[१]। संस्कृत शब्द भृगु और यूनानी फ्लेगु (Phlegu) की समानता को देखकर डा० वेबर का अनुमान था कि इन दोनों नामों का निकास एक ही मूल शब्द से हुआ। शतपथ ब्राह्मण में दिए हुए (श० ११-६-१) भृगु-वारुणी के उपाख्यान के विषय में उनका विचार था कि यह उस युग का है जब भारतीय और यूरोपीय आर्य एक साथ रहते थे। डा० वेबर का यह भी विचार था कि इस उपाख्यान से मिलती-जुलती कथा यूनानी गाथाशास्त्र में भी है। ध्वनि-साम्य पर आश्रित वेबर साहब

१—भृगुओं के विशद वर्णन के लिये देखिए Encyclopædia of Religion and Ethics (हेस्टिंग्ज द्वारा संपादित), ई० सीग कृत भृगु-संज्ञक लेख। वैदिक साहित्य में भृगुओं के वर्णन के लिये दे० मैक्डानल और कीथ कृत वैदिक इंडेक्स, 'च्यवन' 'भृगु', आदि लेख।

की यह सूझ अन्य विद्वानों को नहीं जँची। जो हो, यह निश्चय है कि भृगुओं का वंश अत्यंत प्राचीन है और उनके कुछ उपाख्यान बहुत ही पुराने हैं। वैदिक संहिताओं से लेकर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के साहित्य में और महाभारत एवं पुराणों में भृगुओं की चर्चा उत्तरोत्तर क्रम से बढ़ती हुई पाई जाती है।

भृगुओं के आख्यान बड़े रोचक हैं। भारतीय गाथाशास्त्र के कई विद्वानों को इन कथाओं में नए अर्थ की प्रतीति हुई। बेरगेञ् (Bergaigne) के विचार में अग्नि का ही एक नाम भृगु था और भृगु उपाख्यान अग्नि के अवतरण की प्राचीनतम कथा का ही विकसित रूप है। डा० कुन्ह और बार्थ भृगु को विद्युत् का प्रतीक समझते हैं और कुन्ह ने अग्नि अवतरण की यूनानी कथा का समन्वय वैदिक कथा के साथ करने का प्रयत्न किया। वेबर का मत पहले लिखा जा चुका है। यह तो भार्गवों के प्राचीनतम उपाख्यानों की बात हुई। इनकी उत्तरकालीन कथाएँ भी कम भारी-भरकम नहीं हैं। परशुराम इसके एक उदाहरण हैं जिन्होंने पितृभक्ति के आवेश में माता की हत्या को भी कुछ नहीं गिना; सब क्षत्रियों का अंत करके विष्णु के अवतार का गौरव प्राप्त किया। परशुराम की कथा लोक में खूब ही प्रचलित हुई। उनके नाम के तीर्थ देश भर में फैले हुए हैं।

रोचक होते हुए भी भार्गव-कथाओं के अर्थों का व्याख्यान करना हमारा उद्देश्य नहीं है। इस निबंध का ध्येय यह है कि महाभारत ग्रंथ में भार्गवों का जहाँ जहाँ वर्णन है उन सब स्थलों का संग्रह करके यह तुलनात्मक विचार करें कि भृगुओं के संबंध में महाभारत की प्रमाण-सामग्री क्या है। महाभारत भृगुवंश-संबंधी कथाओं की खान है। ये कथाएँ संख्या में सब से अधिक हैं और इतर पुराणों की अपेक्षा महाभारत में मिलनेवाला इनका स्वरूप भी अत्यंत विचित्र है। इसलिये भारतीय उपाख्यानों के सनातन कल्पवृक्ष इस ग्रंथराज की छाया में खड़े होकर हम कुछ समय के लिये भार्गव-कथाओं पर दृष्टिपात करना चाहते हैं। यह कथाएँ जिस रूप में

कही गई हैं, इनकी जो पुनरावृत्ति हुई है और इनमें जो परस्पर विसंवाद हैं उन सब पर हम विचार करना चाहते हैं। महाभारत में जितना कि प्रायः समझा जाता है उससे कहीं अधिक भार्गव वंश की सामग्री है, और कितने ही नए भार्गवों का उल्लेख है।

अपनी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हमारा यह प्रयास महाभारत के मूल पाठ संशोधन से ही संबंध रखता है। अनेक वर्षों से इस पर परिश्रम करने के कारण यह विषय हमारे लिये अत्यंत रोचक बन गया है। परंतु इस निबंध के अंत में हमने यह दिखलाने की भी कोशिश की है कि हमारी विवेचना के फल-स्वरूप यह कहाँ तक संभव है कि हम मूल महाभारत के ऊपर पड़े हुए पर्दे को कुछ कुछ उठाकर उसके अज्ञात प्राचीनतम इतिहास को देख सकें।

महाभारत में पर्वों और अध्यायों के क्रम से एक तरफ से आरंभ करके हम भृगुओं के उपाख्यानों का यहाँ विचार करेंगे। भार्गव-संबंधी कुल अवतरणों की संख्या बहुत अधिक है, अतः उनमें से जो महत्वपूर्ण हैं उनको ही यहाँ लिया जायगा।

नीचे भृगुओं का एक वंश-वृक्ष दिया जाता है जो महाभारत से ही तैयार किया गया है। यह अत्यंत संक्षिप्त जान पड़ता है जिसमें बीच बीच में बहुत सी कड़ियाँ छूट गई हैं परंतु फिर भी इसकी सहायता से आगे के वर्णनों को पाठक सरलता से समझ सकेंगे।
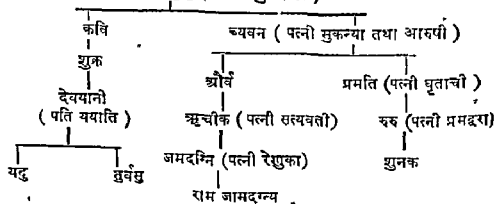
आदिपर्व

आदिपर्व के दूसरे अध्याय का नाम है पर्वसंग्रहपर्व। इसे महाभारत की विषय-सूची कहना चाहिए। इसमें राम जामदग्न्य का नाम आया है। इसका प्रसंग यों है। यह सब जानते हैं कि जिस स्थान पर महाभारत का युद्ध हुआ था वह कुरुक्षेत्र कहलाता था, जैसा कि गीता के शुरू में ही कहा है—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव...............॥

परंतु लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा नाम के सूत, जो नैमिषारण्य में शौनक के बारह वर्ष के सत्र में महाभारत की कथा सुना रहे हैं, इस स्थान को कुरुक्षेत्र न कहकर समंतपंचक के नाम से पुकारते हैं। आरंभ में ही उनका कहना है कि उन्होंने समंतपंचक नामक पुण्यतीर्थ के दर्शन किए हैं, और वस्तुतः वे उस समय वहाँ से आए हुए थे (१।१।११ प्रभृति)[१] —

समंतपंचकं नाम पुण्यं द्विजनिषेवितम्।
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत्पुरा॥
पाण्डवानां कुरूणां च सर्वेषां च महीक्षिताम्॥
दिदृक्षुरागतस्तस्मात्समीपं भवतामिह।

१—पहला अंक महाभारत के पर्व को, दूसरा अध्याय को और तीसरा श्लोक को इंगित करता है। मूल लेख में आदिपर्व के उद्धरण पूना के संशोधित संस्करण से दिए गए थे। शेष पर्वों के लिये चित्रशाला प्रेस से प्रकाशित साधारण संस्करण काम में लाया गया था। अब विराटपर्व और उद्योगपर्व के संशोधित संस्करण भी छप चुके हैं और उद्धरणों के अंक उन्हीं से दे दिए गए हैं।—अनुवादक

इससे श्रोताओं को कुछ जानने का कुतूहल हुआ। तदनुसार दूसरे अध्याय में चलते ही ऋषियों ने सूतजी से प्रश्न किया कि यह समंतपंचक क्या है, इसके विषय में हम जानना चाहते हैं (१।२।१)—

समंतपंचकमिति यदुक्तं सूतनंदन।
एतत्सर्वं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामहे वयम्॥

और सूत ने इस पर जो कथा सुनाई उससे यह जाना गया कि समंतपंचक भार्गवों का तीर्थ था जो कुरुक्षेत्र के आसपास था। वस्तुतः सूतजी के वर्णन से यह बात मालूम हो जाती है कि यह वही पवित्र स्थान था जहाँ त्रेता और द्वापर युग की संधि में शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ (शस्त्रभृतां वरः १।२।३) भार्गव राम ने क्षत्रिय वंश का उन्मूलन करने के बाद रक्त के पाँच सरोवर, जो संभवतः गोलाई में होने के कारण समंतपंचक कहलाए, भर दिए थे और जहाँ पर उन्होंने अपने पितरों का तर्पण करके उनसे यह वर प्राप्त किया था कि यह शोणित-ह्रद पवित्र जलतीर्थ के रूप में परिणत हो जावेंगे (१।२।३ प्रभृति)—

त्रेताद्वापरयोः संधौ रामः शस्त्रभृतां वरः।
असकृत्पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः॥
स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः।
समंतपंचके पञ्च चकार रुधिरह्रदान्॥
स तेषु रुधिराम्भस्सु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः।
पितॄन्संतर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम्॥

तुरंत बाद ही नवें श्लोक में यह बताया है कि कुरु-पांडवों का युद्ध इसी समंतपंचक में लड़ा गया था (१।२।९)—

अन्तरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समंतपंचके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः॥

इससे यह मालूम हुआ कि कुरुक्षेत्र का ही दूसरा नाम समंतपंचक था। प्रत्यक्ष है कि यह उस स्थान का भार्गव-नाम था। लोक में भार्गव-नाम विस्मृत हो गया, कुरुक्षेत्र नाम ही प्रचलित रह गया। अब भी प्रतिवर्ष सूर्य-ग्रहण के समय लाखों यात्री अपने महान् पूर्वजों

के रक्त से पवित्र हुए कुरुक्षेत्र के तीर्थों में स्नान करने के लिये एकत्र होते हैं।

आदिपर्व में इसके बाद भार्गव राम का वर्णन अध्याय ५८ में आया है। विषय प्रायः वही है। किस प्रकार सब देवताओं ने इस पृथ्वी पर अवतार लिया, इस प्रसंग के आरंभ में ही भार्गव राम के सर्व-क्षत्रांतक पराक्रम का वर्णन किया गया है (१।५८।४)—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेंद्रे पर्वतोत्तमे॥ (१)

इस श्लोक की पहली पंक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। महाभारत में यह बार बार दुहराई गई है। कृष्ण द्वैपायन ने महात्मा पांडवों के तथा अन्य तेजस्वी क्षत्रियों के यशःप्रचार के लिये जिस महाग्रंथ की रचना की उसके कोने कोने में इस श्लोकांश की विजय-ध्वनि गूँजती हुई सुनाई पड़ती है (१।५६।२५)—

कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यचिकीर्षुणा।
कीर्त्तिं प्रथयता लोके पांडवानां महात्मनाम्।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम्॥

क्षत्रियों को नामशेष करके जब भार्गव राम महेंद्र पर्वत पर तप करने चले गए तब क्षत्रिय कुल की स्त्रियाँ पीछे रह गईं और क्षत्रियों की परंपरा के अस्त होने की आशंका उत्पन्न हो गई (आदि० अ० ५८)। क्षत्रियों के निर्बीज होने पर उनकी स्त्रियों ने ब्राह्मणों से संतान के लिये प्रार्थना की और इस प्रकार पुनः क्षत्रिय-वंश का सूत्रपात हुआ। यह दूसरा क्षत्र-कुल, जो ब्राह्मणों से समुत्पन्न था, धर्म-वृद्धि को प्राप्त हुआ और एक बार फिर ब्राह्मण-प्रमुख चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था स्थापित हुई (१।५८।८,१०)—

एवं तद्ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः।
जातमृध्यत धर्मेण सुदीर्घेणायुषान्वितम्।
चत्वारोऽपि तदा वर्णा बभूवुर्ब्राह्मणोत्तराः॥

....

ताः प्रजाः पृथिवीपाल धर्मव्रतपरायणाः ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव विमुक्ताः सर्वशो नराः ॥

इस स्वर्णयुग के अनंतर देवासुर-संग्राम में हारकर स्वर्ग से भागे हुए असुरों ने युद्ध को जारी रखने के लिये इस पृथिवी पर राजकुलों में जन्म लिया, और इस तरह फिर से धरती पर अत्याचारी राजा हुए। इस दु:ख से घबराकर पृथिवी ब्रह्मा के पास गई और ब्रह्मा ने उसका भार हलका करने के लिये आज्ञा दी कि सब देवी-देवता, गंधर्व और अप्सरा असुरों से युद्ध करने के लिये पृथिवी पर जन्म लें।

देवों के अंशावतार की इस कथा में चतुराई के साथ भार्गव राम का चरित्र शामिल करके यह प्रकट किया गया है कि ब्राह्मण वस्तुत: क्षत्रियों के उत्पादक बने। शांतिपर्व में अ० ४८। ४९ यही कथा श्रीकृष्ण के मुख से कहलाई गई है और यह मानते हुए भी कि भार्गव राम ने बहुत से क्षत्रियों को मार डाला, यह कहा गया है कि कुछ क्षत्रिय छिपकर बच गए थे और जब भार्गव राम तप करने चले गए तब उन क्षत्रियों ने फिर से राज्य सँभाल लिया। पर आदिपर्व की इस कथा में तो वैशंपायन इस विषय में निस्संदिग्ध हैं कि राम के क्षत्रमेध में सभी क्षत्रिय काम आ गए थे और ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की पुनरुत्पत्ति नए सिरे से की।

आदिपर्व के अध्याय ६० में देवादिक विविध भूतों की सृष्टि का वर्णन करते हुए, थोड़े से विषयांतर के साथ, भार्गवों की वंशावली भी दे दी गई है। इस अध्याय में केवल यही ब्राह्मण-वंशावली रखी गई है।

इस सृष्टि-विषयक वर्णन में कहा गया है कि ब्रह्मा के ६ मानस पुत्र हुए और स्थाणु (शिव) के ११, जो ग्यारह रुद्र कहलाए। मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु, ब्रह्मा के ये ६ मानस पुत्र हैं; इस सूची में भृगु का नाम नहीं है। ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से दक्ष और बाएँ से दक्षपत्नी हुई। दक्ष के ५० कन्याएँ हुईं, जिनमें से १३ का विवाह मरीचि के पुत्र कश्यप के साथ हुआ। कश्यप की

संतान देव और असुर कहलाए। देवगण का कीर्तन करने के बाद इस प्रकरण में तुरंत भृगु और उनके वंशजों का वर्णन आता है (१।६०।४०)—

ब्रह्मणो हृदयं भित्वा नि.सृतो भगवान्भृगुः।

देवों के अनुप्रसंग में ही भृगु का नाम संभवतः उनके उच्च पद को प्रकट करता है। यह वंशावली अत्यंत संक्षिप्त है और इसमें राम जामदग्न्य से निःसृत भार्गव शाखा के वंशजों के ही नाम हैं। ब्रह्मा के हृदय को भेदकर उत्पन्न हुए भृगु इस शाखा के पूर्व पुरुष कहे गए हैं। परंतु अनुशासन पर्व अध्याय ८५ में भृगु की उत्पत्ति अग्नि में पड़े हुए प्रजापति के रेत से कही गई है। इसका कुछ समर्थन वैदिक साहित्य में मिलता है, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण (३।३४) में कहा है कि प्रजापति का रेत त्रेधा विभक्त हुआ और उससे आदित्य, भृगु और अंगिरा उत्पन्न हुए। इसके विपरीत पंचविंश ब्राह्मण (१८।६।१) के अनुसार भृगु और उन दोनों की उत्पत्ति वरुण से कही गई है। तैत्तिरीय उपनिषद् १।३।१।१, शत० ब्राह्मण ११।६।१।१, तैत्तिरीय आरण्यक ९।१ में भी भृगु को वरुण का पुत्र कहा गया है; वरुण से ही उन्हें ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। अनुशासन पर्व में दी हुई भृगुजन्म की कथा में उपर्युक्त मतों का कुछ समन्वय पाया जाता है। इसके अनुसार शिव वरुण के रूप में यजन कर रहे थे। ब्रह्मा उसमें अधिष्ठाता थे और दूसरे देवता और देवियाँ भी उपस्थित थीं। सुंदरी देवांगनाओं को देखकर ब्रह्माजी का रेत स्खलित हुआ। उसे मंत्रों के साथ उन्होंने अग्नि में आहुत कर दिया। उसके द्वारा यज्ञीय अग्नि से तीन पुरुष उत्पन्न हुए। जो जलती हुई ज्वालाओं से उत्पन्न हुआ वह भृगु कहलाया, अंगारों से अंगिरा हुए और बुझे हुए कोयलों से कवि उत्पन्न हुए। यह अनुश्रुति आदिपर्व के एक प्रक्षिप्त श्लोक में (आदि० २१६*), जो उत्तरी भारत की अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है, पाई जाती है—

भृगुर्महर्षिर्भगवान् ब्रह्मणा वै स्वयंभुवा।
वरुणस्य क्रतौ जातः पावकादिति नः श्रुतम्॥

इसमें स्पष्ट कहा है कि स्वयंभू ब्रह्मा ने वरुण को यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न किया है।

आदिपर्व अ० ६० में दी हुई वंशावली के अनुसार भृगु के दो पुत्र थे, कवि (जिनके लड़के शुक्र हुए) और च्यवन। शुक्र और च्यवन के बारे में महाभारत में बड़ी लंबी चौड़ी कथाएँ हैं। च्यवन के बाद वंशावली इस प्रकार दी हुई है—च्यवन-और्व-ऋचीक-जमदग्नि-राम[१]। ऋचीक को छोड़कर अन्य सब भार्गवों के पराक्रमों की विस्तृत कथाएँ महाभारत में मौजूद हैं। आदिपर्व अ० ७१ से ८० में ययाति की प्रसिद्ध कथा (ययात्युपाख्यान) है जिसमें शुक्र और उनकी गर्वीली कन्या देवयानी का प्रमुख भाग है। पार्जिटर के अनुसार ययाति से पांडवों तक १९ पुश्तों का फर्क है इसलिये यद्यपि पांडवों की कथा से उस उपाख्यान का संबंध नहीं के बराबर है फिर भी ययाति उपाख्यान को, भार्गव रंग में रँगे होने के कारण, महाभारत में किसी पुराणांतर से अपना लिया गया।

अध्याय ७० में वैशंपायन ने चंद्रवंश का थोड़ा सा वर्णन किया है जिसमें ययाति और उनके पाँच पुत्रों का हवाला है। पर जनमेजय को इससे संतोष नहीं हुआ और उन्होंने वैशंपायन से प्रार्थना की कि महाराज ययाति की कथा, जो कि प्रजापति से दस पीढ़ी बाद हुए (दशमो यः प्रजापतेः १।७१।१।), विस्तार से सुनाइए। ययाति की कथा इस प्रकार है—

अंगिरा के लड़के बृहस्पति देवों के गुरु थे। भार्गव शुक्र, जिनका नाम काव्य उशना भी है, असुरों के गुरु थे। अन्य भार्गवों की भाँति शुक्र भी मंत्रविद्या में प्रवीण थे। उन्हें मृतक को फिर से जीवित करने की संजीवनी नामक विद्या का ज्ञान था। बृहस्पति इसमें कोरे थे। इसलिये असुरों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध करने में देवों को अड़चन पड़ती थी।

१—परशु रखने के कारण भार्गव राम का एक नाम परशुराम भी प्रसिद्ध है, पर यह नाम महाभारत में कहीं नहीं मिलता।

अतः देवों के कहने से बृहस्पति-पुत्र कच संजीवनी सीखने के लिये शुक्राचार्य के, जो उस समय असुरराज वृषपर्वा के पुरोहित थे, शिष्य बनकर रहे। शुक्राचार्य की कन्या देवयानी बे सोचे समझे कच से प्रेम करने लगी। कच ने उसके विवाह के प्रस्ताव को नम्र भाव से, पर दृढ़ता के साथ, अस्वीकार कर दिया। एक दिन जब वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा और शुक्र-कन्या देवयानी नदी-स्नान को गई थीं तब नदी-तट पर रखे हुए उनके वस्त्रों को इंद्र ने एक में मिला दिया जिसके कारण शर्मिष्ठा ने भूल से देवयानी के कपड़े पहिन लिए। इस पर दोनों में कहा-सुनी हुई और शर्मिष्ठा ने देवयानी को घास-फूस से भरे हुए एक अंधे कुएँ में ढकेल दिया। वह वहाँ पड़ी थी कि राजा ययाति ने आकर उसको कुएँ से निकाला और शुक्र की अनुमति से उससे विवाह कर लिया। इससे पहले ही अपने कुछ उजड्ड व्यवहार के कारण शर्मिष्ठा देवयानी की दासी बन चुकी थी इसलिये विवाह के समय उसे देवयानी के साथ ययाति के घर जाना पड़ा। कुछ दिन तक तीनों मजे में रहे। शुक्राचार्य ने ययाति को सचेत कर दिया था कि वह शर्मिष्ठा के शरीर का स्पर्श न करे। परंतु विलासी ययाति से यह न हो सका और शर्मिष्ठा ने, इस युक्ति से कि उसके ऋतु-धर्म की रक्षा करना उसका परम धर्म है, ययाति को फुसलाकर उससे तीन पुत्र उत्पन्न किए। देवयानी के कुल दो ही पुत्र थे। एक दिन अकस्मात् देवयानी पर सारा भेद खुल गया। वह क्रोध से काँपती हुई अपने पिता के घर पहुँची और सारी कथा कही। शुक्राचार्य ने क्रोध में भरकर ययाति को शाप दिया कि उसका यौवन नष्ट हो जाय और बुढ़ापा घेर ले। ययाति बूढ़े हो गए। पीछे से तरस खाकर शुक्राचार्य ने वरदान दिया कि ययाति चाहे तो अपना बुढ़ापा किसी के यौवन से बदल सकता है। ययाति ने अपने पाँचों पुत्रों से यौवन माँगा। परंतु शर्मिष्ठा की कोख से उत्पन्न सब से छोटे पुत्र पुरु के सिवा और कोई राजी न हुआ। उसकी पितृ-भक्ति से प्रसन्न होकर ययाति ने आगे चलकर उसी को राज्य दिया।

इस कथा में हम देखते हैं कि भार्गव-वंशी देवयानी के हर तरह पो बारह हैं। बेचारी शर्मिष्ठा पीछे डाल दी गई है। हाँ, अंत में अवश्य शर्मिष्ठा के लड़के पुरु को राज्य मिलता है। ययाति उपाख्यान में शर्मिष्ठा की उपेक्षा होने पर भी हम देखते हैं कि उसकी गणना आदर्श पतिव्रता नारियों में की गई है। कालिदास के अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक में अपनी प्यारी पुत्री शकुंतला को आशीर्वाद देते हुए काश्यप कण्व ऋषि को शर्मिष्ठा का उदाहरण ही सर्वोत्तम जँचा—

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।

अर्थात् जैसे ययाति के यहाँ शर्मिष्ठा पूजी गई वैसे तुम भी पति के यहाँ आदर पाओ।

भार्गव राम के द्वारा क्षत्रियों के नाश और ब्राह्मणों से उनकी उत्पत्ति का जिक्र आदिपर्व के अ० ९८ में तीसरी बार फिर आया है। भीष्म और सत्यवती का संवाद हो रहा है। शंतनु-पुत्र चित्रांगद और विचित्रवीर्य की अकाल-मृत्यु से कुरुकुल का उच्छेद हो जाने के कारण सत्यवती भीष्म से प्रस्ताव करती है कि वह विचित्रवीर्य की स्त्रियों के साथ संतान उत्पन्न करे। भीष्म ने अखंड ब्रह्मचर्य का व्रत लिया है इसलिये वे इस प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं। उन्होंने सलाह दी कि किसी ब्राह्मण के नियोग से पुत्र उत्पन्न कराओ। इस आपद्धर्म के समर्थन के लिये जो कथा भीष्म ने कही वह वही भार्गव राम की पुरानी कथा है। अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिये भार्गव राम ने हैहयवंशी कार्त्तवीर्य अर्जुन को मार डाला और फिर धनुष उठाकर अपने दिव्य अस्त्रों से अनेक बार क्षत्रियों का विध्वंस किया। इस प्रतापी भृगु-वंशज ने २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्र कर दिया (१।९८।३)

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा। (२)

इस आपत्काल में धर्मात्मा ब्राह्मणों ने क्षत्रिय-स्त्रियों में बीज-वपन करके फिर क्षत्रियों के उत्सन्न कुलों को जीवित किया। सत्यवती को भी इसी युक्ति से कुरुवंश की रक्षा करनी चाहिए।

अब तक भार्गवों के पुराने चरित्रों का वर्णन आता रहा है। अ० १२१ में पहली बार महाभारत के एक जीवित पात्र का एक भार्गव से संपर्क देखा जाता है। इस पुराण-मिश्रित इतिहास में यह आवश्यक नहीं कि सब कथाएँ समसामयिक घटनाओं के आधार पर ही हों, इसलिये जो भार्गव राम कुछ देर पहले त्रेता और द्वापर की संधि में वर्तमान थे वे द्वापर और कलियुग के बीच में होनेवाले आचार्य द्रोण के गुरु बताए गए हैं। संभव है, यह शिष्यपना केवल लाक्षणिक हो; क्योंकि द्रोण कौरव, पांडव और दूसरे वीर क्षत्रियों के गुरु थे और भारत-युद्ध के अगुआ वीरों में से थे, इसलिये उनका भी कोई गुरु होना चाहिए। भार्गव राम से, जो सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ थे (सर्वशस्त्रभृतां वरः), अच्छा गुरु और कौन होता ? एक बार इसे स्वीकार कर लेने पर कथा को अच्छी तरह माँज डाला गया। यह बताया गया है कि विद्या पढ़कर जब द्रोण गृहस्थ हुए, उन्हें गरीबी ने सताया। उन्होंने सुना कि भार्गव राम ब्राह्मणों को धन बाँट रहे हैं। कथाकार के लिये इसमें झिझक की बात न थी; क्योंकि राम चिरजीवी हैं। जब द्रोण पहुँचे, राम वन जाने को तैयार थे। उन्होंने कहा—जो धन था, मैं ब्राह्मणों को दे चुका, यह पृथ्वी भी मैंने अपने पुरोहित कश्यप को दे डाली, और अब एक पार्थिव शरीर और दूसरे दिव्य अस्त्रों को छोड़कर मेरे पास कुछ नहीं बचा, तुम जो चाहो ले लो। द्रोण ने दिव्य अस्त्र माँग लिए। भार्गव राम ने प्रसन्नतापूर्वक उन अस्त्रों को दे दिया और साथ ही उनकी विद्या भी द्रोण को सिखला दी। द्रोण की यह कथा संक्षेप के साथ अ० १५४ में फिर आई है। द्रौपदी के स्वयंवर में जाते हुए पांडवों को एक ब्राह्मण उसे सुनाता है।

आदिपर्व अ० १६९ से १७२ में फिर भार्गव इतिहास आता है जिसका नाम औौर्वोपाख्यान है। वस्तुतः यह विषयांतर के भीतर विषयांतर है।

जब पांडव द्रुपद की राजधानी की ओर यात्रा कर रहे थे, मार्ग में गंधर्वाधिपति चित्ररथ अंगारपर्ण उनको रोकता है और अर्जुन से

हारकर उसका मित्र बन जाता है। इस प्रसंग में कुशल कथाकार ने कुछ कहानियाँ जड़ दी हैं जो विषयांतर मात्र हैं और कथा-प्रसंग से जिनका संबंध नहीं के बराबर है। इसी में वशिष्ठ का उपाख्यान भी है। कहा जाता है कि कान्यकुब्ज के अधिपति विश्वामित्र ने वशिष्ठ की कामधेनु गौ को छीनना चाहा। उसमें असफल होकर वे तप करने लगे और अंत में वे ब्राह्मण पदवी को प्राप्त हुए। इसी में आगे यह कहा है कि सुदास-पुत्र कल्मार्षपाद को वशिष्ठ-पुत्र शक्ति ने शाप देकर नरमांसभक्षी बना दिया और उसने अपने इस राक्षसी कर्म का प्रारंभ वशिष्ठ के पुत्रों से ही किया। अंत में वशिष्ठ ने उसको इस शाप से मुक्त किया। उपाख्यान के अंतिम भाग में यह कहा है कि उन्होंने अपने प्रपौत्र, शक्ति के पुत्र, पराशर को, जो सारे संसार को भस्म करने पर उतारू हो गया था, भार्गव और्व की कथा सुनाकर समझाना चाहा। यहाँ यह स्पष्ट है कि वशिष्ठ-उपाख्यान के भीतर भार्गव-उपाख्यान सम्मिलित कर दिया गया है। और्व की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

किसी समय हैहय-वंश के कृतवीर्य नामक राजा थे। भृगु-वंशी ब्राह्मण उनके पुरोहित थे। राजा ने अपने पुरोहितों को बहुत धन दिया। उनके बाद उनके लड़कों ने वह धन भृगुओं से वापिस माँगा। भृगुओं ने उसमें से कुछ लौटा दिया, सब नहीं। ऐसा हुआ कि एक बार भृगुओं की बस्ती में खुदाई करते हुए क्षत्रियों को बहुत सा कोष मिल गया। यह सोचकर कि भृगुओं ने जान-बूझकर धन छिपाया है, उन राजाओं ने बे सोचे समझे भृगुओं का वध करना आरंभ कर दिया और गर्भवती स्त्रियों तक को न छोड़ा। कुछ भार्गव स्त्रियाँ भागकर हिमालय में छिप गईं। एक स्त्री ने अपने गर्भ को ऊरु भाग में छिपा रखा। उससे और्व का जन्म हुआ जिनके तेज से सारे हैहय अंधे हो गए। दुखी होकर वे उस स्त्री से क्षमा याचना करने लगे। इस पर उसने कहा—

जाती रही हैं। भृगुवंश के नाश को देखकर मैंने इस कुमार को एक शत वर्ष तक अपनी जंघा में छिपा रखा। भृगुवंश के कल्याण के लिये इनको गर्भ में ही सांग वेद प्रतिभासित हो गए। ये ही तुम्हारे नाश के कारण हैं। यदि तुम इन और्व को प्रसन्न कर सको तो तुम्हारी नेत्र-ज्योति तुम्हें प्राप्त हो सकती है'। इतना सुनकर क्षत्रियों ने और्व से क्षमा माँगी और और्व ने उन्हें क्षमा दान दिया। परंतु भार्गव-वंश के साथ हुए उस अन्याय को वे भूले नहीं और पाप से भरे हुए इस जगत् का क्षय करने के लिये घोर तप करने लगे। उनके तप से सारे लोक आकुल हो गए। तब और्व के पितरों ने आकर उनसे कहा—हे पुत्र! तुम्हारे तप के प्रभाव को हमने देख लिया। अब शांत होकर लोकों को क्षमा करो। उन पितरों ने यह भी कहा कि क्षत्रिय निर्दोष थे। भृगुओं ने स्वयं ही अपने नाश का यह उपाय रचा था। बेचारे क्षत्रियों की क्या शक्ति थी जो तपस्वी भार्गवों को छू सकते। वस्तुत: भार्गव लोग अपने जीवन से ऊब गए थे पर उनके तप से मृत्यु उनके पास न फटकती थी और आत्मघात करना भी उचित न था। इसी लिये उन तेजस्वी ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के साथ वैर मोल ले लिया। अन्यथा मोक्षाभिलाषी उन महात्माओं को धन की लिप्सा कैसे हो सकती थी? और्व ने कहा कि यह सत्य है, परंतु संसार को दग्ध करने के लिये जो क्रोधाग्नि प्रज्वलित हुई है उससे यदि जगत् का नाश न हुआ तो वह स्वयं मुझको ही जला देगी। पितरों ने कहा—हम इसका उपाय बताते हैं। तुम इस रोषाग्नि को जल में डाल दो, जल इस जगत् का आदि-कारण और प्रतिष्ठान है। और्व ने ऐसा ही किया।

इस कथा में भार्गव-उपाख्यानों की कुछ बातें स्पष्ट झलकती हैं। प्रथम क्षत्रियों के साथ युद्ध, दूसरे आततायी राजाओं के दंड देने के लिये तेजस्वी भार्गव कुमार का जन्म और अंत में उस जिघांसा से निवृत्ति कराने के लिये पितरों का आना। राम, और्व, च्यवन आदि के भार्गव-उपाख्यानों में यह प्रसंग मिलते-जुलते हैं।

सभापर्व

सभापर्व में ८१ अध्याय और लगभग २७०० श्लोक हैं। इसकी कथा सुग्रथित है। युधिष्ठिर की सभा के निर्माण से लेकर उनके दूसरी बार द्यूत-क्रीड़ा में निरत होने तक की कथा गंभीर गति से आगे बढ़ती है। इसमें विषयांतर बहुत कम हैं और उपाख्यान नहीं के बराबर हैं। सिर्फ दो बार कथा-प्रसंग कुछ बहक गया है। शुरू में अध्याय ५ से १२ तक नारद के द्वारा प्रश्नों की रीति से राजधर्म का वर्णन है और पुनः इंद्र, यम, वरुण, कुबेर और ब्रह्मा की सभाओं का वर्णन है। अ० १७ से १९ तक कृष्ण ने जरासंध के पूर्व जन्म का वृत्तांत कहा है। फलतः इस पर्व में भार्गव-सामग्री बहुत ही स्वल्प है। कई बार संकेत-रूप से उनका उल्लेख है। भृगु, मार्कंडेय, राम, जामदग्न्य आदि प्रख्यात भार्गव ऋषि ऊपर लिखी हुई देवसभाओं में उपस्थित कहे गए हैं। युधिष्ठिर की सभा में भी वे उपस्थित कहे गए हैं। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय में भी उनका वर्णन है। १४ वें अध्याय में भार्गव राम के द्वारा क्षत्रिय-वध की घटना का संकेत आता है। यह कथा सूतजी को कभी विस्मृत नहीं होती। विषय से असंबद्ध होने पर भी राजसूय के सामान की तैयारी के समय कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि इस समय के क्षत्रिय जामदग्न्य राम के द्वारा नाश को प्राप्त हुए पहले क्षत्रियों की तुलना में हीन हैं (२। १४।२)—

> जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम्।
> तस्मादवरजे लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम्॥

जिस प्रकार आचार्य द्रोण के धनुर्वेद में गुरु राम जामदग्न्य कल्पित किए गए उसी भाव से प्रेरित होकर भीष्म का गुरु भी उन्हीं को कहा गया है। इस बात का विस्तार आगे चलकर उद्योगपर्व के अंबोपाख्यान में किया गया है जो कि प्रक्षिप्त अंश है। दुर्योधन के परम मित्र कर्ण के साथ भी राम का वही संबंध बतलाया गया है। शिशुपाल की दृष्टि में अर्घ पाने के लिये यह भी कर्ण का एक गुण था (२।३७।१५)—

अयञ्च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबल: ।
जामदग्न्यस्य दयित: शिष्यो विप्रस्य भारत ॥
येनात्मबलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिता: ।
तं च कर्ममतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयार्चित: ॥

आरण्यकपर्व

यह पर्व प्राचीन कथाओं और उपाख्यानों का महाकोष है। इसमें भार्गव-सामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। कथा सुनाने में भी एक भार्गव ने काफी भाग लिया है। भृगु-संबंधी पहला अवतरण तीर्थयात्रापर्व में है। अ० ८२ प्रभृति में सन्निविष्ट तीर्थ-वर्णन पहले पुलस्त्य ऋषि ने भीष्म को सुनाया था; फिर उसी को नारद ने युधिष्ठिर के आगे कहा है। यह तीर्थों की श्लोकबद्ध सूची है जिसमें तीर्थ का नाम, धर्मकृत्य और पुण्यफल-प्राप्ति का वर्णन है। इस नीरस तालिका में बहुत कम स्थानों पर तीर्थ के माहात्म्य-संबंधी दो-एक प्रश्न पूछकर कोई कोई कथा जोड़ दी गई है। इसी सूची में राम-ह्रदों का भी उल्लेख है (३।८३।२६) जिनके वर्णन में ३२ पंक्तियाँ लिखी गई हैं। यहाँ भी वही भार्गव राम और क्षत्रियों के वध की कथा है, जो इस चौथी आवृत्ति में इस प्रकार है—

महातेजस्वी और पराक्रमी राम ने युद्ध में काम आए हुए क्षत्रियों के शोणित से पाँच ह्रद भर दिए। उससे उन्होंने पितरों का तर्पण किया। प्रसन्न होकर पितरों ने दर्शन दिए और कहा—हे महाभाग! हम तुम्हारी पितृभक्ति से प्रसन्न हैं। हे भार्गव! इच्छानुसार वर माँगो। यह सुनकर प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ राम ने (राम: प्रहरतां वर:—३।८३।३१) हाथ जोड़कर निवेदन किया—यदि आप प्रसन्न हैं तो कृपया यह वर दीजिए कि पुन: तपस्या करने में मुझे प्रीति उत्पन्न हो। आपके अनुग्रह से क्षत्रिय-वध-जनित मेरे पाप धुल जावें और ये शोणित के ह्रद संसार में प्रसिद्ध पवित्र तीर्थ बन जावें। पितर लोग इन वचनों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने भार्गव राम की

तीनों इच्छाओं को पूरा करनेवाले वर दिए। वर देकर पितर अदृश्य हो गए। इस प्रकार तेजस्वी भार्गव के वे ह्रद अत्यंत पवित्र तीर्थ बन गए। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके जो इन ह्रदों में स्नान करता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

पाठक देखेंगे कि यह कथा लगभग वही है जो पहले समंत-पंचक के बारे में कही जा चुकी है। वस्तुतः समंतपंचक का ही दूसरा नाम राम-ह्रद जान पड़ता है। आदिपर्व के दूसरे अध्याय में सूतजी ने केवल चार श्लोकों में ऋषियों से यह कथा कही थी। यहाँ उपयुक्त विस्तार से उसका वर्णन हुआ है।

कुछ ही अध्याय बाद भृगु तीर्थ के वर्णन-प्रसंग में (३।९९।३४ प्रभृति) एक विचित्र कथा आती है जिसमें विष्णु के ही दो अवतार जामदग्न्य राम और दाशरथि राम में द्वंद्व दिखलाया गया है। कथा इस प्रकार है—एक बार जामदग्न्य राम दाशरथि राम से मिलने और उनकी परीक्षा लेने के लिये अयोध्या गए। दाशरथि राम उनकी अगवानी के लिये अपने राज्य की सीमा पर आए परंतु जामदग्न्य राम ने उनका बहुत अनादर किया, तथापि दाशरथि राम ने अपने प्रतिद्वंद्वी के दिए हुए धनुष को झुकाकर एक बाण चलाया जिससे सारे संसार में खलबली मच गई और जामदग्न्य राम भी घबड़ा गए। इसके बाद दाशरथि राम ने अपना विश्वरूप दिखलाकर उनको और भी नीचा दिखाया। उनका तेज क्षीण हो गया और लज्जित होकर वे महेंद्र पर्वत पर चले गए। पीछे भृगु तीर्थ में उन्होंने अपना तेज प्राप्त किया। युधिष्ठिर से कहा गया है कि वह दुर्योधन के साथ संघर्ष में खोए हुए अपने तेज को पाने के लिये उस तीर्थ में स्नान करें। यह हास्यास्पद कथा महाभारत में बहुत हाल में मिलाया हुआ प्रक्षेप है। वैसे भी मूल पाठ की दृष्टि से यह असंबद्ध है और अगस्त्य-उपाख्यान के अधबिच में बड़े भद्दे ढंग से जुड़ा हुआ है। इसकी रचना-शैली भी निकृष्ट है। जिन भार्गव-राम के लिये समस्त महाभारत में ऊँचे सम्मान का भाव पाया जाता है उन्हीं की अवज्ञा

प्रदर्शित करनेवाली यह कथा बिलकुल बेसुरी है। हस्तलिखित प्रतियों के आधार से भी यह प्रक्षिप्त सिद्ध होती है। दक्षिण की प्रतियों मे इसका कहीं नाम नहीं है। काश्मीरी प्रतियों में भी यह नहीं पाई जाती और देवनागरी अक्षरों में लिखी कुछ प्राचीन प्रतियों में भी नहीं है। महाभारत के रामोपाख्यान के साथ इस बेतुकी कथा की कोई संगति नहीं लगती और न कहीं इसका वर्णन है। रामायण में अवश्य इसी ढंग की एक कथा है परंतु आरण्यकपर्व में इसकी मिलावट किसी मूढ लेखक ने अभी हाल में ही कर दी है—ऐसा जान पड़ता है।

इसके बाद के ही अध्याय १०० में फिर भार्गव दधीचि की कथा है। लोमश ऋषि कह रहे हैं कि कालकेय नामक असुरों ने वृत्र की अध्यक्षता में देवताओं को तंग करना शुरू किया। वे रक्षा के लिये ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने उन्हें भार्गव दधीचि के पास, उनकी हड्डियाँ माँगने के लिये, भेजा। दधीचि ऋषि ने त्रिलोकी के कल्याण की कामना से तुरंत अपना शरीर दे दिया। दधीचि की हड्डियों से विश्वकर्मा ने वज्र का निर्माण किया जिससे इंद्र ने असुरों को हराया। दधीचि की कथा बलदेवजी के तीर्थयात्रा-प्रसंग में (शल्यपर्व अ० ५१) फिर कही गई है।

कुछ ही अध्याय आगे चलकर जब युधिष्ठिर अपने साथियों के साथ महेंद्र पर्वत पर पहुँचे जिसे राम ने, जो अब सब कुछ त्यागकर सन्यासी बन गए थे, अपना निवासस्थान बना लिया था तो कथावाचक सूत को भार्गव राम के चरित्र की पूरी रूपरेखा खींचने का एक अच्छा अवसर मिल गया। (आरण्यक अ० ११५ से ११७ तक)।

गंगासागर में स्नान करने के बाद पांडव कलिंग देश में वैतरणी के पास पहुँचे जहाँ कश्यप का अग्निकुंड था। वे महेंद्र पर्वत पर ठहरे और उन्होंने वहाँ भार्गव राम के ही अकृतव्रण नामक एक शिष्य से राम का उपाख्यान सुना। यह कथा इस प्रकार है—

कान्यकुब्ज के राजा गाधि वन में तप करने के लिये गए। वहाँ उनके एक सुंदरी कन्या का जन्म हुआ। उसका नाम सत्यवती था। भार्गव ऋचीक ने उससे ब्याह करना चाहा। गाधि को यह बात कुछ अच्छी न लगी और उससे बचने के लिये उन्होंने विशेष रंग के एक हजार घोड़े माँगे। ऋचीक ने घोड़े लाकर दे दिए और उसका पाणिग्रहण किया। उसी समय किसी भृगु ने (संभवतः यह और्व थे) नव दंपती से सामने प्रकट होकर वधू को यह वर दिया कि वह और उसकी माता एक एक तेजस्वी पुत्र को जन्म देंगी। शर्त यह थी कि सत्यवती उदुंबर वृक्ष का और उसकी माता अश्वत्थ का आलिंगन करे और दोनों अलग अलग पात्र में विशेष प्रकार का मंत्रपूत चरु भक्षण करें। संयोग से इस विधि में उलट-फेर हो गया, जिसके फल-स्वरूप सत्यवती के गर्भ से क्षत्रिय-गुणों से युक्त ब्राह्मण और उसकी माता के गर्भ से ब्राह्मणगुणोत्पन्न क्षत्रिय के जन्म की संभावना उपस्थित हुई। भृगु को मंत्र-बल से यह विदित हो गया और उन्होंने सत्यवती से सब हाल कहा। उसकी प्रार्थना पर उन्होंने एक वरदान और देकर उस संभाव्य फल को कुछ काल के लिये स्थगित कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि सत्यवती की कोख से जमदग्नि उत्पन्न हुए जो ब्राह्मण थे। उनके पुत्र राम हुए जिनमें क्षत्रियत्व का दोष प्रकट हुआ और मार-काट तथा युद्ध की प्रवृत्ति प्रबल हुई। शांतस्वभाव जमदग्नि को भी सब दिव्य अस्त्रों का ज्ञान स्वयं प्राप्त हो गया। राजा प्रसेनजित् की कन्या रेणुका से उनका विवाह हुआ। उससे पाँच पुत्र हुए—रुमण्वान्, सुषेण, वसु, विश्वावसु और राम। एक दिन मार्त्तिकावतक के राजा चित्ररथ को अपनी रानियों के साथ जलक्रीड़ा करते देखकर रेणुका को कामभाव उत्पन्न हुआ। आश्रम में लौटने पर उसका भेद जमदग्नि ने जान लिया और अपने पुत्रों से उसका वध करने को कहा। चार पुत्रों ने अपने पिता की आज्ञा न मानी, परंतु राम जामदग्न्य ने अपने सैनिक स्वभाव के कारण, पिता की आज्ञा के अनुसार, झटपट अपने फरसे से माँ का सिर अलग कर दिया। जमदग्नि

ने खुश होकर राम को कई वर दिए जिनमें रेणुका का जीवनदान भी एक था। कुछ दिन शांति से बीतने के बाद कार्त्तवीर्य सहस्रबाहु अर्जुन जमदग्नि के आश्रम में आए। भार्गवों ने उनका उचित आदर-सत्कार किया, परंतु कृतघ्न राजा ने अपने घमंड में चूर होकर आश्रम की कामधेनु के बच्चे को पकड़कर साथ ले लिया (वसिष्ठ-विश्वामित्र-उपाख्यान की कामधेनु के समान यह कृत्य है)। बस, यहीं से महावैर का सूत्रपात हुआ। राम ने पहले उद्धत कार्त्तवीर्य को मार डाला। बदले में उसके पुत्रों ने आश्रम में घुसकर प्रतिरोध न करने-वाले जमदग्नि को मार दिया। लौटने पर राम अपने पिता की दशा देखकर आगबबूला हो गए और प्रचंड पराक्रम से न केवल कार्त्तवीर्य के पुत्रों का बल्कि उनके अनुगत समस्त क्षत्रियों का भी २१ बार वध कर डाला और समंतपंचक में पाँच शोणित-ह्रदों की स्थापना की (३।११७।६)—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान्॥ (३)

इन्हीं ह्रदों में खड़े होकर राम ने पितरों का तर्पण किया, जिस पर ऋचीक प्रकट हुए और उनका निवारण किया। इसके बाद प्रतापी राम ने एक बड़े यज्ञ से इंद्र को प्रसन्न करके पृथिवी कश्यप को दान में दे दी और स्वयं महेंद्र पर्वत पर चले गए।

बाद के कथावाचकों ने अन्य भार्गव-कथाओं की भाँति इस कथा में भी साढ़े ग्यारह श्लोकों (३।११५।६-१६) का एक क्षेपक मिला दिया। इसमें राम को विष्णु का अवतार कल्पित करने के अतिरिक्त हैहय अर्जुन के पूर्व दुष्कर्मों का भी वर्णन है। यह अंश दक्षिणी काश्मीरी और कुछ देवनागरी प्रतियों में भी लुप्त है।

भार्गव राम की यह कथा, जिसको मिथ्या ही कार्त्तवीर्योपाख्यान भी कहा जाता है, महाभारत के प्रचलित संस्करण के ११७वें अध्याय में समाप्त हो जाती है। अ० १२२ में फिर एक भार्गव-कथा है जिसमे भृगु-पुत्र च्यवन का चरित्र है।

पांडव लोग तीर्थों में घूमते हुए पयोष्णी और नर्मदा के तट पर पहुँचे। वहाँ शर्याति-यज्ञ का स्थान दिखलाकर लोमश ने उन्हें च्यवन की निम्नलिखित कथा सुनाई—

भृगु-पुत्र च्यवन ने इसी सरोवर के किनारे इतना अधिक तप किया कि उनको लताओं ने और बाँबी ने ढक लिया। एक दिन वहाँ राजा शर्याति अपनी पुत्री सुकन्या के साथ आए। वन में विचरती हुई सुंदरी सुकन्या को देखकर च्यवन का मन कुछ पिघल गया और उन्होंने बाँबी के भीतर से ही धीमे स्वर में कुछ कहा जो सुकन्या को सुनाई न पड़ा। उस चंचल राजपुत्री ने बाँबी में से चमकती हुई दो आँखों को देखकर कुतूहलवश काँटे से उन्हें बींध दिया। उसने अनजाने ही ऐसा किया पर इसका परिणाम भयंकर हुआ और ऋषि के क्रोध से सेना का मल-मूत्र रुद्ध हो गया। घबराए हुए राजा की समझ में कुछ कारण न आया तब राजपुत्री ने उनसे अपना अपराध स्वीकार किया। तुरंत शर्याति तपोवृद्ध च्यवन के पास आए और उन्होंने हाथ जोड़कर क्षमा-याचना की। च्यवन ने यह शर्त रखी कि तुम अपनी कन्या को सेवा के लिये मुझे दो। राजा ने इसे मान लिया और सुकन्या को देकर वे नगर को लौट आए। कुछ दिन बाद अश्विनीकुमार वहाँ से निकले और सरोवर में नहाती हुई सुंदरी सुकन्या को देखकर उस पर मोहित हो गए। उन्होंने विवाह का प्रस्ताव किया। सुकन्या ने न माना। उन्होंने फिर कहा—हम तुम्हारे पति को यौवन देकर रूप-संपन्न कर दें तब उसमें और हम दोनों में से तुम किसी एक को चुन लो। च्यवन की अनुमति से सुकन्या ने इसे स्वीकार कर लिया। तब रूपार्थी च्यवन को अश्विनों ने उस सरोवर में स्नान करने को कहा। तीनों ने एक साथ डुबकी लगाई और सब एकसा दिव्य रूप लेकर बाहर आए और सुकन्या से कहा—हममें से जिसे चाहो, एक को पति चुन लो। सुकन्या के समक्ष नल-दमयंती जैसी दुविधा उत्पन्न हुई परंतु अपनी भक्ति के प्रताप से उसने च्यवन को ही चुन लिया। कृतज्ञ च्यवन ने नासत्यों (अश्विनों) से

कहा—मैं आपसे प्रसन्न हूँ। आप दोनों को यज्ञ के सोम-पान में भाग दिलाऊँगा (तस्माद्युवां करिष्यामि प्रीत्याऽहं सोमपीथिनौ)। शर्याति ने जब यह सुना, वे अपनी पुत्री और जामाता से मिलने आए। सत्कार के बाद च्यवन ने कहा—हे राजन्! हम तुम्हें यज्ञ कराएँगे। इस यज्ञ में पहली बार शर्याति ने अश्विनों को सोम की पहली आहुति दी। इससे पहले, वैद्य होने के कारण, उनको सोम की आहुति नहीं मिलती थी। इंद्र ने इसे रोकना चाहा। च्यवन ने न माना तब इंद्र ने उन पर अपना वज्र चलाया परंतु च्यवन ने प्रहार करती हुई इंद्र की भुजा को जहाँ का तहाँ मंत्र-बल से रोक दिया और मद नाम की एक कृत्या उत्पन्न की जिसने इंद्र का पीछा किया। इंद्र ने हारकर च्यवन का पक्ष मान लिया और ऋषि ने दोनों अश्विनों को सोमपान कराया। तब से सब देवों के समान अश्विनीकुमारों को भी यज्ञ में सोम का भाग मिलने लगा। इंद्र ने क्षमा माँगकर कहा—मैंने तो शर्याति की कीर्त्ति को फैलाने के लिये ही ऐसा किया था। च्यवन के पिता भृगु ने तो अग्नि को सर्वभक्ष होने का शाप दिया था (१।६।१३), स्वयं च्यवन ने देवराज इंद्र को भी नीचा दिखा दिया।

अ० १२६ में एक भार्गव के आश्रम में सौद्युम्नि युवनाश्व पुत्र के लिये तप कर रहे हैं। एक पात्र में रानी के गर्भाधान के लिये भार्गव के द्वारा मंत्रपूत जल रक्खा गया था। रात को प्यासे राजा ने भूल से उसे पी लिया। मंत्र के बल से राजा के गर्भ रह गया और उनकी बाईं कोख से मांधाता का जन्म हुआ। द्रोणपर्व अ० ६२ में भी थोड़े भेद से यह कथा है। राजा युवनाश्व मृगया के लिये वन में गए थे। थके प्यासे होकर दूर से उन्होंने आश्रम का धुआँ देखा। वहाँ जाकर वेदी के पास रक्खा हुआ आज्य उन्होंने खा लिया जिससे गर्भ रह गया। अश्विनीकुमारों की सहायता से मांधाता का जन्म हुआ। इस कथा में न पुत्रार्थी राजा के तप का वर्णन है और न रात में उठकर अनजान में कलश का जल पीने का। संभवतः कथा का यह सीधा-सादा रूप अधिक पुराना है।

आरण्यकपर्व में इसके बाद आनेवाले भार्गव मार्कंडेय हैं। ५० अध्यायों के लंबे संवाद में (मार्कंडेय-समास्यापर्व अ० १८२-२३२), जिसमें २२०० श्लोक हैं, काम्यक वन में पांडवों को विभिन्न विषय सुनाए गए हैं। वनवास के आरंभ में द्वैत वन में भी मार्कंडेय पांडवों से मिल चुके थे। अंत के करीब फिर युधिष्ठिर का शोक दूर करने के लिये वे उपस्थित होते हैं और राम-सीता और सावित्री-सत्यवान् की कथा सुनाते हैं। रामोपाख्यान और सावित्र्युपाख्यान में करीब १०६० श्लोक हैं (रामोपाख्यानपर्व अ० २७३-२९२; पतिव्रता-माहात्म्यपर्व अ० २९३-२९९)।

इस प्रकार मार्कंडेय-समास्यापर्व और इन दोनों उपाख्यानों को मिलाकर ३२६० श्लोक भार्गव मार्कंडेय जी के मुख में रखे गए हैं। यह आरण्यकपर्व का एक-चतुर्थांश होता है।

मार्कंडेय चिरजीवी हैं। भृगु-च्यवन-राम और भृगु-च्यवन-शुनक इन दो भृगु-शाखाओं से वे किस प्रकार संबंधित थे, यह न मालूम होने पर भी उनका भार्गव होना निर्विवाद है। ३।१८३।६०;१८९।८७; १९०।२ में उन्हें भार्गव, ३।२०१।७;२१७।५ में भार्गवसत्तम, ३।२०५।४ में भृगुनंदन और ३।२०५।१५ में भृगुकुलश्रेष्ठ कहा गया है। मत्स्य पुराण (१९५।२०) में मार्कंडेय को भृगु-वंश का एक गोत्रकर्ता ऋषि माना गया है।

मार्कंडेय-समास्यापर्व के कुछ विषय ये हैं—ब्राह्मण-महिमा, ब्राह्मणों को दान देने का पुण्य, स्त्री का पति के प्रति धर्म, और अग्नि के विविध रूप। उन्होंने मनु, ययाति, वृषदर्भ, शिबि, इंद्रद्युम्न (जनक के पिता), कुवलाश्व और कार्त्तिकेय स्कंद की कथाएँ सुनाई हैं। मिथिला के धर्मव्याध की कथा के प्रवक्ता भी वही हैं। मार्कंडेय की कथाओं में सबसे रोचक भाग वह है जहाँ उन्होंने सृष्टि और प्रलय का आँखों-देखा वर्णन किया है। इस रूप में मार्कंडेय एक प्रकार से क्षत्रिय मनु के प्रतिरूप हैं। वस्तुतः अ० १८७ में मार्कंडेय ने ही मनु के उपाख्यान का भी वर्णन किया है (मत्स्योपा-

ख्यान)। इसमें कहा गया है कि संध्या करते हुए मनु को एक मछ
दिखाई दी, जिसे उन्होंने कमंडलु में रख लिया। वह अपना
बढ़ाने लगी और अंत में मनु को आगामी जल-प्रलय की सूचना दं
मनु ने सब सामान के साथ अपनी नौका को हिमालय के नौबं
शिखर से बाँध दिया। नाव में सब तरह के बीज थे। प्रलय के ब
उनसे मनु ने सृष्टि उत्पन्न की। अंत में मत्स्य ने अपना परिचय दे
मनु से विदा ली। यह कथा सामी (Semitic) साहित्य में प्र
हुई नूह की जल-प्रलय की कथा से बहुत मिलती है। पुराणों
सृष्टि-विद्या के अनुसार प्रलय के बाद विष्णु के नाभि-कमल से उत्
होकर ब्रह्माजी सृष्टि उत्पन्न करते हैं। उसके साथ मनु की सृष्टि
सामंजस्य नहीं होता। मनु की कथा के अंत में दी हुई फलश्रुति
उसके विजातीयपन को सूचित करती है। प्राय: महाभारत के स
प्रक्षिप्त अंशों के साथ फलश्रुति अवश्य मिलती है।

योगी मार्कंडेय के जल-प्रलय की कथा इससे विचित्र है। जल
मग्न पृथिवी पर मार्कंडेय अकेले ही समुद्र की सतह पर तैरते हु
दिखाई पड़ते हैं। चारों ओर जल का वारापार नहीं है। अकस्मा
उन्हें न्यग्रोध वृक्ष की शाखा पर एक बालक दिखाई दिया। मार्कंडे
चकित होकर उसे देखने लगे और उसके मुख में चले गए। व
उन्होंने सारे ब्रह्मांड को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा। अनेक व
तक घूमने पर भी उसका कहीं अंत न पाया और वे उसकी साँस
साथ फिर बाहर आए। तब मार्कंडेय ने उस बालक का स्वरू
पहिचाना और उन्होंने ब्रह्म को जान लिया। इस कथा में प्रलय के बा
सृष्टि के लिये बीज आदि की उपाधि नहीं है। प्रलय में भी सृष्टि
नारायण के गर्भ में रहती है। योगी मार्कंडेय ने उस नारायण
साक्षात्कार करके उनकी माया का स्वरूप समझ लिया। इस कथ
के अनुसार भार्गव मार्कंडेय को ही इस प्रकार प्रलय में नारायण
साक्षात् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कथा से हम यह अनुमा
लगा सकते हैं कि भार्गव मार्कंडेय की योग-शक्ति कितनी बढ़ी-चढ़ी थी

मार्कंडेय-समास्यापर्व के ४० अध्याय बाद ही फिर मार्कंडेय ने ७५० श्लोकों में रामोपाख्यान (अ० २७३-२६२) सुनाया है। जयद्रथ द्रौपदी को लेकर भागना चाहता है। पांडव उसे पकड़कर क्षमा कर छोड़ देते हैं। युधिष्ठिर खिन्न होकर पूछते हैं कि उनके जैसा अभागा भी और कोई हुआ है। इस पर मार्कंडेय ने दाशरथि राम की कथा सुनाई। जयद्रथ के द्वारा द्रौपदी-मर्षण की यह कथा एकदम भोंड़ी है। रामायण का सारांश महाभारत में मिलाने के लिये ही यह भद्दा उपोद्घात सोचा गया है।

रामचरित सुनने के बाद युधिष्ठिर ने पूछा कि क्या द्रौपदी के समान कोई सती स्त्री पहले हुई है। इस पर मार्कंडेय ने सावित्री की कथा सुनाई जिसने अपनी पति-भक्ति के बल से यमराज से भी अपने पति के प्राण बचाए थे। भार्गव मार्कंडेय की कही हुई यही अंतिम कथा थी। वस्तुत: आरण्यक पर्व का यही अंतिम उपाख्यान है जिसके साथ भार्गव संबंधित है।

विराटपर्व

सभापर्व की भाँति यह पर्व भी छोटा है जिसमें उपाख्यानों की बाधा के बिना कथा-प्रवाह वेग से आगे बढ़ता है। इसमें न उपाख्यान हैं और न भार्गव-संबंधी विषयांतर हैं। भार्गवों का उल्लेख भी कहीं कहीं है। उदाहरण के लिये भीष्म ने दुर्योधन से कहा है—जमदग्नि के पुत्र राम के अतिरिक्त और कौन द्रोण से बढ़कर है? (४।५१।१०)*

उद्योगपर्व

उद्योगपर्व में भी भार्गवों के अवतरण पर्याप्त हैं। यहाँ जामदग्न्य राम पुरानी कथाओं के विषय न बनकर महाभारत के पात्रों के साथ साक्षात् संपर्क में आते हैं। एक पात्र के साथ तो उनका युद्ध ही होता है। अ० ७० प्रभृति में पांडव मंत्रणा-सभा करके कृष्ण को दूत

ये अंक बंबई संस्करण के हैं। पूना संस्करण में इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर इसकी संख्या ८५२ दी गई है (विराट पर्व पृ० २०३)।

बनाकर धृतराष्ट्र के पास भेजते हैं। हास्तिनपुर को जाते हुए कृष्ण को कुछ ऋषि मिले जिनमें भार्गव राम प्रमुख थे। वे भी हास्तिनपुर जा रहे थे (अ० ८१)। राम जामदग्न्य के साथ वहाँ पहुँचने पर भीष्म के द्वारा उनका स्वागत किया गया। सभा की कार्यवाही प्रारंभ हुई। कृष्ण ने पांडवों का पक्ष रखते हुए न्याय्य व्यवहार के लिये अनुरोध किया (अ० ९३)। उनके भाषण के बाद जो सन्नाटा छाया उसमें भार्गव राम ने उठकर शांति की सम्मति देते हुए बिना पूछे ही दंभोद्भव की कथा सुना डाली (अ० ९४)। बदरी-वन में तप करते हुए नर-नारायण को अभिमानी राजा दंभोद्भव ने जा छेड़ा। नर ने मंत्रपूत कुशों को उसके ऊपर फेंक दिया जो अस्त्र बनकर उसकी सेना पर झपटे और राजा को हार माननी पड़ी। राम ने शांति का उपदेश देते हुए कहा कि नर-नारायण ही अर्जुन और कृष्ण हैं। इस कथा का भी यहाँ विशेष प्रयोजन नहीं जान पड़ता।

उद्योगपर्व के अंत में अंबा का उपाख्यान (अ० १७०-१९३) है जिसमें भार्गव राम सक्रिय भाग लेते हैं। भीष्म ने बताया कि जन्म के समय शिखंडी कन्या था। इसलिये वे उसके साथ युद्ध न करेंगे। अपने पूर्वजन्म में वह काशिराज की पुत्री अंबा था। अंबा अपने विवाह-संबंध में भीष्म के कारण निराश रह गई और उसने भीष्म से बदला लेने का व्रत लिया। वह दुःखित होकर वन में फिर रही थी। वहाँ उसके पितामह राजर्षि होत्रवाहन ने प्रकट होकर उसको अपने मित्र राम जामदग्न्य की सहायता लेने की सलाह दी। उसी समय वहाँ राम के शिष्य अकृतव्रण आ निकले। उन्होंने भी अंबा के पक्ष का समर्थन किया। सौभाग्य से अगले दिन प्रातःकाल धनुष, खड्ग और परशु लिए हुए राम भी वहाँ आ गए। अंबा ने अपने दुःख की कथा उनसे कही और सहायता की याचना की। कुछ सोच-विचार के बाद राम ने अंबा की बात मान ली। वे सबको लेकर सरस्वती के तट पर गए और उन्होंने भीष्म को बुला भेजा। भीष्म आए। राम ने कहा—या तो अंबा को ग्रहण करो या हमसे युद्ध करो। भीष्म युद्ध का निश्चय

करके अपने नगर को वापिस आए और अस्त्र शस्त्र लेकर फिर जा पहुँचे। कई दिन तक घोर युद्ध हुआ और राम भीष्म के बाण से मूर्च्छित होकर गिर पड़े। भीष्म ने युद्ध वहीं रोक दिया। अगले दिन दोनों पक्षों में फिर घोर संग्राम आरंभ हुआ। अगणित बाण और शस्त्रास्त्र चलाए गए। एक दिन अष्ट वसुओं ने स्वप्न में भीष्म से सम्मोहनास्त्र छोड़ने को कहा। अगले दिन राम और भीष्म ने एक दूसरे के ऊपर एक साथ ब्रह्मास्त्र छोड़े जो बीच में कटकर गिर पड़े। इसी अवसर पर भीष्म ने सम्मोहनास्त्र लिया। यह देखकर देवताओं ने दोनों को शांत करना चाहा। पर किसी ने न माना। अंत में भार्गव राम के पितरों ने प्रकट होकर उनसे शस्त्र रख देने को कहा। राम ने अनिच्छा से वैसा किया। बस, भीष्म का काम बन गया। वे धनुष-बाण रखकर गुरु के चरणों में गिर पड़े। दोनों में फिर प्रेम हो गया और २३ दिन का यह घोर युद्ध निष्फल चला गया।

यहाँ पहिली बार हम भार्गव राम के हृदय-परिवर्त्तन की बात पाते हैं। महाभारत में बार बार वे क्षत्रियों के शत्रु कहे गए हैं। यहाँ राजर्षि होत्रवाहन उनके मित्र हैं और वे एक दुःखित कन्या का पक्ष समर्थन कर रहे हैं। यह भी कुछ आश्चर्यजनक है कि राम ने क्षत्रिय भीष्म को अपना शिष्य स्वीकार करके शस्त्र-विद्या में अपने से भी अधिक प्रवीणता सिखा दी। आगे चलकर राम ने कर्ण को इसी लिये शाप दिया है कि उसने क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण के वेश में अस्त्रविद्या सीख ली। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रह्मास्त्र ब्राह्मण के सिवा और किसी को नहीं आ सकता (१२।३।३१), यद्यपि भीष्म ने उसका प्रयोग सफलता के साथ उन पर किया था।

भीष्मपर्व

भीष्मपर्व के साथ महाभारत के युद्धपर्व आरंभ हो जाते हैं जो मूल ग्रंथ के किसी समय बीज रहे होंगे और बाद में जिनको केंद्र बना-

कर अन्य सामग्री की तहें चढ़ती गईं। आदिपर्व के एक श्लोक में महाभारत के मूल-संग्रथन का खाका मिलता है (१।५५।४३)—

एवमेतत्पुरावृत्तं तेषामक्लिष्टकारिणाम्।
भेदो राज्यविनाशश्च जयश्च जयतां वर: ॥

भरतवंशजों में आपसी फूट, राज्यनाश और विजय इस त्रिक का नाम भारत था। प्रचलित संस्करण के अनुसार भीष्मपर्व में चार उपपर्व हैं। जंबूखंडनिर्माणपर्व और भूमिपर्व भौगोलिक प्रकरण हैं। तीसरा भगवद्गीता है जो विश्व-साहित्य की चीज बन गई है। अंतिम भाग के ८० अध्यायों या ४३०० श्लोकों में पहले दस दिनों का युद्ध-वर्णन है। इनमें विषयांतर या उपाख्यान नहीं हैं। हाँ, कहीं कहीं राम जामदग्न्य का नाम आ गया है।

परंतु भगवद्गीता के दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपनी अनंत विभूतियों का वर्णन करते हुए कुछ भृगुओं का उल्लेख किया है जो हमारे लिये रोचक है। इन विभूतियों में कुल नौ मानव हैं। वासुदेव, अर्जुन और व्यास महाभारत के पात्र हैं। देवर्षि नारद, सिद्धों मे कपिल मुनि और पुरोहितों में बृहस्पति का ग्रहण है। शेष तीन भार्गव हैं। कवियों में कृष्ण ने अपने आपको शुक्राचार्य कहा है जो असुरों के गुरु थे। शस्त्रधारियों में कृष्ण ने राम को अपना रूप कहा है। यह राम हमारे मत में दाशरथि राम न होकर जामदग्न्य राम हैं। अंत में महर्षियों में कृष्ण ने भृगु को अपना स्वरूप बतलाया है (गीता १०।२५)। और विभूतियाँ तो ठीक ही हैं पर भृगु क्यों सब महर्षियों में श्रेष्ठ कहे गए यह पहेली है। सप्तर्षियों में उनकी गिनती नहीं। हाँ, ब्रह्मा के गोत्रप्रवर्तक बारह पुत्रों में उनकी भी गिनती है। महाभारत में भी भृगु के महत्त्व के बारे में कोई विशेष कथा नहीं मिलती।

द्रोणपर्व

हमारे प्रयोजन के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण भार्गव-अवतरण द्रोणपर्व में पाया जाता है। युद्ध के १३ वें दिन अर्जुन की अनुपस्थिति मे उसके

पुत्र अभिमन्यु ने चक्रव्यूह में प्रवेश किया और वहीं वह मारा गया। इससे पांडवों को बड़ा शोक हुआ। युधिष्ठिर के शोक को दूर करने के लिये व्यास ने एक कथा सुनाई जिसमें नारद ने राजा सृंजय के शोक को षोडश राजाओं के चरित्र का बखान कर दूर किया था। ये चक्रवर्त्ती राजा थे, फिर भी समय आने पर मृत्यु से न बच सके। इस षोडशराजकीय प्रकरण (अ० ५५—७१) के १६ नाम ये हैं—(१) मरुत्त आविक्षित (२) सुहोत्र आतिथिन, (३) पौरव बृहद्रथ अंगाधिपति, (४) शिबि औशीनर, (५) राम दाशरथि (६) दिलीप-पुत्र भगीरथ, (७) दिलीप ऐलविल, (८) युवनाश्वपुत्र मांधाता, (९) नहुषपुत्र ययाति, (१०) नाभाग-पुत्र अंबरीष, (११) चित्ररथ-पुत्र शशबिंदु, (१२) अमूर्त्तरय-पुत्र गय, (१३) संकृति-पुत्र रंतिदेव, (१४) दौष्यंति भरत, (१५) पृथु वैन्य और अंत में सब से महत्त्वपूर्ण (१६) जमदग्नि-पुत्र भार्गव राम।

अ० ७० में भार्गव राम की आश्चर्यकारक कथा बहुत बढ़ा चढ़ाकर कही गई है। पृथिवी को क्षत्रियशून्य बनाने की प्रतिज्ञा करके राम ने कार्त्तवीर्य का वध किया। फिर ६४००० क्षत्रिय मारे और नाक-कान काटकर दाँत तोड़ दिए, ७००० हैहयों का धुएँ से दम घोट दिया और १०००० को अपने कुठार से मार डाला। उसके बाद, जमदग्नि के पराक्रमी पुत्र ने कश्मीर, दरद, कुंति, क्षुद्रक, मालव, अंग, वंग, कलिंग, विदेह, ताम्रलिप्तक, रक्षोवाह, वीतिहोत्र, त्रिगर्त्त, मार्त्तिकावत, शिबि और अन्य देशों के क्षत्रियों को सहस्रों की संख्या में घूम घूमकर मारा और अष्टादशद्वीपा वसुमती को अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद यज्ञ में स्वर्ण की वेदी और यह पृथिवी कश्यप को दक्षिणा में दी। इस पृथ्वी को आततायियों से मुक्त करके राम ने अपने अश्वमेध यज्ञ में कश्यप के हवाले कर दिया। इसके बाद वही भार्गवों की फिर विजय-प्रशस्ति सुनाई पड़ती है (७।७०।२०)

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः। (४)

२१ बार पृथिवी को निःक्षत्रिय बनाकर, सौ यज्ञ करके, राम ने धरती ब्राह्मणों को दी। सप्तद्वीपा पृथिवी पाकर कश्यप ने राम से कहा—हमारी आज्ञा से तुम इस पृथिवी के बाहर निकल जाओ। यह सुनकर शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ राम ने समुद्र को पीछे हटाकर नई भूमि प्राप्त की और वे महेंद्र पर्वत पर बस गए।

इस कथा को शांतिपर्व के षोडशराजीय प्रकरण (अ० २६) से मिलाने पर एक नई बात मालूम होती है। शोकमना युधिष्ठिर गंगा-तट पर बैठे हैं। वे राज्य त्यागकर वन जाना चाहते हैं। अर्जुन की प्रार्थना पर कृष्ण ने युधिष्ठिर को १६ राजाओं का चरित्र सुनाया और यह भी कहा कि नारद ने पहले इसे सृंजय को सुनाया था। १५ कथाएँ लगभग बिलकुल एक सी हैं परंतु द्रोणपर्व की सूची के १६वें "राजा" भार्गव राम का नाम शांतिपर्व में नहीं है। उसकी जगह इक्ष्वाकु के पुत्र सगर का चरित्र है जो वस्तुतः राजा थे। भार्गव राम कभी राजा नहीं रहे और उनको इस सूची में स्थान न मिलना चाहिए। उन्होंने सारी पृथ्वी जीती पर उनका अभिषेक कभी नहीं हुआ। इस सूची में उनका परिगणन अवश्य ही किसी ऐसे कथावाचक की करतूत है जो भार्गवों का विशेष पक्षपाती था। बिना विचारे ही उसने इसे व्यास के सिर मढ़ दिया।

कर्णपर्व

भीष्म और द्रोण की तरह कर्ण भी भार्गव राम का शिष्य था। कर्ण के गुरु की हैसियत से इस पर्व में कई बार राम जामदग्न्य का चलता हुआ उल्लेख है। कर्ण को भार्गव राम से विजय नामक धनुष प्राप्त हुआ जो राम को इंद्र से मिला था। इंद्र ने दैत्य-युद्ध में और राम ने क्षत्रिय-युद्ध में उससे काम लिया और उसकी सहायता से २१ बार पृथ्वी को जीता (८।३१।४६)

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी धनुषा येन निर्जिता। (५)

१७ वें दिन दुर्योधन ने शल्य से कर्ण का सारथि होने को कहा और यह बताया कि कर्ण ने दिव्य अस्त्रों को भार्गव राम से पाया था। इसके बाद दुर्योधन ने कर्ण के गुरु की महिमा को प्रकट करने के लिये एक और कथा सुनाई। दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिये राम महादेव के पास जाकर तप करने लगे (पांडव अर्जुन की तरह)। उस समय असुर बड़े प्रबल थे। महादेव ने राम को उनके साथ लड़ने के लिये कहा (जैसे अर्जुन ने पीछे निवातकवचों से युद्ध किया)। राम ने असुरों को युद्ध में ललकारा और परास्त किया। महादेव ने प्रसन्न होकर उन्हें दिव्य अस्त्र दिए। कथा में प्रतीति दृढ़ करने के लिये दुर्योधन यह कहना नहीं भूला कि उसने यह बात अपने पिता के सामने एक सत्यवादी ब्राह्मण के मुख से सुनी थी।

अ० ४२ में कर्ण ने स्वयं बताया कि किस प्रकार उसने भार्गव राम के पास ब्राह्मण-वेष में अस्त्रविद्या सीखी और किस प्रकार राम के उसकी जंघा पर सिर रखकर सोते समय एक कीड़े के उसकी जाँघ में छेद कर देने से सारा भेद फूट गया। राम ने कर्ण को शाप दिया कि ऐन मौके पर तुम्हारी विद्या काम न आयगी। अब्राह्मण में ब्रह्म नहीं रह सकता (८।४२।६)—

अब्राह्मणे ब्रह्म नहि ध्रुवं स्यात्।

शल्यपर्व

शल्यपर्व में भार्गवों का उल्लेख कहीं कहीं है। बलराम की तीर्थयात्रा के वर्णन में, जो स्वयं एक विषयांतर है, रामतीर्थ और समंतपंचक जैसे तीर्थों का वर्णन है। रामतीर्थ में फिर वह कथा दुहराई गई है जिसमें कश्यप राम भार्गव के यज्ञ में पुरोहित बने थे (देखिए श्लोक ६।४६।७-८)

सौप्तिकपर्व

१८ अध्यायों के इस छोटे से पर्व में सौप्तिक और ऐषीक नाम के दो उपपर्व हैं जिनमें कहीं पर भार्गवों का उल्लेख नहीं है।

स्त्रीपर्व

२७ अध्याय और ८०० श्लोकों के इस छोटे पर्व मे मृतकों की श्राद्धक्रिया और स्त्रियों का विलाप है। हम इस बात के कृतज्ञ हैं कि महाभारत के संस्कारकर्त्ताओं ने ऐसे करुण प्रसंग में किसी भार्गव अवतरण को मिलने से बचा लिया।

शांतिपर्व

शांतिपर्व में राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्म से संबंध रखनेवाले विषयों का वक्ता-श्रोता के संवाद रूप में बहुत ही विचित्र और मूल्यवान् रोचक संग्रह है। इसमें भार्गव-सामग्री काफी है।

अ० २ में भार्गव राम का नाम आता है। गंगा-तट पर नारद युधिष्ठिर को कर्ण की राम से विद्या-प्राप्ति का हाल कुछ विस्तार से सुनाते हैं। कर्ण ने अपने को ब्राह्मण और भार्गव कहकर राम से ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया। कर्ण की जाँघ को छेदनेवाले कीड़े को कर्णपर्व में इंद्र का रूप कहा गया है पर यहाँ उसे दंश राक्षस कहा है जो भृगु की पत्नी को हर ले जाना चाहता था। इस देवगुह्य कथा का प्रभाव यह हुआ कि युधिष्ठिर शोक दूर करके राजधानी में लौट आए और मृतकों की श्राद्धक्रिया करके सिंहासन पर अभिषिक्त हुए।

इसके बाद कृष्ण ने ध्यान के द्वारा कुरुक्षेत्र मे मृत्युशय्या पर पड़े हुए भीष्म का प्रत्यक्ष किया और पांडवों को लेकर उनसे मिलने के लिये वे युद्धभूमि को चले। भार्गव तीर्थ समंतपंचक का प्रसंग आ जाने से फिर राम के पराक्रम की कथा दुहराई गई है। कृष्ण राम-ह्रदों को दिखलाते हुए कहते हैं (१२।४८।६)—

त्रिःसप्तकृत्वो वसुधां कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
इहेदानीं ततो रामः कर्मण्यो विरराम ह॥ (६)

युधिष्ठिर को क्षत्रिय-वध की इस कथा के सुनने में बड़ा रस आता हुआ जान पड़ता है यद्यपि पहले भी वे कई वक्ताओं से इसे सुन

नहीं हैं। वे इस घटना से भी अनभिज्ञ दिखलाए गए हैं। उनका कहना है कि इस पृथ्वी ने क्षत्रियों को जहाँ-वहाँ छिपाकर उनकी रक्षा की। कुछ हैहय क्षत्रिय स्त्रियों में छिप गए। कुछ पौरवों ने ऋक्षवान् पर्वत पर ऋक्षों के यहाँ शरण ली। कुछ वनों में गोसघ के बीच में, कुछ गोष्ठों में बछड़ों के बीच में, कुछ समुद्र में और कुछ गृद्ध्रकूट पर्वत पर रहनेवाले भेड़ियों के बीच में छिपकर आत्मरक्षा कर सके। जब कश्यप ने राम को इस पृथ्वी पर से निकाल दिया तब उन्होंने फिर क्षत्रिय कुलों की प्रतिष्ठा की। श्रीकृष्ण कहते हैं कि वर्त्तमान क्षत्रिय-वंशज उन्हीं प्राचीन क्षत्रियों के पुत्र-पौत्र थे (१२।४९।८८ प्रभृति)।

चुके हैं, और वे अपना कुछ संशय भी कृष्ण से दूर करा लेना चाहते हैं (१२।४८।१०)—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ।
रामेणेति तथात्थ त्वमत्र मे संशयो महान् ॥ (७)

युधिष्ठिर के संशय को हटाने के लिये कृष्ण भार्गव राम की पूरी कुंडली खोलकर बड़े विस्तार से उनके जन्म, क्षत्रियों के नाश और उनके पुनः संवर्द्धन की कथा सुनाते हैं। आरण्यक-पर्व में अकृतव्रण के द्वारा कही हुई कथा का यह कृष्ण-प्रोक्त संस्करण है। पहली कथा में सत्यवती के ससुर ने पुत्र-जन्म के लिये चरु बनाया था। यहाँ स्वयं ऋचीक ने उसे तैयार किया। दूसरा विसंवाद यह है कि आरण्यक-पर्व में कार्त्तवीर्य अर्जुन ने जमदग्नि की होमधेनु के बछड़े का हरण किया था। यहाँ कार्त्तवीर्य को धर्मात्मा और ब्राह्मणों का भक्त कहा गया है। उसके पुत्र दंभी और नृशंस थे और उन्होंने जमदग्नि की कामधेनु का वत्सापहरण किया। यह कहना कठिन है कि दोनों में से कौन सा वर्णन सत्य के निकट था। इसके बाद स्वयं कृष्ण भार्गवों जैसे गौरवशाली स्वर में राम की पराक्रम-प्रशस्ति को दोहराते हैं (१२।४९।६४)—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
दक्षिणामश्वमेधान्ते कश्यपायाददत्ततः ॥ (८)

इस प्रकार मानों इस कथा पर स्वयं श्रीकृष्ण की स्वीकृति की छाप लग जाती है।

कौरव, पांडव अथवा श्रीकृष्ण जैसे दिग्गज क्षत्रियों के लि. कदाचित् यह एक रहस्य रहा होगा कि २१ बार नाश को प्राप्त हो जाने पर भी फिर क्षत्रियों का प्रादुर्भाव कैसे हो गया। पिछले अध्यायों में कई बार यह कहा गया है कि ब्राह्मणों ने क्षत्रिय-स्त्रियों के साथ प्रजोत्पत्ति की और वह संतान 'पाणिग्राहस्य तनयः' (१।९८।५, पुत्र का पिता वह होता है जिसने विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया हो) इस वैदिक न्याय के अनुसार क्षत्रिय कहलाई। श्रीकृष्ण इससे सहम

नहीं हैं। वे इस घटना से भी अनभिज्ञ दिखलाए गए हैं। उनका कहना है कि इस पृथ्वी ने क्षत्रियों को जहाँ-वहाँ छिपाकर उनकी रक्षा की। कुछ हैहय क्षत्रिय स्त्रियों में छिप गए। कुछ पौरवों ने ऋक्षवान् पर्वत पर ऋक्षों के यहाँ शरण ली। कुछ वनों में गोसंघ के बीच में, कुछ गोष्ठों में बछड़ों के बीच में, कुछ समुद्र में और कुछ गृध्रकूट पर्वत पर रहनेवाले भेड़ियों के बीच में छिपकर आत्मरक्षा कर सके। जब कश्यप ने राम को इस पृथ्वी पर से निकाल दिया तब उन्होंने फिर क्षत्रिय-कुलों की प्रतिष्ठा की। श्रीकृष्ण कहते हैं कि वर्त्तमान क्षत्रिय-वंशज उन्हीं प्राचीन क्षत्रियों के पुत्र-पौत्र थे (१२।४९।८८ प्रभृति)।

मोक्षधर्मपर्व के आरंभ में भृगु-भारद्वाज-संवाद के नाम से एक बड़ा प्रकरण (अ० १८२-१९२) है, जिसमें निम्नलिखित विषयों पर तत्कालीन ज्ञान का सारांश संगृहीत है—(१) महाभूत, (२) जीवन और मृत्यु, (३) वर्ण-व्यवस्था, (४) पाप और पुण्य, (५) आश्रमधर्म और (६) परलोक। इससे प्रकट है कि यहाँ भार्गवों के आदि-पुरुष भृगु को हिंदू अध्यात्म, समाजशास्त्र, परलोक विद्या और धर्मनीति का ज्ञाता और प्रवक्ता माना गया है। शांतिपर्व अ० ३३९ श्लोक ८४ और १०३ में भार्गव राम को विष्णु का अवतार कहा गया है। इनमें से पिछला श्लोक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्रक्षिप्त जान पड़ता है। इससे यह भी विदित होता है कि महाभारत में अवतारवाद की कल्पना का स्वरूप अभी तक अस्फुट था और भार्गव राम के अवतार होने की कल्पना महाभारत को मान्य नहीं थी।

अनुशासनपर्व

किसी अज्ञात कारण से भार्गव-सामग्री अनुशासनपर्व में सबसे अधिक है। अ० ४ में हमें तीसरी बार जमदग्नि-जन्म की कथा मिलती है। गाधिकन्या सत्यवती से ऋचीक का विवाह, सत्यवती और उसकी माता को चरु-भक्षण के द्वारा पुत्रप्राप्ति का वरदान, चरु-परिवर्त्तन और उसके फल-स्वरूप गाधि की पत्नी के ब्राह्मण गर्भ और सत्यवती के

क्षत्रिय गर्भ की संभावना और अंत में सत्यवती की प्रार्थना से उसके पौत्र की क्षत्रियत्व-प्राप्ति—ये बातें आरण्यक, शांति और अनुशासन तीनों पर्वों में समान हैं। शांति और अनुशासन पर्वों की कथा में केवल इतना भेद है कि इनमें चरु के निर्माता और वरदान के देनेवाले स्वयं ऋचीक हैं।

इस पर्व के १४।२७३ श्लोक में भार्गव राम का नाम मात्र आने से कथाकार के मुख से चट पुराना श्लोक निकल पड़ता है—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी येन निःक्षत्रिया कृता।
जामदग्न्येन गोविंद रामेणाक्लिष्टकर्मणा॥ (९)

अ० ३० में भृगु के वचन-मात्र से क्षत्रिय वीतहव्य के ब्राह्मण बन जाने की कथा है। शर्याति के वंशज वत्स के हैहय और तालजंघ नामक दो पुत्र थे। हैहय के १०० पुत्रों ने काशिराज हर्यश्व को आक्रमण करके मार डाला। हर्यश्व के बाद उनके पुत्र सुदेव राजा हुए और वे भी हैहयों से मारे गए। उनके उत्तराधिकारी दिवोदास ने गंगा के उत्तर तट पर और गोमती के दक्षिण तट पर वाराणसी नगरी बसाई। हैहयों से हारकर वे अपने पुरोहित भरद्वाज के यहाँ पहुँचे जिन्होंने यज्ञ द्वारा राजा के लिये प्रतर्दन नामक पुत्र प्राप्त किया। प्रतर्दन ने हैहयों को पराजित किया। प्रतर्दन के डर से भागकर वीतहव्य भृगु के आश्रम में छिप गए। प्रतर्दन ने छिपे हुए वीतहव्य को वापस माँगा। भृगु ने वीतहव्य के प्राण बचाने के लिये उत्तर दिया कि इस आश्रम में केवल ब्राह्मण हैं। सत्यवादी भृगु के वचन से वीतहव्य ब्राह्मण बन गए। वीतहव्य के १५वंशजों के नाम दिये गये हैं। उनके पुत्र गृत्समद थे जिनकी ११वीं पीढ़ी में प्रमति हुए। प्रमति के पुत्र रुरु थे और रुरु के पुत्र शौनक हुए जिनसे शौनकों की प्रसिद्धि हुई।

अ० ४० में भीष्म ने स्त्रियों के रूपाकर्षण और दुर्बलता का वर्णन करते हुए अपने समर्थन में भार्गव विपुल की कथा (विपुलोपाख्यान अ० ४०-४३) सुनाई है जिसमे सम्मोहन योग की शक्ति का भी उल्लेख है।

कथा यह है कि ऋषि देवशर्मा की पत्नी रुचि अत्यंत रूपवती थीं। उन्होंने अपने रूप से इंद्र का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। एक बार देवशर्मा को यज्ञ के लिये अपने आश्रम से बाहर जाना पड़ा। रुचि की ओर से आशंकित होकर उन्होंने अपने प्रिय शिष्य भार्गव विपुल से कहा कि हे पुत्र! तुम इसकी रक्षा करना। विशेषकर छद्मवेषधारी इंद्र की कामुकता से इसे बचाना। विपुल ने अपनी यौगिक शक्ति से रुचि के शरीर में प्रविष्ट होकर उसके सतीत्व की रक्षा करने का निश्चय किया। इंद्र समय पर आकर रुचि के प्रति हाव-भाव प्रकट करने लगा। इच्छा रहते हुए भी रुचि, भार्गव विपुल के प्रभाव से, इंद्र का स्वागत न कर सकी। इंद्र रुचि के इस व्यवहार से पहले तो चकित हुआ पर पीछे विचार करने पर उसने सब मर्म जान लिया। इसी समय विपुल ने रुचि के शरीर में से बाहर निकलकर इंद्र को लज्जित किया और वह खिसक गया। भार्गव मार्कंडेय ने यह कथा भीष्म को और भीष्म ने युधिष्ठिर को सुनाई। आज तक एक भार्गव ही स्त्री को पतन से बचा सका है और वह था भार्गव विपुल (१३।४७।२७)—

तेनैकेन तु रक्षा वै विपुलेन कृता स्त्रियाः।
नान्यः शक्तस्त्रिलोकेऽस्मिन् रक्षितुं नृप योषितम्॥

अ० ५० से ५६ तक फिर एक भार्गव कथा है। इस च्यवनोपाख्यान के दो भाग हैं। अ० ५०-५१ में गौओं की महिमा का वर्णन है। शेष ५ अध्यायों में वही भार्गव राम की जन्म-कथा है जिसमें वही ब्राह्मण-क्षत्रिय-मिश्रित उत्पत्ति का विषय है। इसी पर्व के अ० ४ में विश्वामित्र और जामदग्न्य राम के, जो गुण कर्म स्वभाव में एक दूसरे से विपरीत थे, जन्म लेने की कथा है। वही इस प्रकरण में फिर है। युधिष्ठिर का राम-संबंधी अमिट कुतूहल उन्हें भीष्म से पूछने के लिये प्रेरित करता है। भगवन्! जामदग्न्य राम के संबंध में मेरे कुतूहल को शांत कीजिए। वे तो ब्राह्मण-कुल में जन्मे थे, उन्होंने क्षत्रियोचित कर्म कैसे किए? विस्तार से उनका हाल कहिए और

क्षत्रिय गर्भ की संभावना और अंत में सत्यवती की प्रार्थना से उसके पौत्र की क्षत्रियत्व-प्राप्ति—ये बातें आरण्यक, शांति और अनुशासन तीनों पर्वों में समान हैं। शांति और अनुशासन पर्वों की कथा में केवल इतना भेद है कि इनमें चरु के निर्माता और वरदान के देनेवाले स्वयं ऋचीक हैं।

इस पर्व के १४।२७३ श्लोक में भार्गव राम का नाम मात्र आने से कथाकार के मुख से चट पुराना श्लोक निकल पड़ता है—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी येन निःक्षत्रिया कृता।
जामदग्न्येन गोविंद रामेणाक्लिष्टकर्मणा॥ (९)

अ० ३० में भृगु के वचन-मात्र से क्षत्रिय वीतहव्य के ब्राह्मण बन जाने की कथा है। शर्याति के वंशज वत्स के हैहय और तालजंघ नामक दो पुत्र थे। हैहय के १०० पुत्रों ने काशिराज हर्यश्व को आक्रमण करके मार डाला। हर्यश्व के बाद उनके पुत्र सुदेव राजा हुए और वे भी हैहयों से मारे गए। उनके उत्तराधिकारीदिवोदास ने गंगा के उत्तर तट पर और गोमती के दक्षिण तट पर वाराणसी नगरी बसाई। हैहयों से हारकर वे अपने पुरोहित भरद्वाज के यहाँ पहुँचे जिन्होंने यज्ञ द्वारा राजा के लिये प्रतर्दन नामक पुत्र प्राप्त किया। प्रतर्दन ने हैहयों को पराजित किया। प्रतर्दन के डर से भागकर वीतहव्य भृगु के आश्रम में छिप गए। प्रतर्दन ने छिपे हुए वीतहव्य को वापस माँगा। भृगु ने वीतहव्य के प्राण बचाने के लिये उत्तर दिया कि इस आश्रम में केवल ब्राह्मण हैं। सत्यवादी भृगु के वचन से वीतहव्य ब्राह्मण बन गए। वीतहव्य के १५वंशजों के नाम दिये गये हैं। उनके पुत्र गृत्समद थे जिनकी ११वीं पीढ़ी में प्रमति हुए। प्रमति के पुत्र रुरु थे और रुरु के पुत्र शौनक हुए जिनसे शौनकों की प्रसिद्धि हुई।

अ० ४० में भीष्म ने स्त्रियों के रूपाकर्षण और दुर्बलता का वर्णन करते हुए अपने समर्थन मे भार्गव विपुल की कथा (विपुलोपाख्यान अ० ४०-४३) सुनाई है जिसमें सम्मोहन योग की शक्ति का भी उल्लेख है।

कथा यह है कि ऋषि देवशर्मा की पत्नी रुचि अत्यंत रूपवती थीं। उन्होंने अपने रूप से इंद्र का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। एक बार देवशर्मा को यज्ञ के लिये अपने आश्रम से बाहर जाना पड़ा। रुचि की ओर से आशंकित होकर उन्होंने अपने प्रिय शिष्य भार्गव विपुल से कहा कि हे पुत्र! तुम इसकी रक्षा करना। विशेषकर छद्मवेषधारी इंद्र की कामुकता से इसे बचाना। विपुल ने अपनी यौगिक शक्ति से रुचि के शरीर में प्रविष्ट होकर उसके सतीत्व की रक्षा करने का निश्चय किया। इंद्र समय पर आकर रुचि के प्रति हाव-भाव प्रकट करने लगा। इच्छा रहते हुए भी रुचि, भार्गव विपुल के प्रभाव से, इंद्र का स्वागत न कर सकी। इंद्र रुचि के इस व्यवहार से पहले तो चकित हुआ पर पीछे विचार करने पर उसने सब मर्म जान लिया। इसी समय विपुल ने रुचि के शरीर में से बाहर निकलकर इंद्र को लज्जित किया और वह खिसक गया। भार्गव मार्कंडेय ने यह कथा भीष्म को और भीष्म ने युधिष्ठिर को सुनाई। आज तक एक भार्गव ही स्त्री को पतन से बचा सका है और वह था भार्गव विपुल (१३।४७।२७)—

> तेनैकेन तु रक्षा वै विपुलेन कृता स्त्रियाः।
> नान्यः शक्तस्त्रिलोकेऽस्मिन् रक्षितुं नृप योषितम्॥

अ० ५० से ५६ तक फिर एक भार्गव कथा है। इस च्यवनोपाख्यान के दो भाग हैं। अ० ५०-५१ में गौओं की महिमा का वर्णन है। शेष ५ अध्यायों में वही भार्गव राम की जन्म-कथा है जिसमें वही ब्राह्मण-क्षत्रिय-मिश्रित उत्पत्ति का विषय है। इसी पर्व के अ० ४ में विश्वामित्र और जामदग्न्य राम के, जो गुण कर्म स्वभाव मे एक दूसरे से विपरीत थे, जन्म लेने की कथा है। वही इस प्रकरण में फिर है। युधिष्ठिर का राम-संबंधी अमिट कुतूहल उन्हें भीष्म से पूछने के लिये प्रेरित करता है। भगवन्! जामदग्न्य राम के संबंध में मेरे कुतूहल को शांत कीजिए। वे तो ब्राह्मण-कुल में जन्मे थे, उन्होंने क्षत्रियोचित कर्म कैसे किए? विस्तार से उनका हाल कहिए और

यह भी बताइए कि कुशिकों के क्षत्रिय-कुल में जन्म लेकर किस प्रकार विश्वामित्र ब्राह्मण हो गए।

इसके उत्तर में भीष्म जी भार्गव च्यवन की कथा सुनाते हैं। च्यवन ने अपनी दिव्य दृष्टि से आनेवाली घटनाओं को जान लिया कि किस प्रकार कुशिक वंश की असावधानी से भृगु-कुल में जन्म लेकर भी राम क्षत्रियों जैसा नृशंस कार्य करेंगे। च्यवन राजा कुशिक के पास इस इच्छा से पहुँचे कि उसकी परीक्षा लें और यदि वह उन्हें क्रोध का अवसर दे तो उसे और उसकी संतान को नष्ट करने के लिये शाप दे डालें। राजा कुशिक और उसकी रानी ने च्यवन की बड़ी आवभगत की। भोजन करके २१ दिन तक ऋषि सोते रहे और राजा रानी बिना खाए-पिए उनकी सेवा करते रहे। एकाएक ऋषि उठे और चल दिए। राजा-रानी ने डरकर उनका पीछा किया पर वे चंपत हो गए। बहुत ढूँढ़ने के बाद उन्होंने लौटकर देखा तो ऋषि को पलँग पर सोते पाया। ऐसी कितनी ही चालें चलने के बाद एक दिन राजा और रानी को च्यवन ने एक भारी रथ में जोत दिया और उस पर बैठकर लोहे के कोड़े से उनको मारते हुए और राज-कोष लुटाते हुए वे नगर में निकले, पर राजा और रानी के मुख पर विकार का चिह्न तक न आया[१]। अंत में ऋषि अपनी प्रसन्नता प्रकट करके वन में चले गए और दूसरे दिन राजा-रानी को वन में बुलाया। ४२ दिन तक खेद उठाए हुए दंपती ने रात्रि को विश्राम लिया और अगले दिन वे वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने इंद्रभवन के समान एक प्रासाद देखा जो अदृश्य हो गया और वहाँ अकेले च्यवन ऋषि बैठे दिखाई दिए। इस समय राजा को ब्राह्म तेज की महिमा ज्ञात हुई। च्यवन ने सचाई के साथ राजा को बता दिया कि उनका उद्देश्य परीक्षा लेना था और वरदान दिया कि कुशिक के वंश में आगे चलकर एक पुत्र ब्राह्म तेज से युक्त होगा। च्यवन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि **भृगुओं के ही**

१—इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती कथा कृष्ण और दुर्वासा की है। देखिए अनुशासनपर्व अ० १५६।

तेज से कुशिक के पोते विश्वामित्र अग्नि-समान तेजवाले तपस्वी ब्राह्मण होंगे (१३।५५।३२)—

............भृगूणामेव तेजसा।
पौत्रस्ते भविता विप्रस्तपस्वी पावकद्युतिः॥

इस उपाख्यान के अंतिम अध्याय में च्यवन की भविष्यवाणी के रूप में भृगुओं का उत्पीड़न, और्व, ऋचीक और जमदग्नि की कथा कुशिक की पोती और गाधि की पुत्री सत्यवती के साथ ऋचीक का विवाह, सत्यवती और उसकी माता को भृगु के द्वारा दिए जानेवाले वरदान, चरु और वृक्षों का परिवर्त्तन एवं विश्वामित्र आदि के संबंध की सारी बातें दुहराई गई हैं। महाभारत में रामजन्म-संबंधी इस कथा की यह चौथी आवृत्ति है। इसी पर्व के अ० ४, शांतिपर्व अ० ४८ और आरण्यकपर्व अ० ११५-१७ में यह पहले आ चुकी है।

कुछ अध्याय आगे भीष्म के युधिष्ठिर को स्वर्ण-दान की महिमा बताने के प्रसंग में फिर भार्गव राम आ जाते हैं। भीष्म के पितरों ने उनसे कहा था कि स्वर्ण के दान से देनेवाला पवित्र होता है। भार्गव राम को वशिष्ठ आदिक ऋषियों ने यही उपदेश दिया था। भार्गव-प्रशस्ति को दुहराने के लिये यह एक अवसर भी काम में ले लिया गया है (१३।८४।३१)—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा।
ततो जित्वा महीं कृत्स्नां रामो राजीवलोचनः॥ (१०)

इससे अगले अ० ८५ में भृगु, अंगिरा और कवि के जन्म की कथाएँ हैं। इनको अनेक वंशों और जातियों के उत्पादक प्रजापति कहा गया है।

पाठकों को यह बात कुछ विचित्र मालूम होगी कि हमें छत्र और पादुका भी भृगुओं की कृपा से मिले हैं। एक बार जमदग्नि दूर के निशाने पर बाण चलाने का अभ्यास कर रहे थे। रेणुका तीर उठाकर दे रही थीं। कड़ी धूप के कारण रुक रुककर आने से उन्हें देर लग रही थी। तब जमदग्नि ने सूर्य को बाण मारकर नीचे गिराना चाहा।

सूर्य ने ब्राह्मण के वेश में आकर उनसे क्षमा-याचना की और धूप से बचाने के लिये छाता और जूते दिए। महाभारत के बाहर यह कथा और कहीं नहीं मिलती। अ० ६८ में भी भीष्म ने भार्गव शुक्र और बलि का एक संवाद सुनाया है जिसमें देवताओं को धूप, दीप और पुष्प आदि देने का माहात्म्य कहा गया है।

द्रोणपर्व के षोडशराजीय प्रकरण का उल्लेख करते हुए हम बता चुके हैं कि किस प्रकार सगर की जगह जामदग्न्य राम का चरित्र सन्निविष्ट करके उस प्रकरण पर भार्गव रंग चढ़ाया गया है। यहाँ नहुष के स्वर्ग से गिरने की कथा में भी पाठक देखेंगे कि किस प्रकार कथा में रफूगरी करके उसके ताने-बाने में भार्गवपन मिला दिया गया है।

उद्योगपर्व अ० ११-१७ तक एवं शांतिपर्व अ० ३४२ में नहुष की सीधी सादी कथा है। इसके अनुसार नहुष ने घमंड में चूर होकर ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई। अगस्त्य के सिर में लात मारने के कारण उनके शाप से नहुष को साँप बनना पड़ा। मालूम होता है कि इस सीधी कथा में स्वयं भारत-चिंतकों को ही असंगति दिखाई दी। नहुष को ब्रह्मा से वरदान मिला था कि वह जिसको देख देगा वह निस्तेज हो जायगा। ऐसी दशा मे अगस्त्य का शाप नहुष को कैसे लगा यह बात समझ में आने से रह जाती है।

अनुशासनपर्व अ० ९९-१०० में इस कथा का सुधारा हुआ रूप मिलता है। अगस्त्य अत्याचारी नहुष का पतन चाहते हैं पर कर नहीं पाते। उन्होंने भृगु के साथ मिलकर तिकड़म की। भृगु ने दिव्य दृष्टि से जान लिया कि अमुक दिन नहुष अगस्त्य को लात से ठुकराएगा। उन्होंने अगस्त्य से कहा कि हम अपने प्रभाव से तुम्हारी जटाओं में छिपकर बैठे रहेंगे। निदान ऐसा ही हुआ। अगस्त्य को नहुष ने अपने रथ में जोता। भृगु ने बडी सावधानी से अपने आपको नहुष के साथ आँख मिलाने से बचाए रक्खा, क्योंकि वे ब्रह्मा के वरदान को जानते थे। नहुष ने अगस्त्य के सिर पर लात से प्रहार किया।

झट भृगु ने, जो अब तक नहीं देखे गए थे, क्रोध में भुनकर उसे शाप दिया और अत्याचारी नहुप साँप बनकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

इसके बाद अ० १५६ में ब्राह्मणों की महिमा बताते हुए च्यवन की कथा दुहराई गई है। कथा लगभग वही है जो आरण्यकपर्व अ० १२३ में युधिष्ठिर लोमश से सुन चुके हैं। अश्विनीकुमारों द्वारा च्यवन की नेत्रचिकित्सा और पुनर्यौवन-प्राप्ति, च्यवन का उनको सोम-पान में भाग दिलाने की प्रतिज्ञा करना, च्यवन के यज्ञ में अश्विनीकुमारों का निमंत्रण और इंद्र का सोमपान अस्वीकार करना, इंद्र का वज्र-प्रहार और च्यवन का उसको स्तंभित करना, मद नामक राक्षस की उत्पत्ति और अंत में इंद्र की क्षमा-याचना और अश्विनीकुमारों का च्यवन की कृपा से सोमपीथी बनना, ये समस्त अभिप्राय दोनों कथाओं में समान हैं।

अश्वमेधपर्व

च्यवन के उपाख्यान की प्रतिध्वनि अश्वमेधपर्व के प्रारंभ में ही फिर मिलती है। अ० ९ में अग्नि, च्यवन के द्वारा इंद्र की हेठी का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं (१४।९।३१)—

यत्र शर्यातिं च्यवनो याजयिष्यन् सहाश्विभ्यां सोममगृह्णादेकः।
तं त्वं क्रुद्धः प्रत्यपेधीः पुरस्ताच्छर्यातियज्ञं स्मर तं महेंद्र[१] ॥

अग्नि को भृगु के द्वारा अपने अपमान की कथा भी भूली न होगी जब उसने पुलोमन् असुर से भृगुपत्नी पुलोमा का कुछ भेद खोल दिया था।

अनुगीतापर्व में (अ० २९, ३०) भार्गव राम के द्वारा क्षत्रियों के नाश का फिर उल्लेख है परंतु अबकी बार इसका उपयोग मानवीय जीवन की अनित्यता सिखाने के लिये किया गया है। राम के पितरों ने उनसे कहा कि राजाओं की विजय से बढ़कर आत्म-विजय है। यही तपस्वियों का आदर्श है। यह सुनकर भार्गव राम घोर तप करने में प्रवृत्त हो गए।

१—अर्थात् शर्याति को यज्ञ कराते हुए च्यवन ने अश्विनीकुमारों को जब सोम का ग्रहण कराया, तब हे इंद्र ! तुमने उस शर्याति-यज्ञ का विरोध किया था, उसका स्मरण करो।

महाभारत की अंतिम भार्गव-कथा इस पर्व का उत्तंकोपाख्यान (अ० ५३-५८) है।

भीष्म की मृत्यु के बाद कृष्ण द्वारका को लौट रहे हैं। मार्ग में उन्हें उत्तंक ऋषि मिले। यह जानकर कि कृष्ण कौरव-पांडवों में मेल न करा सके, उत्तंक उन्हें शाप देने पर उतारू हो गए। श्रीकृष्ण ने उत्तंक को अपने दिव्य जन्म और कर्म का ज्ञान कराकर शांत किया और बतलाया कि मदोन्मत्त कौरवों ने ही उनके संधि के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। उत्तंक की प्रार्थना पर कृष्ण ने उनको अपना ऐश्वर रूप दिखलाया।

यह सुनकर चतुर जनमेजय ने वैशंपायन से पूछा कि उत्तंक ने ऐसा कौन सा तप किया था जो उन्होंने विष्णु को भी धर्षित करने का साहस किया। वैशंपायन ने कहा कि अपनी अगाध गुरुभक्ति के कारण उत्तंक को यह शक्ति प्राप्त हुई। उन्होंने बतलाया कि नरमांस-भक्षी राजा सौदास से बचकर उत्तंक ने सौदास की रानी मदयंती के कर्ण-कुंडल अपने गुरु गौतम को दक्षिणा में देने के लिये प्राप्त किए। मार्ग में एक नाग ने उनको हर लिया और उत्तंक नागलोक से उन्हें फेर लाए।

यह उत्तंकोपाख्यान आदिपर्व अ० ३ में दिए हुए पौष्यपर्व नामक गद्य-कथा का ही श्लोकबद्ध संस्करण है। दोनों में थोड़ा सा अंतर भी है। दोनों के पात्र असमान हैं। आदिपर्व में उत्तंक के गुरु वेद हैं। यहाँ पर उन्हें अहल्या का पति गौतम कहा गया है। आदि में राजा का नाम पौष्य है। यहाँ उसे सौदास कल्माषपाद कहा गया है जो ऋषि के शाप से नरमांसभोजी बन गया था। आदि में सर्प का नाम तक्षक है। यहाँ कोई नाम नहीं दिया गया। अश्वमेधपर्व की कथा में उत्तंक को कई बार भार्गव कहा गया है। आदिपर्व में ऐसा नहीं है। भार्गव होने के नाते ही उत्तंक-कथा इस निबंध में गृहीत हुई है।

आदिपर्व में दी हुई उत्तंक-कथा को एक पुछल्ले के रूप में न छोड़कर प्रवीण भारत-चिंतकों ने उसे महाभारत के ताने-बाने के साथ

संबद्ध करने का प्रयास किया है। गद्यात्मक पौष्यपर्व के अंतिम श्लोकात्मक भाग में यह कहा है कि नागलोक से लौटकर उत्तंक सीधे पांडव जनमेजय के पास हास्तिनपुर पहुँचे और परीक्षित को डसनेवाले तक्षक सर्प को दंड देने के लिये राजा से प्रेरणा की। इसी से जनमेजय ने सर्प-सत्र करने की ठानी और इसी यज्ञ में वैशंपायन ने प्रथम बार महाभारत का पारायण किया। महाभारत का जो रूप इस समय प्राप्त है उसके विषय में प्रसिद्ध है कि सूत उग्रश्रवा ने उसे शौनक को ठीक उसी रूप में सुनाया था जिस रूप में सूत ने स्वयं उसे व्यास-शिष्य वैशंपायन के मुख से जनमेजय के नाग-यज्ञ में सुना था। भार्गव उत्तंक ही उस यज्ञ के प्रेरक थे। इस कारण इस ग्रंथ के रूप-निर्माण के संबंध में उनका ऋण भी हमें मान्य है। महाभारत का यही अंतिम भार्गव-उपाख्यान है।

महाभारत में कुछ और भी भार्गव-कथाएँ हैं जिनके संबंध में विचार अभी जान-बूझकर हमने स्थगित कर रक्खा था। आदिपर्व के चौथे उपपर्व को, जिसका नाम पौलोमपर्व है, वस्तुतः भार्गव-उपाख्यानों का एक गुच्छा ही कहना चाहिए।

महाभारत का प्रारंभ दो स्थलों से माना जाता है। पहला स्थल आदि पर्व का पहला अध्याय है जिसमें उग्रश्रवा सूत (किन्हीं प्रतियों में उनका नाम सौति भी है) नैमिषारण्य में कुलपति शौनक के आश्रम में आकर उनके द्वादशवर्षीय सत्र में सम्मिलित होते हैं और वहाँ ऋषि लोग उनसे महाभारत सुनाने की प्रार्थना करते हैं (१।१।१८ प्रभृति)—

जनमेजयस्य यां राज्ञो वैशंपायन उक्तवान्।
यथावत्स ऋषिस्तुष्ट्या सत्रे द्वैपायनाज्ञया ॥
वेदैश्चतुर्भिः समितां व्यासस्याद्भुतकर्मणः।
संहितां श्रोतुमिच्छामो धर्म्यां पापभयापहाम् ॥

इस प्रार्थना के अनुसार सूतजी पहले कुछ मंगल श्लोकों का पाठ करते हैं (१।१।२०)—

आद्य' पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥

इसके बाद कुछ उपोद्घात प्रारंभ होता है परंतु थोड़ी देर के बाद ही यह सूत्र टूट जाता है।

अ० ४ में फिर ग्रंथ का आरंभ मिलता है जिसमें पहले आरंभ को बिलकुल दृष्टि से ओझल कर दिया गया है। सूत फिर उसी तरह आते हैं। प्रसंग भी वैसा ही है पर अबकी बार घटना-क्रम में अंतर है। उपस्थित ऋषि लोग कथा सुनाने के लिये सूत से प्रार्थना न करके कुलपति शौनक के आने तक उन्हें ठहराते हैं। अगले अध्याय (५) में नित्यकर्मों से निवृत्त होकर कुलपति भी आ जाते हैं। पर वे सूतजी से महाभारत सुनाने के लिये नहीं कहते, जैसा ऋषियों ने कहा था। विचित्र बात है कि शौनक सबसे पहले **भार्गवों** का इतिहास सुनाने की प्रार्थना करते हैं (१।५।२)—

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।
कथयस्व कथामेतां कल्याः स्म श्रवणे तव ॥

सूत तुरंत इंद्र, अग्नि, मरुत् देवों से अभिपूजित उत्तम भृगुकुल का इतिहास सुनाने लगते हैं (१।५।५)। यहाँ भार्गव-प्रभाव स्पष्ट और असंदिग्ध है। आठ अध्यायोंवाले (५–१२) पौलोमपर्व का महाभारत की मुख्य कथा से कुछ संबंध नहीं। यह स्पष्ट विषयांतर है जिसमें भार्गवों का गौरव गाने के लिये उनकी एक विशेष शाखा का—जिसमें भृगु, च्यवन, प्रमति, रुरु और शौनक संबंधित हैं—संक्षिप्त इतिहास है। इस शाखा का महत्त्व और महाभारत से इसका संबंध अभी स्पष्ट होगा।

इस पौलोमपर्व के एक प्रक्षिप्त श्लोक मे भार्गवों के आदि-पुरुष भृगु को ब्रह्मा के द्वारा वरुण के यज्ञ में अग्नि से उत्पन्न कहा गया है। आगे (१।६।४०) इन्हीं भृगु को ब्रह्मा के हृदय से निकला हुआ कहा गया है। अ० ५-६ में भृगुपत्नी पुलोमा के अपहरण की कथा है जिसके अंत में बेचारे अग्नि को स्वल्प दोष के लिये भी सर्वभक्षी बन जाने का शाप मिला।

इसके बाद अ० ८ में प्रमति के पुत्र भार्गव रुरु और प्रमद्वरा की कथा है। यह मेनका अप्सरा की कन्या थी। रुरु उस पर आसक्त हुए। विवाह से पहले ही साँप के डंस लेने से प्रमद्वरा प्राणशून्य हो गई। किंतु भार्गव रुरु ने अपने तपोबल से अपनी आयु का आधा भाग देकर उसे जीवित कर लिया। दोनों का विवाह हो गया। रुरु ने सब साँपों को नष्ट कर देने की प्रतिज्ञा की। इसका सादृश्य जनमेजय से है जिनके पिता परीक्षित साँप से डसे जाने से मारे गए थे। एक दिन रुरु को डुंडुभ जाति का एक पुराना निरापद साँप मिला (अ० ९) जिसकी प्रार्थना से रुरु ने उसे न मारा। यह सर्पवेश में कोई शापग्रस्त ऋषि थे (अ० १०)। ऋषि ने कहा—अहिंसा ब्राह्मण का परम धर्म है। जनमेजय ने भी पहले सर्पयज्ञ करके साँपों को निर्वंश करना चाहा था पर वे ब्राह्मण आस्तीक की कृपा से बच गए (अ० ११)। इसके बाद रुरु ने अपने पिता प्रमति से जनमेजय के नागयज्ञ की कथा सुनी (अ० १२)। यही सर्प-सत्र की कथा महाभारत का आस्तीक-पर्व (आदिपर्व अ० १३-५३) है, जिसे प्रमति ने अपने पुत्र रुरु को और कालांतर में वैसे का वैसा ही सूत ने शौनक को सुनाया।

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिपर्व अ० ४ से १२ तक का संबंध भार्गव-शाखा-विशेष से है। न तो उसमें महाभारत का नाम तक है और न इसके बाद के ४१ अध्यायोंवाले आस्तीक-पर्व में महाभारत का कहीं जिक्र है। भार्गव-कथाएँ और सर्पसत्र की कथा सुन लेने के बाद शौनक ने अंततोगत्वा कृष्ण द्वैपायन-विरचित उस महाभारत को सुनने की इच्छा प्रकट की, जिसे वैशंपायन ने जनमेजय को, उसके सर्पयज्ञ के बीच में, विधिवत् सुनाया था (१।५३।३२ प्रभृति)—

महाभारतमाख्यानं पाण्डवानां यशस्करम्।
जनमेजयेन यत्पृष्टः कृष्णद्वैपायनस्तदा॥
श्रावयामास विधिवत्तदा कर्मान्तरेषु सः।
तामहं विधिवत्पुण्यां श्रोतुमिच्छामि वै कथाम्॥

महाभारत में विद्यमान भार्गव-सामग्री का पर्यवेक्षण अब समाप्त होता है[१]।

इस लंबे विवेचन के बाद भी भार्गवों से संबंध रखनेवाले अगणित छिटफुट उल्लेख छूट गए हैं। अन्य ऋषियों के साथ सभाओं में, उत्सवों में, राजकार्यों में अथवा युद्धों के वर्णन में भार्गवों का नाम बराबर लिया गया है। महाभारत के पात्रों के शौर्य, वीर्य, तेज और बुद्धिमत्ता की उपमा देने के लिये योग्य उपमान भार्गवों में से लिए गए हैं। शुक्र के समान बुद्धिमान्, भार्गव राम के समान वीर, च्यवन और और्व के समान तेजस्वी एवं सुकन्या के समान पतिव्रता, इन उपमाओं की पुनरावृत्ति महाभारत का ईप्सित विषय है। जान पड़ता है कि भार्गवों के उदात्त नाम और गुणरूपी उज्ज्वल प्रभामय रत्नों का स्वच्छंद प्रयोग महाभारत-रूपी विशाल भवन के चित्रों को आलोकित और शोभायमान बनाने के लिये किया गया है।

उपसंहार

महाभारत में सुरक्षित कथाओं के आधार पर यह वेदितव्य है कि भार्गव लोग ब्राह्मण कुल से संबद्ध थे जिनका संबंध क्षत्रियों से बहुत घनिष्ठ था। अन्य कोई ब्राह्मणकुल इस हद तक क्षत्रियों के संपर्क में नहीं आया। यह संबंध विवाह की सीमा तक पहुँचा हुआ था। जैसे राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या से च्यवन ने विवाह किया। कान्यकुब्ज के राजा गाधि की पुत्री और प्रख्यात विश्वामित्र की बहन सत्यवती का ऋचीक ने पाणिग्रहण किया। जमदग्नि की पत्नी रेणुका

१—निम्नलिखित ऋषियों की गिनती भी शायद भृगुओं में ही होनी चाहिए—(१) आरण्यकपर्व में आए आर्ष्टिपेण, (२) अनुशासन में उल्लिखित गृत्समद जिन्हें स्पष्ट भार्गव कहा गया है, (३) उत्तंक के गुरु और जनमेजय के पुरोहित वेद, (४) व्यास के शिष्य पैल, और (५) अणीमाण्डव्य कथावाले माण्डव्य। ययाति के पुत्र भार्गवी देवयानी के गर्भ से संभूत यदु के वंशज होने के कारण कृष्ण का भी भार्गवों से दूर का संबंध होता है।

भी अयोध्या के राजा प्रसेनजित् की कन्या कही जाती है। भार्गवी देवयानी ने राजा ययाति से विवाह किया। ब्राह्मण-साहित्य में प्रतिलोम विवाह का यह एकमात्र उदाहरण मिला है। राजा वीतिहव्य एक भृगु के द्वारा ब्राह्मण बना लिए गए और उनकी संतति भार्गव कहलाई। इसके विपरीत यह भी सत्य है कि कुछ प्राचीन भार्गवों का क्षत्रियों के साथ घोर संघर्ष हुआ। राम जामदग्न्य और क्षत्रियों के वैर की कथा कितनी ही बार ऊपर आ चुकी है। और्व और जमदग्नि का भी क्षत्रियों से विरोध हुआ जो ऊपर लिखा जा चुका है।

इन द्वंद्वों में भार्गवों को क्रोधी, अभिमानी, अक्खड़ और प्रतिरोधी चित्रित किया गया है। साथ ही सूतों की दृष्टि में वे अपने तप और मंत्रबल के कारण सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी हैं। यौगिक सिद्धियों के कारण भार्गव लोग पृथ्वी पर साक्षात् देवता या उनसे भी अधिक थे। भृगु ने अग्नि को शाप दिया और देवराज की पदवी पाए हुए नहुष को भी शाप दिया। च्यवन ने इंद्र की भुजा को स्तंभित कर दिया जो वैदिक आर्यों के श्रेष्ठतम देव थे। जमदग्नि बाण मारकर सूर्य को ही पृथ्वीतल पर गिरा देते। भार्गव उत्तंक भागवतों के सर्वश्रेष्ठ देवता श्रीकृष्ण को ही शाप देने लगे थे। पृथ्वी के राजा तो भार्गवों के सामने भुनगे के समान थे। सशक्त हैहय लोग बालक और्व के सामने काँपने लगते हैं और उसके तेज से अंधे होकर दया के लिये गिड़गिड़ाने लगते हैं। राजा कुशिक च्यवन के चरणों में गिरकर चुपचाप सब प्रकार की दुर्गति सहते हैं।

भार्गवों के आदि-पुरुष भृगु की गिनती प्रजापतियों में है। दक्ष आदि अन्य प्रजापति ब्रह्मा के पृथक् पृथक् अंगों से उत्पन्न हुए पर भृगु साक्षात् उनके हृदय को भेदकर प्रकट हुए। अन्यत्र भृगु को महर्षियों में श्रेष्ठतम कहा गया है यद्यपि उनका नाम सप्तर्षियों में भी नहीं आता।

परंतु हमारे ग्रंथकार के सबसे प्रिय भार्गव तो जामदग्न्य राम हैं। थोड़ा सा भी मौका मिलने पर उनके पराक्रमशाली चरित्र का वर्णन किए बिना सूतजी से नहीं रहा जाता। उनके दिग्गज स्वरूप

की छाया संपूर्ण महाभारत पर पड़ी है। अभी तक उनको पूर्ण अवतार का स्वरूप नहीं प्राप्त हुआ। हाँ, कहीं कहीं उस दिशा में कुछ प्रयत्न अवश्य पाया जाता है। अकेले उन्होंने सारी पृथ्वी को जीत लिया। उनके घोर तप की महिमा बड़ी विचित्र है। उन्होंने २१ बार पृथ्वी चत्रियों के भार से मुक्त करके कश्यप को दान में दे दी। शस्त्रधारियों में अग्रणी भार्गव राम कौरव-सेना के तीन महारथी भीष्म, द्रोण और कर्ण के अस्त्रविद्या में गुरु कहे गए हैं यद्यपि महाभारत के अनुसार ही गुरु त्रेता के अंत में हुए और उनके शिष्य द्वापर के अंत में।

महाभारत में कितने ही भार्गव-उपाख्यान सन्निविष्ट पाए जाते हैं; जैसे आदिपर्व में और्वोपाख्यान, आरण्यक-पर्व में कार्तवीर्योपाख्यान, उद्योगपर्व में अंबोपाख्यान, शांतिपर्व में विपुलोपाख्यान और अश्वमेधपर्व में उत्तंकोपाख्यान आदि। सारा पौलोमपर्व और पौष्यपर्व का अधिकांश भाग—महाभारत के दो स्वतंत्र उपपर्व—भार्गव-उपाख्यानों से भरे हुए हैं। इसके अतिरिक्त भार्गवों के कई लंबे संवाद हैं। जैसे भृगु-भारद्वाज-संवाद, च्यवन-कुशिक-संवाद और मार्कंडेय-समास्या।

इन भार्गव-उपाख्यानों की एक विशेषता महाभारत में उनकी कई बार आवृत्ति है। उत्तंक की कथा, च्यवन-इंद्र-संघर्ष-कथा, भार्गव राम से द्रोण की अस्त्र-प्राप्ति-कथा और कर्ण के शिष्यत्व की कथा दो दो बार है। जमदग्नि और राम की जन्मकथा चार बार है। भार्गव राम के द्वारा चत्रियों के २१ बार नाश का उल्लेख १० बार हुआ है और हर दफे 'त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःचत्रिया पुरा' यही उसका रूप है, जिसे सूतों ने उनके विरुद-गान का अंतरा ही बना लिया था। भार्गव राम के द्वारा चत्रियों के गर्व तोड़ने का उल्लेख तो लगभग २० बार हुआ है।

यह बात ध्यान देने की है कि भार्गवों को यह गौरव एकदम महाभारत में ही मिलता है। उनके यश और वीर्य का कोई आभास वैदिक-साहित्य में ढूँढ़े नहीं मिलता[१]।

१ देखिए मैक्डानल और कीथ का वैदिक इंडेक्स भाग २ पृ० १०६।

उस साहित्य में भार्गवों को प्रायः अग्नि-पूजन की प्रथा का भक्त कहा गया है और वे अग्निपूजक पुरोहितों के रूप में वर्णित हैं। उन्होंने मनुष्यों के लिये अग्नि को प्राप्त किया। प्रख्यात दश राजाओं के युद्ध में द्रुह्यु लोगों के साथ भार्गवों का वर्णन है। कई मंत्रों में उनको अंगिरसों का सहयोगी बताया गया है। अथर्व वेद भृगु-अंगिरा-वेद कहलाता है और यह सत्य मालूम होता है कि भृगु और अंगिरा दोनों ही मंत्र-तंत्र की आथर्वणी प्रक्रिया में दक्ष थे। क्षत्रियों से उनकी टक्कर होने का कुछ आभास इस साहित्य में है।

यह प्रत्यक्ष है कि वैदिक प्रमाणों के सहारे प्राचीन भार्गवों का वह गौरव सिद्ध नहीं होता जो महाभारत में उनको मिला है, तथापि वैदिक प्रमाणों में कहीं कहीं बाद के भार्गव-उपाख्यानों की हलकी झलक दिखाई पड़ती है। च्यवन और अश्विनीकुमारों की कथा का मूल ऋग्वेद के एक मंत्र में है जिसमें अश्विनीकुमारों ने च्यवन को पुनर्यौवन प्रदान करके अपनी पत्नी के लिये प्रिय भावुक और कन्याओं का पति होने योग्य बना दिया। ब्राह्मणों ने इस मूल-कथा को विस्तृत किया। भृगुओं और अंगिरसों का घनिष्ठ सान्निध्य महाभारत की कथाओं तथा वंशावलियों में प्रतिबिंबित होता है।

महाभारत के समस्त भार्गव-उल्लेखों का एकत्र विचार करने से यह परिणाम अनिवार्य हो जाता है कि भरतवंश के युद्ध की कहानी में भार्गवों के वर्णन को बहुत अधिक स्थान दिया गया है। भारत-युद्ध के चित्रपट का पृष्ठदेश प्रायः भार्गव-उपाख्यानों से ही भरा हुआ है। अधिक बारीकी से जाँच करने पर संभवतः और भी भार्गव-सामग्री अभी मिल सकती है। यह भी सत्य है कि भार्गवों के व्यक्तित्व को बहुत बढ़ा चढ़ाकर दिखलाया गया है। उनके रूप मोटी कूँची से गहरे रंगों में खींचे गए हैं। उनके उपाख्यान समग्र ग्रंथ में बँटे हुए हैं (केवल १०वाँ पर्व और १५ से १८ पर्व को छोड़कर) जो केवल २५०० श्लोकों के बराबर हैं और संपूर्ण ग्रंथ की तुलना में नगण्य हैं। यह बात क्यों हुई?—यह एक समस्या है।

यह समझना बड़ा भोलापन होगा कि इस विविध भार्गव-सामग्री का सन्निवेश अनजान में ही विना किसी उद्देश्य के हो गया है और वह भारत की स्वाभाविक शैली का अंग है। पहले तो इस बात का निश्चित प्रमाण है कि महाभारत का आकार जान-बूझकर बढ़ाया गया है। कम से कम पौलोम-पर्व के उदाहरण में यह निर्विवाद है कि वह कुरु-पांडव-कथा के बाद की मिलावट है। उसमें केवल भार्गव-उपाख्यान हैं और भारत की कथा से उसका रत्ती भर भी संबंध नहीं है। दूसरी बात यह है कि महाभारत में इस बात का भी प्रमाण है कि उसी ग्रंथ की पुरानी कथाओं को "भार्गव" रंग से पोतकर सजाया गया है। इसके दो प्रकार हैं। जिन कथाओं में भार्गव अंश बिलकुल न था उनमें थोड़े से भार्गव अंश की मिलावट कर देना, जैसे षोडशराजकीय प्रकरण में सगर की कथा निकालकर राम जामदग्न्य की कथा मिला दी गई। दूसरा रूप यह है कि जो कथाएँ पहले से ही कुछ कुछ भार्गवों से संबंधित थीं उन पर और गहरा रंग चढ़ा दिया गया, जैसे नहुष-अगस्त्य की कथा में। हमने यह बात भी देखी कि महाभारत की कथा का प्रारंभ दो स्थलों में है जिनमें से एक भार्गव-प्रभाव से युक्त है। सौभाग्य से एक ऐसी साहित्यिक घटना से, जो महाभारत की ही विशेषता है, ये दोनों स्थल परस्पर-विरोधी होते हुए भी पास पास रखकर सुरक्षित कर लिए गए। महाभारत के प्रचार से भी एक भार्गव का संबंध उत्तंक की कथा द्वारा सुझाया गया है जिसने जनमेजय को नागयज्ञ करने के लिये प्रेरित किया जहाँ महाभारत का सार्वजनिक पारायण हुआ। प्रमति से रुरु ने जो कथा कही वही हमारा आस्तीकपर्व है। अंत में सौ बातों की एक बात यह है कि कुलपति शौनक, जिनको उग्रश्रवा सूत ने महाभारत की कथा सुनाई, स्वयं भार्गव थे। इसलिये शौनक की इस प्रार्थना में कि वे सबसे पहले भार्गव-वंश की कथा सुनना चाहते हैं—(१।५।३) तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।—जो भार्गव-पक्षपात निहित है, उसका कारण भी हमारी समझ में आ जाता है। परंतु पूर्व पक्ष से यह कहा जा

सकता है कि हम अपनी ओर से भार्गव-सामग्री पर इतना गौरव दे रहे हैं। महाभारत संपूर्ण ब्राह्मण-परंपरा का एक 'विश्वकोष था या हो गया है और इसलिये भार्गवों की कथाएँ भी इसमें हैं—संभव है कुछ अतिरंजना के साथ हों। स्वयं महाभारत में कहा है—(१।५६।३३)

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

कुछ हद तक यह कथन ठीक है। जिन संग्रहकर्त्ताओं ने भरतवंश की सीधी सादी युद्धकथा को ब्राह्मण धर्म के विश्वकोष के रूप में ढालने का भगीरथ आयोजन किया, संभव है कि अपने चुनाव में न्याय से काम लेने पर भी और धर्म तथा अध्यात्म संबंधी विषयों में उदार मति रखने पर भी उनकी अभिरुचि और पक्षपात किसी विशेष दिशा में रहा हो, जिसके कारण उन्होंने अगस्त्य, आत्रेय, कण्व, कश्यप, गौतम, वशिष्ठ आदि ब्राह्मण कुलों के वर्णन के लिये उतना स्थान नहीं दिया और न उतनी उदारता से काम लिया जितना भृगुवंश के लिये। इन वंशों की कथाओं का नितांत अभाव न होने पर भी वे संख्या में अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और उनकी पुनरावृत्ति कभी नहीं हुई। महाभारत के कथाप्रवाह में वे छिप-सी गई हैं, परंतु भार्गवों के उपाख्यान ऊँचा सिर उठाए हुए बार बार हमारे सामने आकर दर्शन देते हैं और भार्गव महापुरुषों के जो देवतुल्य आकार कल्पित किए गए हैं वे भीष्म, कर्ण, कृष्ण और अर्जुन जैसे अतिमानवी स्वरूपों के साथ टक्कर लेते और उनको भी पीछे छोड़ जाते हैं।

तुलना के लिये यदि हम रामायण को देखें तो उसमें भार्गव-सामग्री कितनी कम है! भृगु के बारे में सिर्फ इतना उल्लेख है कि उनकी पत्नी का विष्णु के द्वारा शिरश्छेद हुआ। वाल्मीकि के ग्रंथ में केवल कुछ कहानियों के वक्ता-रूप में च्यवन का नाम आया है। राम जामदग्न्य का उल्लेख सिर्फ एक वार दाशरथि राम के साथ होनेवाले संघर्ष में है जिसमें उनको नीचा देखना पड़ा। रामायण के जमदग्नि इसके अतिरिक्त कि वे कार्तवीर्य अर्जुन के हाथों मारे गए

बिलकुल अज्ञात व्यक्ति हैं। तेजस्वी और्व का कहीं नाम भी नहीं है। इस स्थिति पर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है।

यह निर्विवाद है कि वर्त्तमान महाभारत की भार्गव-सामग्री का भरतवंश की पुरातन कथा के संग्रथन से कुछ संबंध नहीं है। भार्गव-सामग्री महाभारत के उस अंश में है जिसका निर्माण उपाख्यानों से हुआ है इसलिये हमारी सम्मति में बिना हिचकिचाहट के यह परिणाम निकाला जा सकता है कि **महाभारत के वर्त्तमान संस्करण में भारत कथाओं का भार्गव-उपाख्यानों के साथ संबंध जान-बूझकर ताने-बाने की तरह मिलाया गया या गठबंधन की तरह जोड़ा गया है।**

यह प्रश्न बड़ा आकर्षक है कि यह भार्गव-सामग्री, जो अधिकांश में महाभारत के उपाख्यानात्मक अंश में सन्निविष्ट है, किस प्रकार भरत-वंश के कथाचक्र का अंग बना ली गई। इसका उत्तर दुर्भाग्य से अब कल्पना पर निर्भर है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार भी महाभारत के प्रसिद्ध रचयिता भगवान् वेदव्यास का यह कार्य नहीं है; क्योंकि ग्रंथ के संस्कर्त्ताओं ने सौभाग्य से इस बात को साफ स्वीकार किया है कि व्यास का मूल ग्रंथ भारत २४००० श्लोकों का था और, उसमें उपाख्यान नहीं थे (१।१।६१)—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

अर्थात् व्यास ने २४००० श्लोकोंवाली भारतसंहिता बनाई। बिना उपाख्यानों के ग्रंथ को अभिज्ञ लोग भारत कहते हैं। व्यास के शिष्य वैशंपायन का भी यह कार्य नहीं मालूम होता जिन्होंने व्यास-कृत भारत को, स्वयं व्यास की उपस्थिति में, अपने गुरु से जैसा पढ़ा था वैसा ही जनमेजय के नागयज्ञ में सुनाया था।

इसके बाद महाभारत के जिस संस्करण का प्रमाण मिलता है, अर्थात् भार्गव शौनक के द्वादशवर्षीय यज्ञ में सूत उग्रश्रवा ने जिस ग्रंथ का पारायण किया था, उसके विषय में परिस्थिति पहले से भिन्न थी।

कथा आरंभ होने से पहले ही शौनकजी सूतजी से, जो महाभारत की कथा सुनाने आए थे, भार्गव-वंश की कथा सुनाने का आग्रह करते हैं और सूतजी तदनुसार कार्य करते हैं। अब घटनास्थल अशांत कौरव-राजसभा से उठकर भार्गवों के प्रशांत आश्रम में स्थापित होता है।

हमारे विचार में कम विद्वान् अब ऐसे मिलेंगे जो इस बात को न मानते हों कि अन्य देशों के प्राचीन वीरगाथा-काव्यों के समान भारत भी परिस्थिति और जनरुचि के अनुसार परिवर्त्तित होता रहा है। इसका स्वरूप तरल बना रहा, पथराया नहीं। इस बात के स्वीकार कर लेने से ग्रंथ की अवहेलना या उस पर कोई आक्षेप इष्ट नहीं है, बल्कि इस प्रकार के संवर्धन और संस्करण की प्रक्रिया स्वाभाविक, अनिवार्य और व्यापक दृष्टि से सर्वांश में न्याय्य है। लोक के प्रगतिशील जीवन में वास्तविक प्रभाव डालने के लिये महाभारत-सदृश ग्रंथों को परिवर्त्तनशील होना ही चाहिए। इस परिवर्द्धन और परिष्कार की प्रक्रिया इस बात का प्रमाण है कि लोक का जीवन इस ग्रंथ से अनुप्राणित और प्रभावित होता रहा, अर्थात् महाभारत ऐसा ग्रंथ न था जिसे लोग विस्मृत करके धूलिधूसरित होने के लिये छोड़ देते। महाभारत के लिये इस परिस्थिति से कोई क्षति नहीं पहुँची। उसका वास्तविक महत्त्व और मूल्य यही है कि उसमें अनेक युगों की भारतीय संस्कृति के दर्शन चलते चित्रपट के समान प्राप्त होना शक्य हैं। उसमें इतिहास की जड़ीभूत घटनाएँ चाहे न सही परंतु साँची के बौद्ध स्तूपों के द्वार-तोरण और स्तंभों पर उत्कीर्ण शिल्प के समान अथवा अजंता के प्रख्यात भित्तिचित्रों के समान उसमें भारतीय जीवन के अनेक दृश्य स्थायी रूप में खचित हो गए हैं। जैसा कहा जा चुका है, यह संभव जान पड़ता है कि आरंभिक काल में पुष्कल भार्गव-प्रभाव महाभारत के स्वरूप-निर्माण में कार्य कर रहा था। मूल ग्रंथकर्त्ता व्यास और संभवतः वैशंपायन के भी बाद इस सामग्री ने मौलिक ग्रंथ पर अपना प्रभाव जमाना आरंभ किया। महाभारत के तीसरे पारायण का श्रेय सूतजी को है। तो क्या भारत को महाभारत में बदल डालने का उत्तरदायित्व सूतजी पर ही है? इस बात

को किसी तरह से नहीं माना जा सकता कि धर्म और नीति से संबंध रखनेवाले प्रगाढ़ संवाद और बृहत् उपाख्यानों को, जिनके द्वारा २४००० श्लोकों का ग्रंथ वर्तमान विश्वकोषात्मक स्वरूप को प्राप्त हो गया, केवल कथावाचक सूतों ने ही रच डाला हो।

महाभारत उस प्रकार का इतिहास ग्रंथ कदापि नहीं जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं के तिथिक्रम और आँकड़ों को इकट्ठा करके ठेठ इतिहास लिखा गया हो। इस प्रकार का नीरस ग्रंथ किसी प्रकार भी २५०० वर्ष तक जीवित नहीं रह सकता था। कौन नहीं जानता कि इतिहास के पंडितों द्वारा बड़े परिश्रम से रचे गए सैकड़ों पोथे लोक-जीवन में अपना प्रभाव खोकर पुस्तकालयों में धूल चाटते हैं। कौन व्यक्ति उन्हें दुबारा पढ़ने का कष्ट करता होगा? महाभारत उस प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति से रचा हुआ इतिहास न कभी था और न उसे ऐसा समझना ही चाहिए। वह एक भावात्मक काव्य है। पहले लोगों ने भी उसे वस्तुत: **काव्य** कहा है—

कृतं मयेदं भगवान् काव्यं परमपूजितम्।

रामायण के समान यह भी बहुत उच्च कोटि का काव्य है। यह एक कलाकार की सृष्टि है जिसमें आदर्शों की उपासना की गई है, तथा जिसमें नीति और धर्म के गभीर भाव ओतप्रोत हैं। इस काव्य में धर्म और सत्य के तत्त्वों को स्वच्छंदता के साथ उपाख्यानों की सहायता से समझाया गया है। उसमें प्रत्येक शब्द के अक्षरार्थ पर आग्रह करना अयुक्त है।

महाभारत को सूत ने वैशंपायन के पारायण में सुनकर कंठ कर लिया था और शौनक की प्रार्थना पर **शब्दश:** उसकी आवृत्ति की थी— यह कथन ग्रंथ के जन्म की एक साहित्यिक रूप-रेखा प्रस्तुत करता है। भारतीय साहित्य में और ग्रंथों के लिये भी इसी प्रकार की उत्थानिका मिलती है। हमारे विचार में महाभारत की उत्थानिका में अनजाने ही यह बात अंगीकार कर ली गई है कि किसी गाढ़े समय में भारत ग्रंथ सूतों के द्वारा भृगुओं के प्रभावक्षेत्र में आ गया। कुलपति शौनक

इस भार्गव-प्रभाव के प्रतीक हैं। वीरगाथाओं के युग में जो सूत इस काव्य का गान करते थे, उनका संबंध कुलपति शौनक के साथ भी परंपरा के अनुसार सुरक्षित रक्खा गया है।

महाभारत के कथाभाग में तो भार्गवों का प्रभाव निर्विवाद सिद्ध है। एक दूसरे क्षेत्र में भी उनके प्रभाव की संभावना विदित होती है जिसका सिद्ध करना अपेक्षाकृत कठिन है। हमारा तात्पर्य धर्म और नीति से संबंध रखनेवाली उस विशाल सामग्री से है जिसका संग्रह विशेषतः शांति और अनुशासन पर्वों में पाया जाता है। यह सर्व-सम्मत है कि धर्म और नीति का सर्वांगपूर्ण और गंभीर विवेचन महा-भारत में प्राप्त है जिसके कारण हिंदू संस्कृति में इसे स्मृति का पद दिया गया और भारतवासियों की दृष्टि में इसको शाश्वत सम्मान और मूल्य प्राप्त हुआ।

संयोग से धर्म और नीति इन्हीं दो विषयों में भृगुओं ने **विशेष अधिकार** प्राप्त किया था। विशेष रूप से भृगुओं के नाम इनके साथ संबद्ध हैं। भार्गव शुक्र का नीति विषय के साथ संबंध, जो महाभारत में भी रूढ़ है, विश्वविदित है। धर्मशास्त्र के साथ भृगुओं का संबंध भी निश्चित रूप से था परंतु वह इतना सुविदित नहीं है। मनुस्मृति के आंतरिक प्रमाण से ही यह सिद्ध है कि मनु द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र के सुनाने का कार्य (श्रावण) भृगु ने ही किया जिसके कारण मनुस्मृति को आज भी भृगुसंहिता कहा जाता है *और जिस पर संदेह करने का रत्ती भर भी कारण नहीं है। विद्वानों* को यह भी विदित है कि महाभारत और मनुस्मृति में घनिष्ठ संबंध है। मनुस्मृति का आरंभिक भाग महाभारत के प्रथम अध्याय के ढंग का है। कुछ श्लोकों के तो शब्द भी एक से हैं। कितनी जगह महाभारत में प्रमाण रूप से मनु की सम्मति उद्धृत की गई है (इत्येवं मनुरब्रवीत्)। डा० बूलर की गणना के अनुसार मनुस्मृति के २६० श्लोक (समग्र ग्रंथ का लगभग दशमांश) ज्यों के ज्यों (या बहुत कम पाठांतर के साथ) महाभारत के पर्व ३, १२ और १३ में पाए जाते

हैं। पूरे महाभारत की छानबीन करने पर संभव है कि और श्लोक भी एक से मिलें। महाभारत का विशाल प्रासाद धर्म की नींव पर रचा गया है। महाभारत धर्मग्रंथ है। उसके नायक धर्म के पुत्र धर्मराज हैं। भारत युद्ध धर्मयुद्ध था—यतो धर्मस्ततो जयः। युद्धभूमि को धर्मक्षेत्र कहा गया। स्वयं नारायण ने धर्म की ग्लानि को हटाकर धर्म की स्थापना के लिये श्रीकृष्ण रूप में अवतार लिया। महाभारत का सारांश, जिसका नाम भारत-सावित्री है, संपूर्ण कथानक के आदर्श को व्यक्त करने के लिये ग्रंथांत में इस प्रकार दिया गया है (१८।५।६२ प्रभृति)—

> ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
> धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
> न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
> नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

भार्गव कथा और उपाख्यानों के रूप में विपुल भार्गव-सामग्री का सन्निवेश, उसके वर्णन की शैली, और धर्म और नीति संबंधी भार्गों का सम्मिश्रण—जिसने विशेषतः भारतचिंतकों को उलझन में डाल रक्खा था—इन तीनों बातों की सरल और सीधी उपपत्ति यह मान लेने से समझ में आ जाती है कि **महाभारत का महत्त्वपूर्ण एक संस्करण भार्गवों के प्रबल और साक्षात् प्रभाव के अंतर्गत तैयार किया गया**[१]। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इस पाठ-स्थापना के बाद ग्रंथ के रूप में कुछ फेरफार नहीं हुआ। इस देश के अन्य परंपरागत ग्रंथों की तरह विगत २५०० वर्षों के लंबे समय में महाभारत के कलेवर में भी शनैः शनैः परिवर्द्धन परिवर्त्तन चलता ही रहा।

---

[१] *The assumption of an important unitary diaskeuasis of the epic under very strong and direct Bhārgava influence.*

यह परिवर्द्धन भी ग्रंथ का प्रथम पाठ निश्चित हो जाने के बाद की शताब्दियों में संभवतः भार्गवों के द्वारा ही किए गए। वैदिक शाखाएँ और ब्राह्मण जिस प्रकार विशेष विशेष वैदिक चरणों में और ऋषिकुलों में सुरक्षित रहे उसी प्रकार पंचम वेद भारत भी अवश्य ही कुछ काल पर्यंत भार्गवों की साहित्यिक संपत्ति बना रहा। विविध सामग्री रखते हुए भी महाभारत में जो एकसूत्रता पाई जाती है उसका कारण हमारी सम्मति में यही था। इस सामग्री के निर्माण में संभव है कि कितने ही कारीगरों ने भाग लिया हो पर उसे एक ही साँचे में से होकर निकलना पड़ा।

यदि उपरोक्त विचारों की युक्ति अखंड है तो उनकी सहायता से हम महाभारत को आच्छन्न करनेवाले परदे को उठाकर उसके पूर्व इतिहास की कुछ झाँकी ले सकते हैं। इस प्रकार की झाँकी से यह मालूम होता है कि भारतवर्ष के अत्यंत प्राचीन युग में २४००० श्लोकों का एक वीर-गाथा-परक काव्य था जिसके कर्त्ता व्यासजी माने जाते थे एवं जिसमें विस्तार से भारत-युद्ध और पांडवों के माहात्म्य का वर्णन था। इस वीर काव्य को अर्थात् राजसभाओं में सूतों द्वारा गाए जानेवाले भारत को, जो अत्यंत लोकप्रिय हो गया था, किसी संकट-परिस्थिति में भृगुओं ने (जिनको धर्म और नीतिशास्त्र विशेष अधिकृत थे और संभवतः वैष्णव सिद्धांतों में भी अभिरुचि थी) अपना लिया और लोक की शिक्षा और अभिरुचि के उद्देश्य से उस काव्य का बृहत् संस्कार कर डाला। पुरातन ज्ञान-गरिमा के अधिकारी और उपाख्यान-शैली में प्रवीण इन मुनियों ने सूतों से भारत को लेकर पीछे महाभारत के रूप में उसे संसार को वापिस किया। भृगुओं के द्वारा होनेवाले इस संस्कार में स्वभावतः ही उस ग्रंथ पर (भृगु-संस्कृति) अर्थात् उनके उदीर्ण इतिहास, प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की गहरी छाप पड़ी। इसका फल यह हुआ कि महाभारत काव्य ने एक साथ ही युद्ध-ग्रंथ और धर्म-ग्रंथ दोनों का रूप धारण कर लिया। यह कल्पना की जा सकती है कि भारत का यह परिष्कृत

रूप दीर्घकाल तक भार्गवों की सुरक्षा में बना रहा और उन्होंने अपने ढंग से उसको प्रचारित किया। इस नए भार्गव-संस्करण को इतनी विराट् सफलता प्राप्त हुई जो उचित ही थी कि मूलग्रंथ, जिसका नाम भारत था, भूल में पड़ गया और आगे चलकर बिलकुल लुप्त हो गया। आश्वलायन गृह्यसूत्र के समय तक मूल भारत काव्य महाभारत से अलग ही विद्यमान था; क्योंकि उसमें दोनों का साथ साथ उल्लेख मिलता है। भृगुओं के हाथ से निकलकर जिस काल में भी महाभारत ग्रंथ समस्त देश की साहित्यिक संपत्ति बन गया उस काल के बाद भी इसमें थोड़े बहुत परिवर्त्तन-परिवर्द्धन का द्वार खुला ही रहा, किंतु लोक में यह महर्षि व्यास द्वारा विरचित प्राचीन ग्रंथ की भाँति ही पूजित होता रहा। भारतों के इस वीर काव्य पर पड़े हुए भार्गव-प्रभाव की जितनी ही गहरी छानबीन आगे की जायगी, हमारी सम्मति में भारतवर्ष के इस विराट् काव्य महाभारत का इतिहास उतना ही सुस्पष्ट होता जायगा।

[श्रावण १९९७

——

वीसलदेव रासो का निर्माणकाल

[लेखक—महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डी० लिट्०]

नरपति नाल्ह रचित 'वीसलदेव रासो' के निर्माणकाल के संबंध में भिन्न भिन्न विद्वानों के मत भिन्न भिन्न हैं और हस्तलिखित प्रतियों में कहीं उसका वि० सं० १०७३, कहीं १०७७, कहीं १२७२, कहीं १३७७ और कहीं १७७३ में निर्माण होना लिखा मिलता है। श्रीयुत अगरचंद नाहटा ने 'राजस्थानी' (त्रैमासिक पत्रिका, भाग ३, अंक ३) में अपने 'वीसलदे रासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ' नामक लेख में भिन्न भिन्न पंद्रह प्रतियों के आधार पर उसकी रचना के ऊपर दिए हुए भिन्न भिन्न संवत् दिए हैं। और उसकी भाषा सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा बतलाई है तथा सोलहवीं शताब्दी में नरपति नाम के एक जैन कवि के होने का भी संकेत किया है। तिस पर भी उक्त पुस्तक का रचना-काल अनिश्चित ही रहता है, जिसका निश्चय करना आवश्यक है।

छपे हुए 'वीसलदेव रासो' में, जो काशी की नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है, उसका रचना-काल—

बारह सै बहत्तराँ[1] हाँ मँझारि।
जेठ वदी नवमी बुध वारि[2]॥

१—उक्त पुस्तक के संपादक ने "बारह सै बहत्तराँ" का अर्थ १२१२ किया है (वीसलदेव रासो की भूमिका; पृ० ८) और कुछ विद्वान् ऐसा ही मानते भी हैं। परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि राजस्थानी भाषा में "बहत्तराँ" का अर्थ १२ नहीं, ७२ होता है।

२—वीसलदेव रासो (नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित), पृ० ४, छंद ६।

अर्थात् वि० सं० १२७२ ज्येष्ठ बदि ९ बुधवार दिया है। राजपूताने में पहले विक्रम संवत् कहीं चैत्रादि (चैत्र सुदि १ से प्रारंभ होनेवाला) और कहीं कार्तिकादि (कार्तिक सुदि १ से प्रारंभ होनेवाला) चलता था, जैसा कि वहाँ से मिलनेवाले शिलालेखों, दानपत्रों और पुस्तकों से पाया जाता है[१]। चैत्रादि वि० सं० १२७२ ज्येष्ठ बदि ९ को शुक्रवार था और कार्तिकादि वि० संवत् के अनुसार अर्थात् चैत्रादि १२७३ में उक्त तिथि को बुधवार आता है। यह प्रति जयपुर से प्राप्त वि० सं० १६६९ की लिखी हुई प्रति के आधार पर संपादित हुई है। नाहटाजी की वि० सं० १७२४ की लिखी हुई प्रति नं० १ में भी यही संवत् दिया है[२], इसलिये उस पर अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं।

उनकी प्रति संख्या २ में

संवत सहस सत्तिहुतरइ जाणि······
सुकल पख पंचम श्रावण मास
रोहिणी नक्षत्र[३]···············

अर्थात् वि० सं० १०७७ श्रावण सुदि ५ रोहिणी नक्षत्र दिया है। इसमें वार नहीं है। चैत्रादि संवत् के अनुसार वि० सं० १०७७ श्रावण सुदि ५ को बुधवार और हस्त नक्षत्र था और कार्तिकादि संवत् के अनुसार उक्त तिथि को सोमवार और हस्त नक्षत्र आता है। यह संवत् भी नक्षत्र की विभिन्नता के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता। प्रति नंबर ८, ११ और १२ में केवल "संवत् सहस विहुतरइ" अर्थात् वि०

१—राजपूताना के राज्यों में कहीं आषाढ़ सुदि १, कहीं श्रावण बदि १ और कहीं भाद्रपद सुदि २ से वर्षारंभ मानते हैं, परंतु ये राजकीय हिसाब के लिये हैं। जनसाधारण में पंचांग के अनुसार, ब्राह्मणादि में चैत्रादि और व्यापारी वर्ग में बहुधा कार्तिकादि संवत् का ही प्रचार अधिकता से पाया जाता है।

२—राजस्थानी (त्रैमासिक पत्रिका); भाग ३, अंक ३, पृ० २।

३—वही; भाग ३, अंक ३, पृ० २।

सं० १०७३ ही दिया है,[१] मास, पक्ष, तिथि, वार आदि कुछ नहीं है; इसलिये उनके संबंध में जाँच नहीं हो सकती। प्रति नंबर १० में "संवत सतर तिहोतरे" अर्थात् वि० सं० १७७३ दिया है,[२] जिस पर विचार करना निरर्थक है; क्योंकि जयपुर की वि० सं० १६७६ फाल्गुन वदि १ की लिखी हुई प्रति मिल गई है।

प्रति नंबर १३ में—

संवत तेर सतोतरइ जांणी…………
सुक्क पंचमी नइ श्रावणमास
हस्त नक्षत्र रविवार सुं
सुभ दिन जोसी रे जोड़ियउ रास[३]

अर्थात् वि० सं० १३७७ श्रावण सुदि ५ हस्त नक्षत्र रविवार दिया है। चैत्रादि संवत् के अनुसार वि० सं० १३७७ श्रावण सुदि ५ को हस्त नक्षत्र और शुक्रवार था तथा कार्तिकादि संवत् के अनुसार उक्त तिथि को चित्रा नक्षत्र और गुरुवार आता है। इस तरह यह संवत् भी अशुद्ध ठहरता है।

इन सब संवतों में कार्तिकादि संवत् मानकर वार आदि का मिलान करने से छपी हुई पुस्तक और नाहटाजी की प्रति नं० १ के संवत्, मास, पक्ष, तिथि और वार आदि ठीक मिल जाते हैं, शेष के नहीं। ऐसी दशा में अब तक मिली हुई उक्त पुस्तक की हस्त-लिखित प्रतियों के आधार पर कार्तिकादि वि० सं० १२७२ (चैत्रादि १२७३) ही उसका रचनाकाल मानना पड़ता है।

अब हम ग्रंथ की भीतरी बातों पर विचार करेंगे। अजमेर और सांभर के चौहानों में विग्रहराज नाम के, जिनको वीसलदेव भी

१—राजस्थानी (त्रैमासिक पत्रिका); भाग ३, अंक ३, पृष्ठ २०।

२—वही; भाग ३, अंक ३, पृष्ठ २०।

३—वही; भाग ३, अंक ३, पृष्ठ २०-२१।

कहते थे,[१] चार राजा हुए। प्रत्येक राजा का औसत राज्य-समय पंद्रह वर्ष[२] मानने से विग्रहराज प्रथम, विग्रहराज द्वितीय से दस पीढ़ी पूर्व अर्थात् वि० सं० ८८० के लगभग हुआ होगा। वीसलदेव द्वितीय (विग्रहराज) वि० सं० १०३० में विद्यमान था, जिसने गुजरात के सोलंकी राजा मूलराज पर चढ़ाई की थी। विग्रहराज तृतीय का, जो विग्रहराज द्वितीय से आठवीं पीढ़ी में हुआ, समय वि० सं० ११५० के लगभग होना चाहिए। वह परमार राजा भोज के भाई उदयादित्य का समकालीन था, जो वि० सं० १११६[३] के आसपास गद्दी पर बैठा था और जिसके समय के वि० सं० ११३७[४] और ११४३[५] के शिला-लेख मिल गए हैं। विग्रहराज तृतीय की सहायता पाकर उदयादित्य ने गुर्जर देश के सोलंकी राजा कर्ण को जीता था। कर्ण के दानपत्र

१—आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनाभि-
र्देव. शाकंभरींद्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः ॥ १ ॥
ब्रूते संप्रति चाहमानतिलकः शाकंभरीभूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयो सन्तानजानात्मनः ॥ २ ॥

—दिल्ली के फीरोजशाह की लाट पर चौहान राजा वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के वि० स० १२२० वैशाख सुदि १५ गुरुवार के लेख से।

२—विग्रहराज द्वितीय वि० सं० १०३० और विग्रहराज चतुर्थ वि० स० १२१० में विद्यमान थे। इन दोनों के बीच १८० वर्षों में बारह पीढ़ियाँ हुईं। हिसाब करने से प्रत्येक राजा का औसत राज्य-काल पंद्रह वर्ष आता है, जो हमने ऊपर माना है।

३—बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल; जि० ९ पृ० ५४६।

४—इंडियनएंटिक्वेरी; जि० २०, पृ० ८३।

५—यह लेख झालरापाटन म्यूजियम में सुरक्षित है। बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल; जि० १०, पृ० २४१।

वि० सं० ११३१[१] और ११४८[२] के मिले हैं। विग्रहराज चतुर्थ ने वि० सं० १२१० में 'हरकेलि नाटक' समाप्त किया था और वि० सं० १२२० तक के उसके कई शिलालेख मिल गए हैं।

'वीसलदेव रासो' में वीसलदेव के पूर्वजों की कोई वंशावली नहीं दी है, जिससे यह निर्णय नहीं होता कि वह उक्त चारों वीसलदेवों में से किससे संबंध रखता है। 'वीसलदेव रासो' में कवि ने मुख्यतया दो घटनाओं का वर्णन किया है—एक तो वीसलदेव के राजा भोज की पुत्री से विवाह होने की और दूसरी उस (वीसलदेव) के उड़ीसा जाने की। जहाँ तक पहली घटना का संबंध है, बीज रूप में उसमें सत्य का अंश अवश्य है, परंतु शेष कथा कल्पित ही प्रतीत होती है, जैसा हम आगे चलकर बतलाएँगे।

'वीसलदेव रासो' में लिखा है कि वीसलदेव की रानी राजमती परमार राजा भोज की पुत्री थी। परमार राजा भोज उदयादित्य का बड़ा भाई था और उस (भोज) ने चौहान राजा वाक्पतिराज (द्वितीय) के छोटे भाई वीर्यराम को युद्ध में मारा था, जिससे संभव है मालवा के परमारों और सांभर के चौहानों में अनबन हो गई हो। राजपूतों में ऐसी अनबन पुत्री विवाहने से मिटती थी, जिसके अनेक उदाहरण उनके इतिहास में मिलते हैं। पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के बीजोल्याँ के शिलालेख में दी हुई चौहानों की वंशावली में विग्रहराज (तृतीय) की रानी का नाम राजदेवी दिया है[३]। 'वीसलदेव रासो' की

१—जर्नल आव् दि बाबे ब्राच आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी; जि० २६, पृ० २५७।

२—एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द १, पृ० ३१७-१८।

३—चामुंडोऽवनिपेति राणकवरः श्रीसिंघटो दूसल-
स्तद्भ्राताथ ततोपि वीसलनृपः श्रीराजदेविप्रियः···॥ १४॥

—बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल; जि० ५५, भाग १, सन् १८८६, पृ० ४१।

राजमती और यह राजदेवी नाम एक ही रानी के सूचक होने चाहिएँ। परमार राजा भोज के अंतिम समय उसके राज्य पर बड़ी आपत्ति आई और गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) तथा चेदि के राजा कर्ण ने उस पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई के समय ही उसकी मृत्यु हो गई। उसके पीछे उसका पुत्र जयसिंह परमार राज्य का स्वामी हुआ, जिसके समय का वि० सं० १११२[१] का एक दानपत्र और १११६[२] का एक शिलालेख पाणाहेड़ा (बाँसवाडा राज्य) से मिला है। उसका उत्तराधिकारी उसका चाचा उदयादित्य हुआ, जिसने अपने राज्य की स्थिति दृढ़ की। संभव है उसने चौहानों के साथ का अपना वैर मिटाने के लिये अपनी भतीजी (भोज की पुत्री) राजदेवी अथवा राजमती का विवाह वीसलदेव तृतीय से किया हो, जिससे पीछे से गुजरातवालों के साथ की लड़ाई में उसे उस (वीसलदेव तृतीय) की सहायता प्राप्त हुई हो। इससे तो यही अनुमान दृढ़ होता है कि 'वीसलदेव रासो' का नायक चौहान राजा वीसलदेव तृतीय है, न कि चतुर्थ, जैसा प्रकाशित पुस्तक के संपादक ने मान लिया है एवं कुछ अन्य विद्वान् भी मानते हैं।

'वीसलदेव रासो' का रचनाकाल वि० सं० १२१२ मानकर उसके नायक को वीसलदेव चतुर्थ और उसके रचयिता नरपति नाल्ह को उसका समकालीन कवि मानना भ्रमपूर्ण कल्पना ही प्रतीत होती है, जैसा कि ऊपर लिखा गया है। 'वीसलदेव रासो' का रचना-काल कार्तिकादि वि० सं० १२७२ (चैत्रादि १२७३) होना चाहिए, न कि १२१२ और उसका नायक वीसलदेव तृतीय, न कि वीसलदेव चतुर्थ। नरपति को भोज की पुत्री से वीसलदेव का विवाह होने की बात ज्ञात थी। उसी के आधार पर उसने उक्त घटना से लगभग १५० से भी अधिक वर्षों बाद अपने काव्य की रचना की। यह विवाह कब हुआ, इसका

१—एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द ३, पृ० ४८।

२—राजपूताना म्यूजियम अजमेर की रिपोर्ट; ई० स० १९१६-१७, पृ० २।

ठीक ठीक पता उसे न था, पर वधू के भोज की पुत्री होने से उसने उसके समय में ही विवाह होना लिख दिया। अपने काव्य को लोकप्रिय और रोचक बनाने तथा नायक की महत्त्व-वृद्धि के निमित्त काव्य में वर्णित अन्य घटनाओं में उसने कल्पना का आश्रय लिया। विवाह के समय भोज का आलीसर, कुडाल, मंडोवर, सौराष्ट्र, गुजरात, साँभर, टोड़ा, टोंक, चित्तौड़ आदि देश वीसलदेव को देना कोरी कवि-कल्पना ही है। जैसलमेर, अजमेर, आनासागर आदि उक्त काव्य की रचना के समय अर्थात् चैत्रादि वि० सं० १२७३ में विद्यमान थे। कवि ने उनके नाम भी उसमें समाविष्ट कर दिए। अनेक नामों की भरमार के ऐसे उदाहरण प्राचीन काव्यों में स्थल-स्थल पर मिलते हैं। उड़ीसा जाने की कथा भी कल्पित ही ठहरती है, क्योंकि चारों वीसलदेवों में-से किसी के भी उड़ीसा विजय करने का प्रमाण नहीं मिलता। वीसलदेव का अपने भतीजे को अपना उत्तराधिकारी नियत करने की घटना भी कल्पना-मात्र ही है।

कवि ने अपने काव्य में सब जगह वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है, इससे भी कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वह वीसलदेव का समकालीन था; परंतु यह कोई जरूरी बात नहीं कि वर्तमान-कालिक क्रिया का प्रयोग करनेवाला कवि समकालीन ही हो। काव्य में वर्णित घटनाओं को सत्य का रूप देने के लिये बहुधा कवियों ने इस शैली का प्रयोग किया है। नरपति वीसलदेव का समकालीन नहीं बल्कि उससे १५० से भी अधिक वर्ष पीछे हुआ था।

श्रीयुत नाहटाजी ने 'वीसलदेव रासो' की भाषा के विषय में संदेह प्रकट करते हुए उसे सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा माना है। यद्यपि पीछे से मूल रासो में बहुत-कुछ हेर-फेर हुआ है, फिर भी उसमें प्राचीनता के चिह्न वर्तमान हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि वह वि० सं० १२००-१३०० के आसपास ही रचा गया होगा। नीचे हम उसी समय की भाषा के कुछ उदाहरण देते हैं, जिनके साथ

'वीसलदेव रासो' की भाषा का मिलान करने पर इस विषय में संदेह को स्थान न रहेगा।

(१) पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण॥

(२) जेवडु अंतरु रावण रामहँ तेवडु अंतरु पट्टण गामहँ।

(३) जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ॥
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ॥

(४) जइ यह रावणु जाईयउ दहमुह इक्कु सरीरु।
जणणि वियंभी चिंतवइ कवणु पियावउ खीरु॥

(५) राणा सव्वे वाणिया जेसलु वड्डउ सेठि।
काहूँ वणिजडु मांडीयउ अम्मीणा गढ हेठि॥

(६) वाढी तो वढवाण वीसारतां न वीसरइ।
सोना समा पराण भोगावह पइं भोगवइ॥

(७) नवजल भरीया मग्गड़ा गयणि घडक्कई मेहु।
इत्थंतरि जरि आविसिइ तऊ जाणीसिइ नेहु॥

इनमें से सं० १ और २ के उदाहरण अनेक विषयों के प्रकांड विद्वान् प्रसिद्ध हेमचंद्राचार्य-रचित अपभ्रंश भाषा के व्याकरण से लिए गए हैं, जो वि० सं० १२०० के आसपास बना था और सं० ३, ४, ५, ६ और ७ के उदाहरण 'प्रबंधचिंतामणि' मे हैं जो जैन आचार्य मेरुतुंग ने वि० सं० १३६१ में वढ़वान में बनाई थी। इन पुस्तकों में ये उदाहरण के रूप में दिए गए हैं, अतएव निश्चित है कि ये इनके निर्माणकाल से पूर्व की रचनाओं से लिए गए हैं।

भाषा का प्रयोग कवि की रुचि पर निर्भर है। जैनों के धर्मग्रंथ (सूत्र) प्राकृत (अर्द्धमागधी) भाषा में होने के कारण जैन लेखक अपने भाषा-काव्यों में प्राकृत शब्दों की भरमार करते रहे हैं, जिससे उनकी भाषा दुरूह हो गई है। चारण, भाट आदि प्राकृत से अधिक परिचित न होने के कारण अपनी रचनाएँ प्रचलित भाषा में करते थे, जिससे इन दोनों प्रकार के लेखकों की पुस्तकों की भाषा में अंतर होना

स्वाभाविक ही है। भाषा की कसौटी सदियाँ नहीं हैं। एक ही समय में कोई सरल भाषा में अपनी रचना करता है तो कोई कठिन भाषा का प्रयोग करता है।

'वीसलदेव रासो' के कर्त्ता ने उसकी रचना का समय आरंभ में दिया है, इससे श्रीयुत नाहटाजी ने यह अनुमान किया है कि उसने मुसलमानी प्रथा का अनुसरण किया है; क्योंकि उनके मतानुसार यह प्रथा मुसलमानों के समय से ही प्रारंभ हुई और उसके पहले कवि अथवा लेखक ग्रंथ-रचना का समय अंत में दिया करते थे। परंतु यह केवल अनुमान ही है। रचना का समय ग्रंथ के किसी अंश में देने की पहले कोई प्रथा हो ऐसा पाया नहीं जाता। यह तो रचयिता की रुचि का प्रश्न था। जहाँ पहले के अनेक ग्रंथों में रचना का समय अंत में मिलता है, वहाँ कई में आरंभ में भी पाया जाता है और कितने ही ग्रंथों में तो रचना का समय ही नहीं दिया है। जैन कवि मान-रचित 'राजविलास' नामक ग्रंथ में भी उसकी रचना का समय आरंभ में ही स्तुतियों के बाद दिया है, पर इससे यह कहना अनुचित है कि उसने मुसलमानी प्रथा का अनुसरण किया था। ऐसे उदाहरण और भी मिल सकते हैं।

इन सब बातों पर विचार करने से हमारा मत तो यही है कि 'वीसलदेव रासो' मूल रूप में कार्तिकादि वि० सं० १२७२ (चैत्रादि १२७३) की ही रचना होनी चाहिए और उसका आधार वीसलदेव तृतीय के साथ भोज की पुत्री राजदेवी अथवा राजमती के विवाह की घटना है। नरपति न तो इतिहासज्ञ था और न कोई बड़ा कवि ही। उसने अपनी रचना लोक-रंजनार्थ बनाई थी। इसलिये उसमें ऐतिहासिकता और काव्य के गुणों की तलाश करना तथा उनके आधार पर उसके बारे में कोई मत स्थिर करना असंगत है।

चयन

निचुल और कालिदास

प्रोफेसर डी० आर० मनकाद ने भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना की मुखपत्रिका, खंड २०, भाग ३-४ में उपर्युक्त विषय पर एक उपादेय लेख प्रकाशित कराया है। यहाँ हम उसका अनुवाद उपस्थित करते हैं—

मेघदूत, श्लोक १४ पर मल्लिनाथ की टीका से उठे विवाद का अभी अंतिम निर्णय नहीं हुआ है। उसमें प्रश्न यह है कि हम उस श्लोक से एक प्राकृतिक अर्थ ग्रहण करें या उसमें कालिदास के तथोक्त समकालीन दिङ्नाग और निचुल की ओर एक ऐतिहासिक निर्देश समझें। अभी तक इस विषय पर प्राय: लेखकों ने, उस श्लोक में इन दो कवियों की ओर निर्देश मानकर, पिछला पक्ष ही लिया है। हाल में मुझे एक उल्लेख मिला है जिससे, मेरा विचार है, इस समस्या का अंतिम निर्णय हो जाना चाहिए। श्री कीलाभाई घनश्याम ने, जिन्होंने मेघदूत का गुजराती में अनुवाद किया और उसे १९१३ ई० में प्रकाशित कराया, विचार्य श्लोक पर इस प्रकार टीका की है—

"वल्लभदेव ने, जो मेघदूत के ज्ञात टीकाकारों में प्राचीनतम है और जो ९वीं शती (ईसवी) में काश्मीर में हुआ था, बौद्धमत के प्रचारक इस दिङ्नागाचार्य के संबंध में कुछ नहीं कहा है। अत: यह प्रतीत होता है कि मल्लिनाथ ने दूसरी व्याख्या अपने समय में प्रचलित किसी कथा से दी है। कालिदास, जो निचुल और दिङ्नाग का समकालीन था, इस काव्य का रचयिता नहीं था, प्रत्युत एक दूसरा कालिदास था जो भोज के समय में हुआ था। यह आगे की बात से सिद्ध होता है। एक कालिदास ने, जो भोज के समय में हुआ था, 'नानार्थशब्दरत्न' नामक एक ग्रंथ रचा है और उसके मित्र निचुल ने उस पर 'तरला' नाम की एक टीका लिखी है। उस टीका में वह

अपने को कालिदास का एक मित्र और भोज का कृपापात्र कहता है। मद्रास-सरकार के अधीन संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों की एक सूची, सन् १९०६ ई०, पृष्ठ ११७५ मे उक्त ग्रंथ का प्रारंभ और अंत ऐसा दिया है–

प्रारम्भः—स्वमित्रकालिदासोक्तशब्दरत्नार्थजृम्भिताम् ।
तरलाख्यां लसद्व्याख्यामाख्यास्ये तन्मवानुगाम् ॥

अन्तः—इति श्रीमन्महाराजशिरोमणिश्रीभोजराजप्रबोधितनिचुल-
कवियोगिचन्द्रनिर्मितायां महाकविकालिदासकृतनानार्थशब्द-
रत्नकोशरत्नदीपिकायां तरलाख्यां सर्वं तृतीयं निबन्धनम् ।"

यह उद्धरण निश्चित रूप से बताता है कि निचुल नाम का एक विद्वान् भोज के समय में हुआ था और वह कालिदास का मित्र था, जो स्वयं भी भोज के दरबार में था। अब यह स्पष्ट है कि यह कालिदास मेघदूत का रचयिता नहीं है; क्योंकि भोज से निश्चय ही पूर्व के ग्रथों में हम मेघदूत की ओर निर्देश पाते हैं। बात यह है कि यह सारा प्रश्न उक्त श्लोक की मल्लिनाथ के द्वारा की गई व्याख्या से उठा है, जिसने दक्षिणावर्तनाथ का अनुसरण किया है। तो स्थिति यह है। मेघदूत पर बहुतेरे टीकाकारों में से चार स्थिरदेव, वल्लभदेव, दक्षिणावर्तनाथ और मल्लिनाथ हैं। इन चारों में से स्थिरदेव और वल्लभदेव १०वीं शती (ईसवी) के हैं, दक्षिणावर्तनाथ १३वीं और मल्लिनाथ १४वीं शती का है। भोज ११वीं शती का है। इस प्रकार हम यह पाते हैं कि भोज के बाद हुए दो टीकाकार व्याख्या करते हैं कि निचुल कालिदास का एक मित्र था और भोज के पहले हुए दो टीकाकार ऐसी कोई बात नहीं कहते। निष्कर्ष स्पष्ट है। दक्षिणावर्त ने, या उससे पहले, पर भोज के बाद के, किसी टीकाकार ने नानार्थ-शब्दरत्न के कालिदास के साथ मेघदूत के कालिदास को उलझा लिया है और अपनी उर्वरा बुद्धि से दिङ्नाग को भी उस कथा में खींच लिया है।

अतः अब हम यह स्थिर करने की स्थिति में हैं कि मेघदूत, श्लोक १४ का एक ही अर्थ है और वह प्राकृतिक है। उसमें निचुल या दिङ्नाग की ओर कोई ऐतिहासिक निर्देश नहीं है।

पंजाब में हिंदी

उपर्युक्त शीर्षक से श्री बी० पी० 'माधव' ने 'विशाल भारत' भाग २५, अंक ६ में पंजाब में हिंदी की वर्त्तमान अवस्था का एक आवश्यक विवरण और विवेचन दिया है। वह यहाँ उद्धृत है—

सन् १९३१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार पंजाब मे ५०३६९४ व्यक्ति देशी भाषाओं में शिक्षित हैं। इनमें से ३२६५५० उर्दू मे शिक्षित हैं और १५९०६० हिंदी में। इन अंकों का अभिप्राय यह है कि महाकवि चंदबरदाई, गुरु नानकदेव और गुरु गोविंदसिंह के पंजाब में हिंदी की स्थिति हवा में उड़ा देने योग्य नहीं है। सरकारी शिक्षा-विभाग और पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा प्राप्त अंक और भी आगे बढ़कर कहते हैं कि इस स्थिति में जड़ता नहीं, गति है, प्रगति है। सन् १९३१ में ५६४ विद्यार्थी मैट्रिक में हिंदी माध्यम लेकर बैठे और सन् १९३९ में १८३१ विद्यार्थियों ने हिंदी माध्यम द्वारा परीक्षा दी। मैट्रिक में विषय के रूप में हिंदी लेने-वालों की संख्या सन् १९३४ में ३२७१ थी। सन् १९३९ में यह संख्या ४४४० हो गई। लड़कियों की मिडिल परीक्षा में गत वर्ष ४८०० लड़कियाँ बैठीं, जिनमें से २४०० ने हिंदी ली थी, १५०० ने उर्दू और ८०० ने पंजाबी। यूनिवर्सिटी की हिंदी-रत्न, भूषण और प्रभाकर परीक्षाओं में बैठनेवाले परीक्षार्थियों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ रही है। गत वर्ष लगभग ४००० परीक्षार्थी तीनों परीक्षाओं में बैठे थे। युनिवर्सिटी में उर्दू, गुरुमुखी, अरबी, फारसी और संस्कृत की भी ऐसी ही तीन परीक्षाएँ हैं; परंतु ये हिंदी-परीक्षाओं का किसी प्रकार भी सामना नहीं कर सकतीं। सन् १९३८ में युनिवर्सिटी को लगभग १० हजार रुपए संस्कृत-परीक्षाओं से, लगभग २ हजार अरबी परीक्षाओं से, लगभग ८ हजार पंजाबी परीक्षाओं से, लगभग १० हजार फारसी परीक्षाओं से, और लगभग ४ हजार उर्दू परीक्षाओं से मिले। हिंदी परीक्षाओं ने लगभग तीस हजार रुपए दिए! इन

अंकों के साथ यह बात भी सम्मिलित ही समझनी चाहिए कि जहाँ युनिवर्सिटी अन्य परीक्षाओं के लिये काफी धन खर्च करती है, वहाँ हिंदी की परीक्षाओं के लिये उसकी ओर से पढ़ाई तक का प्रबंध भी नहीं है!

दिल्ली की उर्दू-कानफरेंस में मियाँ बशीरअहमद साहब ने कहा बतलाते हैं कि सन् १६३६ में २०,७४८ परीक्षार्थी उर्दू माध्यम लेकर मैट्रिक-परीक्षा में बैठे, जब कि हिंदी माध्यम से परीक्षा देनेवालों की संख्या कुल जमा १८३१ ही थी। इसलिये उन्होंने प्रस्ताव रखा कि पंजाब में पहली से लगाकर दसवीं श्रेणी तक लड़कियों और लड़कों के सब स्कूलों में उर्दू माध्यम ही कर दिया जाय। मियाँ बशीरअहमद साहब ने इन शब्दों में प्रस्ताव उपस्थित कर अपने को 'हक़ीक़त-पसंद' आदमी सिद्ध करने की चेष्टा की है। हमें उनको यह विशेषण देने में कोई आपत्ति न होती, यदि वे यह भी कहते कि अदालत और सरकार के दरबार में हिंदी का कोई स्थान नहीं है! प्रांत की लिपि और भाषा उर्दू मानी गई है। लड़कों की प्रारंभिक शिक्षा के लिये उर्दू का ही विधान है। प्रांत-भर में लड़कों के उन स्कूलों की संख्या दाल में नमक से भी कम है, जिनमें हिंदी से प्रारंभिक शिक्षा आरंभ होती है। और वे स्कूल भी सरकारी सहायता से वंचित हैं! मियाँ बशीरअहमद साहब इन्हीं अंकों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करते, तो उन्हें पता चलता कि मैट्रिक में हिंदी माध्यम से परीक्षा देनेवालों की संख्या में जहाँ ३०० प्रतिशत की वृद्धि हुई है, वहाँ उर्दू १५ प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ पाई और अँगरेजी तो ८ वर्षों में १३७० से ८१७ ही रह गई है!

कुछ ऐसे महानुभाव भी हैं, जिनकी आँखों में हिंदी की यह उन्नति काँटे की तरह खटक रही है! उर्दू-कानफरेंस का प्रस्ताव ऐसे ही महानुभावों के प्रयत्नों का परिणाम है। उर्दू-कानफरेंस कोई भी प्रस्ताव पास करने के लिये उसी तरह सर्वतंत्र स्वतंत्र है, जिस तरह न्याय और तर्क को गोली मारकर कोई भी आदमी कुछ भी

कर सकता है। और भी खेद की बात यह है कि सरकारी शिक्षा-विभाग पर इन प्रयत्नों का प्रभाव भी पड़ रहा है और वह प्रत्येक प्रकार से हिंदी की उन्नति की राह में रोड़े अटकाने के लिये सन्नद्ध हो रहा है।

प्रांत में वयस्क-शिक्षा के लिये प्रयत्न हो रहे हैं। वयस्क-शिक्षा के लिये एक रीडर उर्दू-भाषा और फारसी-लिपि में एवं एक रीडर पंजाबी-भाषा और फारसी-लिपि में छपवाई गई है। शिमला-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने हिंदी रीडर के लिये भी प्रस्ताव पास किया था, परंतु अब तक उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। वयस्क-शिक्षा से एक तरह से हिंदी को उड़ा ही दिया गया है। तारीफ यह है कि रोहतक के वयस्कों को भी उर्दू में शिक्षित किया जाना उचित समझा गया है!

लड़कों की प्रारंभिक शिक्षा में हिंदी का कोई स्थान नहीं है। ५वें और ७वें क्लासों से हिंदी प्रारंभ होती है। वर्नाक्यूलर फाइनल परीक्षा में बैठनेवाले लड़के सुविधानुसार ५वें या ७वें क्लास से प्रथम भाषा के रूप में हिंदी ले लेते हैं। माध्यम वे अपना उर्दू ही रखते हैं, क्योंकि हिंदी माध्यम से पढ़ाने का कोई प्रबंध सरकारी स्कूलों में भी नहीं है। इस तरह से उर्दू प्रथम भाषा लेनेवालों की संख्या घट रही और हिंदी प्रथम भाषा लेनेवालों की बढ़ रही थी। इस वृद्धि को रोकने के लिये ही, कहा जायगा, शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर महोदय ने एक सरकूलर निकाला—"परीक्षा विद्यार्थी की इच्छानुसार उर्दू, हिंदी और पंजाबी माध्यम से ली जा सकती है; परंतु माध्यम की भाषा निश्चित रूप से वही होगी, जो परीक्षार्थी ने प्रथम भाषा के रूप में ली है।" यह आज्ञा सन् १९४० से लागू हुई है, और इसी वर्ष में प्रथम भाषा के रूप में हिंदी लेनेवालों की संख्या घट गई है। सन् १९३७,३८ और ३९ में क्रमशः ७६०, ७५७, और ७६६ लड़कों ने प्रथम भाषा के रूप में हिंदी ली थी; परंतु सन् १९४० में यह संख्या ६५८ ही रह गई है। अभी तो सरकूलर

कुछ स्थानों पर ही लागू हुआ है, प्रत्येक डिवीजन में लागू होने पर परिणाम और भी शोचनीय हो जायगा।

ऊपर बताया गया है कि मैट्रिक परीक्षा में हिंदी-माध्यम लेनेवालों की संख्या किस तरह बढ़ रही है। न जाने कैसे शिक्षा-विभाग ने इस आशय का एक सरकूलर निकाल रखा है कि जिस स्कूल की प्रत्येक श्रेणी में ८ बच्चे हिंदी माध्यम लेना चाहें, उसमें हिंदी माध्यम से पढ़ाने का भी प्रबंध किया जाय। एक तरह से यह आज्ञा कागजी ही है, क्योंकि अभिभावकों को इसका पूरा ज्ञान नहीं है। दूसरे स्कूलों के अध्यापक लड़कों को हतोत्साह करते हैं। स्कूलों के प्रबंधकों को हिंदी-अध्यापकों का प्रबंध करना पड़ता है। इतनी बाधाओं के बावजूद हिंदी की प्रगति देखकर शिक्षा-विभाग ने एक और सरकूलर इस आशय का जारी किया कि माध्यम बदलने के लिये लड़का डाइरेक्टर महोदय की आज्ञा प्राप्त करे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के सभापति पंडित रामनारायण मिश्र ने इस सरकूलर का उल्लेख कर अपने वक्तव्य में कहा है—"इसका तात्पर्य तो स्पष्ट यही है कि कोई विद्यार्थी हिंदी न पढ़े, क्योंकि वह डाइरेक्टर को प्रार्थना-पत्र डिस्ट्रिक्ट-इंस्पेक्टर के मार्फत भेजेगा। संभव है कि यह पत्र रास्ते में ही रोक दिया जाय, अथवा ६ महीने के बाद यह सूचना मिले कि वह अपनी भाषा बदल नहीं सकता।"

२ नवंबर सन् १९३९ को पंजाब-असेंबली में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए शिक्षा-मंत्री ने जो कुछ कहा, उससे शिक्षा-विभाग की नीति और भी स्पष्ट हो जाती है।* आपने कहा कि उर्दू ही पंजाब में शिक्षा का माध्यम है। जिस दिन समाचार-पत्रों में शिक्षा-मंत्री का यह वक्तव्य प्रकाशित हुआ, उस दिन माननीय बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन लाहौर में ही थे। इन पंक्तियों के लेखक ने जब उनका ध्यान

---

* 'पत्रिका, भाग ४४, अंक ३, पृष्ठ ३४४-४५ पर हमने इसपर एक टिप्पणी प्रकाशित की है।—संपादक।

इस ओर आकृष्ट किया, तो उन्होंने इस वक्तव्य पर आश्चर्य प्रकट किया। आश्चर्य प्रकट करने की बात ही है। सन् १९३१ में पंजाब यूनिवर्सिटी ने एक जाँच-कमेटी बिठाई थी। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि "पंजाब की शिक्षा-नियमावली (दसवाँ संस्करण, सन् १९१७) बताती है कि प्रथम से ८वीं श्रेणी तक हिंदी, उर्दू और पंजाबी शिक्षा का मध्यम है। ९वीं और इससे आगे इनका स्थान अँगरेजी ले लेती है।" कमेटी ने यह भी लिखा—"मैट्रिक-परीक्षा में विद्यार्थी इतिहास और भूगोल के पर्चे अँगरेजी या तीनों में से किसी भी एक देशी भाषा में कर सकता है।" कमेटी ने सलाह दी कि यही प्रणाली बहाल रखी जाय। फिर भी शिक्षा-मंत्री महोदय ने एक निराधार वक्तव्य दे डाला और दिल्ली की उर्दू कानफरेंस ने सरकार से उसी वक्तव्य को सरकारी नीति बना लेने का प्रस्ताव पास कर दिया। जैसे बिल्ली छींका टूटने की ताक में ही बैठी थी!

लड़कियों की मिडिल और हिंदी-रत्न, भूषण और प्रभाकर परीक्षाओं के अंकों से मालूम होता है कि पंजाब की लड़कियों में हिंदी का प्रचार अधिक है। इस प्रचार को रोकने के लिये अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा-बिल का पत्थर गढ़ा गया है। बिल की योजना के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा के लिये ऐसे सम्मिलित स्कूल खोले जायँगे, जिनमें लड़के और लड़कियाँ साथ साथ पढ़ेंगी। इन दिनों प्राथमिक शिक्षा के बालिका-विद्यालयों में तीनों भाषाएँ हैं; पर लड़कों के स्कूल में सिर्फ उर्दू! नई योजना के सम्मिलित स्कूलों में लड़कियों को हिंदी लेने की सुविधा रहेगी या नहीं, यह एक प्रश्न है। यह प्रश्न इसलिये और भी गंभीर हो जाता है कि परीक्षा के तौर पर दो जिलों में ऐसे स्कूल खोले गए हैं। शिक्षा-विभाग की सन् १९३७-३८ की रिपोर्ट में कहा गया है कि इन स्कूलों में एक साथ तीन भाषाएँ पढ़ाने में बड़ी असुविधा होती है। इसके लिये शिक्षा-विभाग एक उपाय सोच रहा है। शिक्षा-मंत्री के वक्तव्य से उस उपाय का अनुमान किया जा सकता है।

जन-गणना की रिपोर्ट के अनुसार पंजाब में १२८४०४१ लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करने की आयु की हैं ; किंतु उनमें से कुल २३७५२४ लड़कियाँ ही पढ़ रही हैं। प्रांत के शिक्षा-विभाग ने १८·५ प्रतिशत की इस औसत पर बड़ा खेद प्रकट किया है। एक तरह से सब लड़कियों को शिक्षित करने के लिये ही यह अनिवार्य शिक्षा का बिल बना है। हम मान लेते हैं कि १२ लाख में से कम से कम ६ लाख लड़कियाँ तो प्राइमरी में आयेंगी ही। मिडिल के अंक बता रहे हैं कि लड़कियों में से ५० प्रतिशत हिंदी लेती हैं। प्राइमरी में यह औसत अधिक होनी चाहिए। यदि उनको हिंदी लेने की सुविधा न मिली, तो वे हिंदी से वंचित हो जायँगी। केवल भाषा के प्रश्न पर अभिभावक लड़कियों को स्कूलों में दंड भुगते बिना भेजने से न बच सकेंगे। बच भी जायँगे, तो प्राइमरी शिक्षा का प्रबंध उन्हें अपनी जेब से करना पड़ेगा। सरकार को टैक्स भी दें और शिक्षा का प्रबंध भी स्वयं करें, यह असंभव होगा। फलतः लड़कियों को हिंदी का मोह छोड़ना पड़ेगा।

ये तथ्य सिद्ध कर रहे हैं कि हिंदी-विरोधी प्रयत्नों का शिक्षा-विभाग पर काफी प्रभाव पड़ रहा है और उसकी नीति हिंदी-घातिनी होती जा रही है। लाहौर के राष्ट्र-भाषा-प्रचारक संघ ने इसके विरुद्ध आंदोलन शुरू किया है। प्रांतीय सम्मेलन भी कुछ प्रयत्नशील हो रहा है। देखें भविष्य के गर्भ में क्या है।

—कृ।

समीक्षा

उमर खैयाम की रुबाइयाँ—रचयिता श्री रघुवंशलाल गुप्त आइ० सी० एस्०; प्रकाशक किताबिस्तान, इलाहाबाद; मूल्य ?

जिस दिन इँगलैंड के रसज्ञ कवि रोजेटी ने 'रुबाइयात् आव् उमर खैयाम' उसके विक्रेता से—दूकान के बाहर डाली हुई, न बिकने-वाली पुस्तकों के ढेर में से—एक पेनी (एक आने) में बड़े कौतूहल से खरीदी और फिर रसाप्लुत हो अपने सभी मित्रों को खरिदवाई, उस दिन विश्व में उमर खैयाम का और साथ ही एडवर्ड फिट्जजेराल्ड का कवित्व बड़े चमत्कार से प्रसिद्ध हुआ। उसके आठ सौ वर्ष पूर्व फारस में उमर खैयाम एक बहुज्ञ मनीषी, विशेषतः एक ज्योतिषी के रूप में ही प्रसिद्ध हुए थे। उनकी मुक्तक कविताएँ, रुबाइयाँ (चौपदे), जो उन्होंने 'स्वांतःसुखाय' तथा अपनी मित्रगोष्ठी के विनोद के लिये लिखी थीं, यथेष्ट प्रसिद्ध न हुईं। धीरे धीरे उन्हें सुनकर 'रिंद' मत्त हुए और 'सूफी' भी झूम पड़े। जहाँ-तहाँ रुबाइयाँ संगृहीत हुईं, संग्रह-कर्ताओं की रुचि और मति के अनुसार प्रायः मिश्रित और संवर्द्धित होकर। पर उनकी काफी परख न हुई, खैयाम को काव्य-साहित्य में प्रतिष्ठा न मिली। परंतु खैयाम की रुबाइयों में काल, नियति, जीवन की क्षणभंगुरता, जीवन-तत्त्व की दुर्बोधता और क्षणिक सुखों की बहु-मूल्यता आदि से संबद्ध मानव-उर की वे चिरंतन वेदनाएँ व्यक्त हुई थीं, जिनमें सारे दर्शन-विज्ञान को विडंबना बताकर मानव को अपनी ओर बरबस आकृष्ट करने की शक्ति थी। उन्हें विश्वप्रसिद्ध करने का श्रेय 'रुबाइयात् आव् उमर खैयाम' (उमर खैयाम की रुबाइयाँ) के पारखी और कुशल कवि फिट्जजेराल्ड ने संपादित किया।

'रुबाइयात् आव् उमर खैयाम' ने कितने ही सहृदयों को आकृष्ट किया; उमर खैयाम क्या थे और उनकी रुबाइयाँ कैसी थीं, वे नास्तिक

थे या आस्तिक, उनकी रुबाइयों में एक 'रिंद' की ध्वनि थी या एक 'सूफी' की, उनका प्रामाणिक संग्रह कौन है—इन तर्क-वितर्कों में प्रवृत्त किया और अनुवाद के लिये भी प्रेरित किया। फिट्जजेराल्ड ने खैयाम को 'विचारशील अधार्मिक' और 'रिंद' मानकर ही उनकी चुनी हुई रुबाइयों का अपनी भाषा में, पर उनके से ही छंद में, स्वतंत्र अनुवाद या छायानुवाद किया।

फिट्जजेराल्ड ने प्रायः स्वतंत्र अनुवाद या छायानुवाद ही किया, कोरा अनुवाद कहीं नहीं। तुलनात्मक दृष्टि से उनकी 'रुबाइयात्' को देखने से यह प्रकट होता है कि उन्होंने खैयाम के भावों में रमकर बहुत कुछ नई काव्य-रचना की। इसमें खैयाम के काव्य का बहुत कुछ कायाकल्प या रूपांतर अवश्य हो गया। परंतु इस काव्य-रचना से, इस अनुवाद-कला से, खैयाम का काव्य खिल उठा। कितनी ही भाषाओं में 'रुबाइयात्' के, मूल रुबाइयों के भी, अनुवाद हुए और इनके संबंध में अनुसंधान और विचार हुए।

भारतीय भाषाओं में, हमारे ज्ञान में, हिंदी में ही खैयाम की रुबाइयों के सब से अधिक, छः अनुवाद हुए हैं। पूर्वोक्त सुयोग से सफल हो फिट्जजेराल्ड ने 'रुबाइयात्' के पहले संस्करण के बाद तीन और संस्करण निकाले। ७५ रुबाइयों का पहला और १०१ रुबाइयों का चौथा संस्करण प्रसिद्ध है। हिंदी में रुबाइयों का पहला अनुवाद, रुबाइयात्' के पहले संस्करण से, श्री मैथिलीशरण गुप्त ने प्रस्तुत किया। चुनी हुई मूल रुबाइयों का एक बड़ा अनुवाद श्री इकबाल वर्मा 'सेहर' ने उपस्थित किया। गुप्तजी के अनुवाद के कुछ पीछे श्री केशवप्रसाद पाठक का अनुवाद, 'रुबाइयात्' के पहले संस्करण से ही, प्रकाशित हुआ। प्रायः इसी समय श्री बलदेवप्रसाद मिश्र का 'मादक प्याला' प्रकाशित हुआ, जो रुबाइयात्' के चौथे संस्करण और ४९ मूल रुबाइयों का अनुवाद है। हाल की श्री 'बच्चन'-कृत 'खैयाम की मधुशाला' 'रुबाइयात्' के पहले संस्करण का ही अनुवाद है। यहाँ किसी तारतमिक विचार का अवसर नहीं है। इनमें यह सामान्यतः लक्ष्य है कि

इनके रचयिताओं ने रुबाइयों के एक एक रूप का ध्यान रखते हुए अपनी अपनी रसिकता और कुशलता के अनुसार उनका भावानुवाद किया है।

श्री रघुवंशलाल गुप्त की 'उमर खैयाम की रुबाइयाँ' नई पुस्तक है। यह ७२ पृष्ठों की एक छोटी, सुंदर पुस्तक है। पहले २८ पृष्ठों की भूमिका में विद्वान् लेखक ने 'खैयाम का जीवन', 'रुबाइयाँ', 'रुबाइयों का अनुवाद' और 'रुबाइयों की लोकप्रियता' के विषयों पर अब तक के अनुसंधानों और विचारों के संक्षिप्त परंतु बहुत उपादेय विवेचन प्रस्तुत किए हैं और आत्म-निवेदन किया है। आगे ३१ से ६६ पृष्ठों में ७२ रुबाइयाँ हैं और शेष ६ पृष्ठों के 'परिशिष्ट' में कुछ मूल रुबाइयों के उद्धरण हैं।

प्रस्तुत अनुवाद यथार्थतः नया है, विशेष ढंग का है। यह ढंग वही है जो फिट्जजेराल्ड का था—प्रायः स्वतंत्र अनुवाद या छायानुवाद, जिसमें बहुत कुछ नई काव्य-रचना होती है। अनुवादक ने भूमिका में कहा है कि "जो सलूक फिट्जजेराल्ड ने उमर खैयाम के साथ किया है, वही सलूक हमने फिट्जजेराल्ड के साथ करने का प्रयत्न किया है। उनके चौपदों को तोड़-मरोड़कर नए सिरे से सृष्टि करने का बीड़ा उठाया है, और फिट्जजेराल्ड की तरह 'मुक्तक' काव्य का रूप रखते हुए भी, प्रबंधात्मक रूप को भुलाया नहीं है। जहाँ तक हो सका है, उमर खैयाम के मूल भावों को प्रधानता दी है; और कुछ ऐसी रुबाइयाँ भी जोड़ दी हैं जो फिट्जजेराल्ड के अनुवाद से संबंध नहीं रखतीं।" श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने रुबाइयों के बँगला अनुवाद के विषय में लिखा है कि "ऐसी कविता को एक भाषा से लेकर दूसरी भाषा के ढाँचे में ढाल देना कठिन है; क्योंकि इस कविता का प्रधान गुण 'वस्तु' नहीं 'गति' है। फिट्जजेराल्ड ने भी इसी लिये ठीक ठीक तर्जुमा नहीं किया; मूल के भावों की नए तौर पर सृष्टि की है। अच्छी कविता मात्र की तर्जुमा में नए तौर पर सृष्टि करना आवश्यक है।" इस आप्त-वचन से और फिट्जजेराल्ड के अनुवाद की सफलता से उत्साहित होकर गुप्तजी ने उसी ढंग का अनुवाद प्रस्तुत किया है।

जैसा कि उनकी भूमिका के उद्धरण से सूचित है, गुप्तजी ने अपनी ७२ रुबाइयों की रचना फिट्जजेराल्ड की तथा खैयाम की रुबाइयों के चयन, 'तोड़-मरोड़' और अपनी कल्पना के आधार पर की है। उनकी ५५ रुबाइयों के आधार फिट्जजेराल्ड की 'रुबाइयात्' के चौथे संस्करण में हैं, यद्यपि पहले संस्करण के पाठों तथा मूल रुबाइयों के भावों और उनकी अपनी कल्पनाओं से संयुक्त ही उनके रूप हैं। शेष १७ रुबाइयाँ खैयाम की अतिरिक्त रुबाइयों के भावों और रचयिता की कल्पनाओं पर आधारित हैं। कहीं एक रुबाई फिट्जजेराल्ड की एक पूरी रुबाई का स्वतंत्र अनुवाद है, कहीं एक रुबाई में दो या तीन रुबाइयों के भाव हैं, कहीं एक में फिट्जजेराल्ड की आधी रुबाई और गुप्तजी की कल्पना का योग है, कहीं मूल खैयाम की एक पूरी रुबाई का भाव है, कहीं एक में दो या तीन हैं, कहीं खैयाम और फिट्ज-जेराल्ड के भावों का योग है और कहीं खैयाम और गुप्तजी का योग है—परंतु प्रायः सर्वत्र स्वतंत्र अनुवाद है। पहली ही रुबाई इसका अच्छा उदाहरण है—

> जागो मित्र! भरो प्याला, लो, देखो वह सूरज की कोर
> राजअटारी पर चढ़ती है फेंक अरुण किरणों की डोर।
> नभ के प्याले में दिनकर को माणिक-सुधा ढालते देख
> कलियाँ अधरपुटों को खोले ललक रही हैं उसकी ओर।

इसका पूर्वार्ध फिट्जजेराल्ड की 'रुबाइयात्' के पहले संस्करण की पहली रुबाई के उत्तरार्ध का स्वतंत्र अनुवाद है और शेष अनुवादक की पूर्ति है। खैयाम की मूल रुबाई में 'सुबह' के, अटारी पर, 'कमंद' डालने की बात है, इस ओर अनुवादक ने ध्यान दिया है। दूसरी पंक्ति में इसका निर्वाह सुंदर है। परंतु 'सूरज की कोर' के डोर फेंककर चढ़ने में रूपक ठीक बनता नहीं। पूर्ति का अंश 'जागो मित्र! भरो प्याला' इस पुकार के आगे 'माणिक-सुधा' में अखिल प्रकृति की लीनता की सार्थक व्यंजना उपस्थित करता है।

१४ वीं रुबाई 'रुबाइयात्' के पहले संस्करण की ११वीं, चौथे की १२ वीं रुबाई का अनुवाद है—

दो मधूकरी हों खाने को, मदिरा हो मनमानी जो,
पास धरी हो मर्मकाव्य की पुस्तक फटी-पुरानी जो,
बैठ समीप तान छेड़े, प्रिय, तेरी वीणा-वाणी जो,
तो इस विजन विपिन पर वारूँ मिले स्वर्ग सुखदानी जो।

गुप्तजी की सरस रचना का यह एक उदाहरण है। पाठक तुलना करें। 'a Loaf of Bread' के स्थान पर 'दो मधूकरी' ने 'जो कुछ मिल जाय' की ध्वनि ला दी है। 'A flask of wine' या 'jug of wine' से 'मदिरा हो मनमानी' विशेष भावमय है। फिर 'वीणा-वाणी' के 'तान' छेड़ने पर 'Oh, Wilderness were Paradise enow' से 'इस विजन विपिन पर वारूँ मिले स्वर्ग सुखदानी जो' का भाव कहीं उत्कृष्ट है।

गुप्तजी ने "फिट्जजेराल्ड की तरह 'मुक्तक' काव्य का रूप रखते हुए भी प्रबंधात्मक रूप को भुलाया नहीं है।" 'जागो मित्र!' की अरुण आशा से आरंभ करके उन्होंने—

लो चंद्रोदय हुआ, आयु का बीता और एक दिन हाय!
पूर्ण हो गया और एक लो जीवन गाथा का अध्याय।
पात्र भरो, शशिवदन! कि यह शशि जाकर फिर आवेगा लौट,
लौटेगा न गया अवसर पर, करना चाहे कोटि उपाय।

इस करुण वेदना में 'जीवन-गाथा का अध्याय' अवसित किया है। और आरंभ की 'भरो प्याला' की पुकार से अवसान की 'पात्र भरो' की टेर तक एक ही गूढ़ मत्तता की व्यंजना उन्होंने निबाही है। यह रुबाई 'रुबाइयात्' के पहले संस्करण की ७४वीं, चौथे की १००वीं रुबाई का, मूल रुबाई से मिलता स्वतंत्र अनुवाद है। पाठक इसकी सरसता देखें।

और प्रकार की बानगी अब पाठक स्वयं देखें। गुप्तजी ने ऊपर उद्धृत अपनी प्रतिज्ञा का सुंदर निर्वाह किया है, खैयाम और

फिट्जजेराल्ड के भावों में रमकर बहुत कुछ 'नए सिरे से सृष्टि' की है। कविता के अनुवाद में भाषांतर नहीं, रूपांतर ही सफल होता है। देखना यह होता है कि मूल कवि की आत्मा अंतरित न हो, उसकी व्यंजना सफल हो। साथ ही अनुवाद मूल निरूपण का जितना निर्वाह कर सके अच्छा है। गुप्तजी ने अपनी 'नए सिरे की सृष्टि' में मूल खैयाम का भी ध्यान रखा है, इससे उन्होंने खैयाम की आत्मा को, फिट्जजेराल्ड के अनुसार ही, काफी सुंदरता से व्यक्त किया है। मूल निरूपणों का निर्वाह भी उन्होंने मार्मिकता से किया है, यद्यपि अपनी कल्पना से उन्होंने बहुत काम लिया है।

रही कुछ अकुशलता, असफलता की बात। इस संबंध में गुप्तजी ने "हम अपनी त्रुटियों को भली भाँति जानते हैं। खड़ी बोली के पंडितों को तो हमारी भाषा कई स्थानों में खटकेगी। 'फिर' के स्थान में 'फेर', 'जहाँ' के स्थान में 'जँह', और 'नित', 'बहु', 'सँग' इत्यादि शब्दों के प्रयोग से वे अवश्य अप्रसन्न होंगे। पिंगल की कसौटी पर भी हमारे छंद एक से नहीं उतरेंगे। अपनी अयोग्यता के अतिरिक्त हम इन त्रुटियों का क्या जवाब दें? किंतु संभव है कि हिंदी भाषा के वे हितैषी, जो सूर, तुलसी, कबीर और देव की स्वच्छंदगामिनी भाषा को व्यर्थ नियमों में जकड़ी हुई और कवि की सुधावर्षिणी जिह्वा से उतरकर विद्यार्थियों के कोषों और कुंजियों में पड़ी हुई नहीं देखा चाहते, संभव है वे हमारी उच्छृंखलता पर प्रसन्न भी हों।" यह लिखकर अपनी रचना में कुछ 'त्रुटियाँ' स्वीकार करते हुए उनके स्वतः परिहार की आशा की है। प्रत्येक भाषा की, उसकी रचना की अपनी मर्यादा होती है, उसका अपना प्रमाण बन जाता है। उसके अनुसार ही वह चलती और जँचती है। गुप्तजी को इसका ध्यान रखना ही होगा। उनकी रचना में हमें 'गुणराशिनाशी' दोष नहीं मिले। कुछ 'त्रुटियाँ' और विरसताएँ जो लक्ष्य हैं वे उनकी बढ़ती कुशलता से जाती रहेंगी, ऐसा हमें विश्वास है।

गुप्तजी की इस पहली कृति का अंतरंग और बहिरंग, दोनों सुंदर हैं। इस पर उन्हें बधाई देते हुए हिंदी काव्य में हम उनसे बहुत आशाएँ रखते हैं। अंत में 'किताबिस्तान' को इस सुंदर प्रकाशन के लिये हम सहर्ष बधाई अथवा 'मुबारकबादी' देते हैं।

—कृ।

द्रव्यसंग्रह—ले० श्री नेमिचंद्र; टीकाकार श्री भुवनेंद्र 'विश्व'; प्रकाशक सरल जैन ग्रंथमाला जबलपुर; पृष्ठ-संख्या ८७; मू० ।—)।

मूल ग्रंथ के रचयिता जैनाचार्य नेमिचंद्र हैं। ग्रंथ में ५८ प्राकृत-गाथाएँ हैं। 'विश्व' जी ने उन्हीं की हिंदी टीका की है। छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थ, जैनधर्म के ये ही मूल तत्त्व हैं। सुयोग्य ग्रंथकार ने अपनी इस छोटी सी रचना में, उन्हीं मूलतत्त्वों का, संक्षेप में, बड़े सुंदर ढंग से निरूपण किया है। जैनधर्म के नए अभ्यासियों के लिये यह रचना अति उत्तम प्रमाणित हुई है। इसी से जैन-शालाओं में इसके पठन-पाठन का अधिक प्रचार है। 'विश्व'जी ने, जो कि इस ग्रंथमाला के प्रकाशक भी हैं, ग्रंथमाला के उद्देश्य के अनुसार बालक-बालिकाओं को सरल से सरल रूप में जैन-धर्म के स्वरूप को समझाने के लिये इस ग्रंथ की हिंदी टीका की है। प्रत्येक गाथा के नीचे उसकी संस्कृत छाया दी है, उसके नीचे अन्वय और अर्थ दिया है और उसके नीचे भावार्थ दिया है। यद्यपि टीका बुरी नहीं है तथापि उसे हम 'सरल से सरल' नहीं कह सकते। भावार्थ की भाषा 'पंडिताऊ' है और उसमें प्रायः उन्हीं शब्दों को क्रमवार करके दोहरा दिया गया है जो 'अन्वयार्थ' में कहे गए हैं। भाषा का नमूना देखिए—'सिद्ध अथवा मुक्तजीव के छोड़े हुए पहिले के शरीर से कुछ कम आकार के उनके आत्मा के प्रदेश होते हैं।' इससे पाठक लेखक के आशय को स्पष्ट नहीं समझ सकता। इसी तरह अंतिम पद्य के भावार्थ में गाथा के 'सुदपुण्णा' शब्द के आधार पर 'द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के ज्ञाता' लिखा है। सरलता और बालबुद्धि को दृष्टि में रखते हुए यह लेख उचित

नहीं कहा जा सकता। यद्यपि 'द्रव्यश्रुत' और 'भावश्रुत' के नीचे उनका अर्थ दे दिया गया है, किंतु वह अर्थ भी 'इंद्र की टीका विडौजा' का स्मरण कराता है। लिखा है—'वर्तमान परमागम रूप द्रव्यश्रुत, तज्जन्य स्वसंवेदन रूप भावश्रुत।' बेचारे बच्चों की बात तो छोड़ दीजिए, बड़े बड़े भी इसे न समझ सकेंगे। शब्दों की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें से कुछ परिभाषाएँ इसी ढंग की हैं। जैसे, 'इंद्रिय—आत्मा के अस्तित्व को बतानेवाला अथवा परोक्षज्ञान उत्पन्न करने का साधन। आतप—सूर्य तथा सूर्यकांतमणि में रहनेवाला गुणविशेष।' ऐसे ऐसे सरल शब्दों को 'हव्वा' बना दिया गया है। कोई कोई परिभाषा अशुद्ध भी है। जैसे 'मोहनीय—जो चरित्र को न होने दे।' यह परिभाषा मोहनीय के एक भेद चारित्र्य-मोहनीय की हो सकती है, किंतु सम्यक्त्व और चारित्र्य को रोकनेवाले मोहनीय की नहीं हो सकती। कहीं कहीं अन्वयार्थ में गाथा के शब्दों को छोड़ दिया गया है। जैसे गा० ६ में 'भणियं' का और गा० ५८ में 'सुदपुण्णा' का अर्थ छोड़ दिया गया है। इन सब दोषों के होते हुए भी प्रकाशक का परिश्रम प्रशंसनीय है, क्योंकि उन्होंने एक-दो नकशे और चार्ट आदि देकर पुस्तक को आकर्षक बनाने का विशेष ध्यान रखा है। आशा है, पुस्तक का पुनः संशोधन कराके वे उसे विशेष लाभदायक बनाने का भी प्रयत्न करेंगे।

छहढाला—ले० श्री दौलतरामजी, टीकाकार पं० फूलचंदजी शास्त्री; प्रकाशक सरल जैन ग्रंथमाला, जबलपुर, पृष्ठ-सं० ६८; मूल्य ।-)।

अठारहवीं शताब्दी में जयपुर में पं० दौलतरामजी हिंदी के एक अच्छे कवि हो गए हैं। छहढाला उन्हीं की एक कृति है। इसमें छः ढाल हैं, इसी से इसका नाम छहढाला रखा गया है। इसकी रचना बड़ी ही हृदयग्राही है। सुंदर और सरल पद्यों में संसार और धर्म का स्वरूप बड़ी बुद्धिमानी के साथ बतलाया गया है। प्रत्येक जिज्ञासु पाठक के अध्ययन और कंठ करने की चीज है। उसी छहढाले का

हिंदी अनुवाद हमारे सामने है। अनुवाद में प्रत्येक छंद के नीचे उसका अन्वय, कठिन शब्दों का अर्थ और अंत में भावार्थ दिया है। भावार्थ लिखने में सावधानी से काम नहीं लिया गया प्रतीत होता। अनेक पद्यों के भावार्थ में पद्य का पूरा आशय नहीं आ सका है, जिसका आना जरूरी था। जैसे—'रागादि प्रगट जे दुःखदैन, तिनही को सेवत गिनत चैन ॥' (पृ० १६) का भावार्थ इस प्रकार है—"राग आदि स्पष्ट रूप से दुःख देते हैं, इनसे सुख कभी नहीं होता। जैसे—यह लड़का मेरा है, यह राग है—ममता है। जब लड़का मर जाता है तब रोता है। लड़के के कारण ही अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं।" इसमें 'तिनही को सेवत' इत्यादि अंतिम पंक्ति का आशय नहीं आ सका है। इसी प्रकार पृ० ३९ में उपग्रहन अंग का स्वरूप बतलाते हुए 'वा निज-धर्म बढ़ावै' का आशय बिल्कुल ही छूट गया है, जो कि उपग्रहन अंग का ही दूसरा स्वरूप है। पृ० ४९ में 'मुनिव्रतधार अनंतवार ग्रीवक उपजायो' का अर्थ 'अनंतवार नव ग्रैवेयकों में पैदा होकर' लिखा है। इसमें 'मुनिव्रतधार' शब्द का कोई आशय ही नहीं आने पाया। कहीं कहीं भावार्थ में थोड़ा सा अर्थ-विपर्यास भी हो गया है। जैसे पृ० १६ में 'शुभ अशुभ बंध के फल मँझार' का अर्थ 'शुभ और अशुभ बंध का फल मिलने पर' किया है। होना चाहिए था—'फल में'। कहीं कहीं शब्दार्थ भी ठीक नहीं है, जैसे 'निराकुलता=आनंद'। पृष्ठ ६६ में सविपाक निर्जरा को अकाम निर्जरा और अविपाक निर्जरा को सकाम निर्जरा बतलाना भी ठीक नहीं है। अकाम निर्जरा सविपाक निर्जरा से एक पृथक् चीज है, जैसा कि पृ० ११ पर 'कभी अकाम निर्जरा करै' पद के शब्दार्थ में अनुवादक ने अकाम निर्जरा का जो स्वरूप बतलाया है, उससे ही ज्ञात होता है। अनुवाद में से यदि उक्त प्रकार की अशुद्धियों का शोधन कर दिया जाय तो अनुवाद के अच्छे होने में संभवतः किसी को आपत्ति न हो।

—कैलाशचंद्र शास्त्री।

गुटका गुरुमत-प्रकाश—प्रकाशक सर्वहिंद सिक्ख मिशन, अमृतसर (पंजाब); १९३६ ई०; मूल्य ?

गुरुवाणियों का यह एक संग्रह है जिसमें कबीरदासजी के कुछ पदों के साथ साथ सोहिला (उत्सव-संबंधी गीत) के भी कुछ पद दिए गए हैं। परंतु प्रधानता इसमें गुरु नानकजी की रचनाओं की ही है। इन रचनाओं में काव्य के कुछ गुण तो अवश्य मिल जाते हैं; परंतु काव्य के कलापक्ष का इसमें अभाव ही सा जान पड़ता है। फिर भी कबीरदास जी की साखी और सबदियों के समान लोक-मंगल की भावना इन पदों में अवश्य वर्तमान है।

'*गुरुमतप्रकाश*' को पढ़ने से यह मालूम होता है कि धार्मिक पचड़ों में पड़कर इधर-उधर भटकते हुए गुरु नानक जी अंततोगत्वा इसी सिद्धांत पर पहुँचे कि घर में या बाहर—कहीं भी रहकर—ईश्वर की भक्ति तथा मन को वश में करने ही से सच्ची शांति और मोक्ष मिल सकता है। आवागमन और मुक्ति के संबंध में उनका भी वही सिद्धांत प्रतीत होता है जो आर्य्यों का था। उन्होंने केवल उन सिद्धांतों के अंदर फैले हुए भ्रम और मिथ्यावाद का ही खंडन किया है। संभवतः यही कारण है कि उनकी रचनाएँ संस्कृत-गर्भित और संस्कृत-सार-गर्भित भी हैं।

प्रस्तुत संग्रह की भाषा एक ओर संस्कृत और दूसरी ओर अरबी तथा फारसी से भरी खड़ी बोली और पंजाबी है। बाल्यकाल से ही गुरु नानक की रुचि धर्म की ओर थी और उन्होंने कई धर्मों का अध्ययन भी किया था। संभवतः इसी लिये उनकी रचनाओं में एक ओर ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृत के श्लोक ही रख दिए गए हैं तो दूसरी ओर अरबी या फारसी के कलाम ही ज्यों के त्यों आ गए हैं। प्रायः क्रिया ही आकर उन्हें खड़ी बोली का रूप देती है। उदाहरण के लिये ये दो छंद देखिए—

"प्रमाथं प्रमाथे सदा सरब साथे। अगाध सरूपे निरबाघ् बिभूते।"

"गनीमुल खिराज हैं, गरीबुल निवाज हैं। हरीफुल सिकन हैं, हिरासुल फिकम हैं।"

———

सुखमनी—संग्रहकर्त्ता सिक्ख गुरु अर्जुनदेव; प्रकाशक सर्व-हिंद सिक्ख मिशन, अमृतसर (पंजाब); १९३६ ई०; मूल्य १)।

एक हिंदी-प्रेमी पाठक के हृदय को सुखमनी की जो वस्तु विशेष आकर्षित करती है, वह है इसकी भाषा। इसकी भाषा साफ-सुथरी और सुगठित है। सरल तो इतनी है कि थोड़ा भी हिंदी का ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति इसके भावों को सरलता से हृदयंगम कर सकता है। इसमें 'श्लोक' और 'अष्टपदी' नामक दो प्रकार के छंद हैं। श्लोक प्राय: दोहा के समान और अष्टपदी प्राय: चौपाई के समान होती है। तुलसीकृत रामायण में जिस प्रकार प्राय: आठ चौपाइयों के बाद एक दोहा आता है, उसी प्रकार सुखमनी में भी आठ चौपाइयों (अष्टपदियों) के बाद साधारणतया एक श्लोक आता है। प्रस्तुत पुस्तक में सात्त्विक गुणों और पदार्थों की महिमा ही गाई गई है। उदाहरणार्थ—सिमरन (स्मरण), सत्संग, ब्रह्मज्ञानी इत्यादि जो विषय उठाया गया है उसकी महिमा इतनी गाई गई है कि पढ़ते पढ़ते पाठकों का चित्त ऊब जाता है। अच्छा हुआ होता यदि इसमें उन सात्त्विक गुणों या पदार्थों के लक्षण और उनको प्राप्त करने के साधन भी बतलाए गए होते। पुस्तक के आरंभ में संग्रहकर्त्ता गुरु अर्जुनदेव की साधारण जीवनी भी दी हुई है। सुखमनी सच्चे सुख और शांति के मार्ग को वस्तुत: प्रकाशित करने में मणि के समान है।

सिक्ख-धर्म के अमूल्य रत्नों को देवनागरी लिपि में छपवाकर हिंदी-जगत के सम्मुख रखने का सर्वहिंद सिक्ख मिशन, अमृतसर (पंजाब) का यह प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय है।

—सच्चिदानंद तिवारी, एम्० ए०।

रणमत्त संसार [एकतालीस नक्शों और-चार्टों सहित]—लेखक श्री वेंकटेशनारायण तिवारी; प्रकाशक इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग; प्रांतीय सरकार के शिक्षाप्रसार विभाग द्वारा योरप और योरप तथा अफ्रीका के दो वृहदाकार मानचित्रों के साथ संयुक्त प्रांत के सर-

फारी वाचनालयों में प्रचारार्थ वितरित; आकार डबल क्राउन १६ पेजी; पृ० सं० ४+४+१६०=१६८ ।

यह हिंदी के लिये महत्त्व की बात है कि अब हममें समय के साथ चलने की प्रवृत्ति दृढ़ होती जा रही है। प्रस्तुत प्रकाशन इसका एक उदाहरण है। विद्वान् लेखक ने 'पुस्तक को समयोपयोगी बनाने की भरसक चेष्टा की है' और इसे एक बार आद्यंत पढ़ लेने पर प्रत्येक पाठक स्वीकार करेगा कि लेखक को अपनी चेष्टा में यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। पुस्तक में तीन खंड हैं। प्रथम खंड वर्तमान योरपीय युद्ध का संक्षिप्त इतिहास है। दूसरे खंड में मानचित्र हैं। पहले भारत के सूबों, रियासतों, मुस्लिम लीग की सम्मति के अनुसार भारत के हिंदू विभाग और मुस्लिम विभाग तथा भारतवर्ष के पूर्वी और पश्चिमी पड़ोसियों के मानचित्र हैं। प्रत्येक मानचित्र के बाद संक्षेप में लेखक ने उस देश की जनसंख्या, क्षेत्रफल, सांपत्तिक शक्ति, आवश्यकताओं और भौगोलिक दशा को दृष्टि में रखते हुए यह बताया है कि वर्तमान युद्ध में उस देश की क्या स्थिति है, उसकी उन्नति अथवा अवनति का क्या कारण है तथा इससे किसी दूसरे देश पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसी खंड में मानचित्रों के बाद शत्रु राष्ट्रों के सांपत्तिक शक्ति-साधन-संबंधी कई महत्त्वपूर्ण चार्ट और आँकड़े हैं। तीसरे खंड में १३ परिशिष्ट दिए गए हैं जिनमें केवल आँकड़े हैं। ये आँकड़े क्षेत्रफल, जनसंख्या, सिक्के, विनिमय, प्रत्येक प्रकार के लड़ाकू जहाज, जल, स्थल तथा वायुसेना आदि के हैं जिनका संबंध वर्तमान महायुद्ध से है अथवा जिनका प्रभाव उस पर पड़ रहा है।

वर्तमान महासमर के पृष्ठदेश में अनेक ऐसी जटिल समस्याओं का हाथ रहा है जिनका ज्ञान साधारण पाठकों को नहीं है। अब भी बालकन की उलझन बढ़ती ही जाती है और इसके कारण सामरिक परिस्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो सकता है। अभी कल की बात है, रूमानिया-नरेश को नाज़ीवाद के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा है और लिखते समय तक इतना समाचार मिल चुका है कि वहाँ के

अल्पसंख्यक जर्मन उपनिवेश माँग रहे हैं। इसका परिणाम क्या होगा यह भविष्य ही बता सकता है। आज के वैज्ञानिक साधनों ने दुनिया को इतना छोटा बना डाला है कि योरप में जो होली जल रही है उसकी आँच से समूचा संसार तप रहा है। हमारे लिये यह आवश्यक हो गया है कि योरपीय समर को उपेक्षा की दृष्टि से न देखें, वरन् उसे समझें, उस पर विचार करें और इसका प्रयत्न करें कि उस आग को और ईंधन न मिले। जहाँ तक समझने और विचार करने का संबंध है, इस पुस्तक की सहायता पग पग पर ली जा सकती है। सामरिक घटनाओं पर यत्र तत्र लेखक ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अपने विचार भी व्यक्त किए हैं जिनका अपना अलग महत्त्व है। उनसे भी पर्याप्त सहायता मिल सकती है। जहाँ तक पता है, हिंदी में अपने ढंग की यह सर्वप्रथम रचना है। प्रांतीय सरकार के शिक्षाप्रसार-विभाग ने इसका वितरण कर जनता का बड़ा उपकार किया है।

—रामबहोरी शुक्ल।

समीक्षार्थ प्राप्त

(फाल्गुन—श्रावण)

अनुचित प्रेम—लेखक श्री पन्नालाल; प्रकाशक राजबहादुर सक्सेना, नाला मछरहट्टा फर्रुखाबाद; मूल्य १) ।

आदर्श-पुरुष—लेखक श्री गंगाप्रसाद पांडेय; प्रकाशक बोधराम दुबे, शिक्षा-मंत्री, चड़ीसा; मूल्य ।।।) ।

आनंद शब्दावली—संकलयिता श्री रामचन्द्र वर्मा; प्रकाशक शिक्षा-विभाग, विलासपुर राज्य।

कर्मवीर—लेखक और प्रकाशक श्री विट्ठलदास पांचोटिया; १३९।२ रसारोड कालीघाट, कलकत्ता; मूल्य ।।) ।

कसक—लेखक राय दुर्गाप्रसाद रस्तोगी; प्रकाशक आदर्श रस्तोगी प्रकाशन भवन, प्रयाग; मूल्य १) ।

कानून कब्जा आराजी—लेखक श्री विश्वंभरदयाल; प्रकाशक रामनारायणलाल, प्रयाग; मूल्य ॥=) ।

कानून कर आमदनी भारतवर्ष—लेखक श्री विश्वंभरदयाल, विश्वेश्वरदयाल; प्रकाशक रामनारायणलाल, प्रयाग; मूल्य ॥=) ।

कुंकुम—लेखक श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'; प्रकाशक साहित्य-निकेतन, कानपुर; मूल्य ॥।) ।

खादी और गादी की लड़ाई—लेखक आचार्य विनोबा; प्रकाशक सस्ता साहित्य-मंडल, दिल्ली; मूल्य =) ।

श्रीगंगास्नान—लेखक और प्रकाशक सनातन धर्म विद्यालय, चँदौसी; मूल्य ≡) ।

गुड़पाक विज्ञान—लेखक श्री माताप्रसाद गुप्त; प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; मूल्य ॥) ।

ग्रामसेवा—लेखक महात्मा गाँधी; प्रकाशक सस्ता साहित्य-मंडल, दिल्ली; मूल्य =) ।

चंद्रगुप्त मौर्य और अलेक्जेंडर की भारत में पराजय—लेखक और प्रकाशक श्री हरिश्चंद्र सेठ, के० ई० कालेज, अमरावती; मूल्य १) ।

चारु चरितमाला भाग १—प्रकाशक मैथिल हिंदी साहित्य प्रकाशन विभाग, अजमेर; मूल्य —)॥ ।

चित्रपटी—रचयिता श्रीबड़दा वकील; प्रकाशक ओरिएंटल आर्ट गेलरी ऐंड स्कूल, मेरठ; मूल्य १॥) ।

जवाहरलाल नेहरू—लेखक श्री शिवनारायण टंडन; प्रकाशक साहित्य-निकेतन, कानपुर; मूल्य =)॥ ।

जीवनचरित स्वामी रामतीर्थ—प्रकाशक रामतीर्थ पब्लिकेशन, लखनऊ; मूल्य ३) ।

जेबी वैद्य—लेखक श्री रामप्रसाद मिश्र दाधीच वैद्य; प्रकाशक प्रभाकर पुस्तक विभाग नागौर; जे० रेलवे; मूल्य ।=) ।

जैन धर्म में अहिंसा—लेखक श्री शीतलप्रसाद; प्रकाशक दिगंबर जैन पुस्तकालय, सूरत; मूल्य १) ।

झूठ सच—लेखक श्री सियारामशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी; मूल्य २) ।

'टी' शाला—लेखक श्री शालिग्राम बी० ए०, 'रञ्जन'; प्रकाशक श्रीप्रतापनारायण, सुषमानिकुंज, २६५ मुट्ठीगंज, प्रयाग; मूल्य १) ।

दर्जी-विज्ञान—लेखक श्री टीकाराम पाठक; प्रकाशक शिल्प-कला-विज्ञान-कार्यालय, अयोध्या; मूल्य १॥) ।

दाधीच जाति भास्कर—लेखक और प्रकाशक श्री रूपनारायण शास्त्री, जयपुर सिटी ।

धर्मविज्ञान प्रथम खंड—लेखक श्री स्वामी दयानंद; प्रकाशक भारतधर्म महामंडल, बनारस; मूल्य २) ।

नवजीवन संचार—लेखक श्री रघुनाथप्रसाद मिश्र, प्रकाशक फाइन आर्ट प्रेस, अजमेर; मूल्य ≡) ।

नाक में नकेल—श्री बालमुकुंद मिश्र; प्रकाशक ओंकारदेव मिश्र, देहली; मूल्य ≈) ।

नीर क्षीर—लेखक श्री गंगाप्रसाद पांडेय; प्रकाशक नवल-किशोर प्रेस, लखनऊ; मूल्य १॥) ।

परित्यक्ता—लेखक और प्रकाशक श्री अक्षयकुमार जैन; सरस्वती मंदिर, विजयगढ़; मूल्य ॥) ।

पांडव यशेंदु चंद्रिका—लेखक स्वरूपदास; संपादक भैरूसिंह तवँर; प्रकाशक क्षत्रिय रिसर्च सोसायटी, एलगिन रोड, दिल्ली; मूल्य ३॥) ।

पारिजात—लेखक श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; मूल्य ४) ।

पूजा (गद्यकाव्य)—लेखक श्री रामप्रसाद विद्यार्थी; प्रकाशक शंकर-सदन, आगरा; मूल्य १। ।

प्राच्य दर्शन समीक्षा—लेखक साधु श्रीशांतिनाथ; प्रकाशक डाक्टर पेसुमल, १३ क्लेटनरोड, कराची।

प्रीतम की गली में—लेखक श्री गुरुदासराम साहब; प्रकाशक राधास्वामी सत्संग, आगरा; मूल्य १)।

प्रेमपथ—लेखक श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; मूल्य २)।

फाउस्ट—लेखक श्री योहान वौल्फगांग गेटे; अनुवादक श्री भोलानाथ शर्मा, प्रकाशक वैश्य बुकडिपो, बरेली; मूल्य २।)।

बिहार और हिंदुस्तानी—प्रकाशक विद्यापति हिंदी-सभा, दरभंगा; मूल्य ।)।

श्रीमद्भगवद्गीता भाग १-२—टीकाकार स्वामी रामतीर्थ; प्रकाशक, रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ; मूल्य ६)।

भारतपारिजातम्—लेखक और प्रकाशक श्री भगवदाचार्य, लहेरीपुरा, बड़ौदा; मूल्य ३॥)।

भारतमाता—लेखक स्वामी रामतीर्थ; प्रकाशक रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ; मूल्य १)।

भाषावाक्यपृथक्करण—लेखक श्री रघुनाथ दिनकर कामथे; प्रकाशक के० आर० कामथे एंड ब्रदर्स, जबलपुर; मूल्य ।-)।

मणिधारी श्री जिनचंद्र सूरि—लेखक श्री अगरचंद नाहटा, भँवरलाल नाहटा; प्रकाशक शंकरदान शुभैराज नाहटा, ५।६ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता; मूल्य ≈)।

मथुरा गाइड—लेखक श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी; प्रकाशक जमुना प्रिंटिंग वर्क्स, मथुरा; मूल्य -)॥।

मन की मनुहार—लेखक श्री श्यामसुंदरलाल याज्ञिक; प्रकाशक साहित्य-परिषद्, मथुरा; मूल्य ≈)।

मनुष्य-विकास—लेखक श्री रामेश्वर; प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; मूल्य १।)।

महात्मा कबीर—लेखक श्री मोहम्मद हनीफ; प्रकाशक नवल-किशोर प्रेस, लखनऊ; मूल्य ।)।

महाभारत खंड २५—लेखक, श्री श्रीलाल खत्री; प्रकाशक महाभारत पुस्तकालय, अजमेर; मूल्य ६।)।

माननीया श्रीमती पंडित—लेखक, राय दुर्गाप्रसाद रस्तोगी, प्रकाशक रस्तोगी प्रकाशन भवन, प्रयाग; मूल्य २)।

मारवाड़ का इतिहास प्रथम भाग—लेखक श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ; प्रकाशक आर्केयालाजिकल डिपार्टमेंट, जोधपुर; मूल्य ५)।

मैं भूल न सकूँ—संपादक श्री जयन्त; प्रकाशक विजय पुस्तक भंडार, श्रद्धानंद बाजार, देहली; मूल्य १)।

राधा शक्ति मिलन—प्रकाशक नवजवान प्रकाशन समिति, गोरखपुर; मूल्य ≈)॥।

श्रीरामगीता—लेखक 'बिंदु'; प्रकाशक कथा कार्यालय, वृंदावन।

रामवर्षा भाग १-२—लेखक स्वामी रामतीर्थ; प्रकाशक रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ; मूल्य १॥)।

रूपांतर—लेखक श्री जगन्नाथप्रसाद; प्रकाशक साहित्य-मंडल, बलरामपुर (अवध); मूल्य ॥)।

लिपि-कला—लेखक और प्रकाशक श्री गौरीशंकर भट्ट; मसवानपुर, कानपुर; मूल्य ।)।

विहार—एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—लेखक श्री पृथ्वीसिंह मेहता; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; मूल्य २)।

विहार का चित्रित गौरव—लेखक श्री राधाकृष्ण; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; मूल्य १)।

वैदिक सध्या—लेखक श्री इच्छाराम शर्मा, प्रकाशक मैथिल-बंधु कार्यालय, अजमेर; मूल्य –)।

व्याकरण-प्रवेशिका—लेखक श्री रघुनाथ दिनकर काणे; प्रकाशक के० आर० काणे ऐंड ब्रदर्स, जबलपुर; मूल्य ।)।

शिक्षा समीक्षा—लेखक श्री कालिदास कपूर; प्रकाशक इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; मूल्य ।॥) ।

सांगीत नरसी भक्त—लेखक श्री विश्वेश्वरदयालु; प्रकाशक हरिहर प्रेस, बरालोकपुर, इटावा;

साकेत-एक अध्ययन—लेखक श्री नगेंद्र; प्रकाशक साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा; मूल्य १॥) ।

साकोरी का संत—श्री ईशनारायण जोशी; प्रकाशक खान साहब डाकूर एस० आर० मसालेवाला, भोपाल; मूल्य ।=) ।

स्वामी रामतीर्थ के दश आदेश—लेखक स्वामी रामतीर्थ; प्रकाशक रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ; मूल्य १) ।

स्वामी रामतीर्थ के लेख व उपदेश—लेखक स्वामी रामतीर्थ; प्रकाशक रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ; मूल्य १॥) ।

हरसू ब्रह्म मुक्तावली—लेखक श्री अजगरनाथ; प्रकाशक श्री महावीरप्रसाद राजवैद्य, चैनपुर ।

हरसू विनोद—लेखक श्री विश्वेश्वरदयाल; प्रकाशक श्री महावीरप्रसाद राजवैद्य, चैनपुर ।

हिंदी के सामाजिक उपन्यास—लेखक श्री ताराशंकर; प्रकाशक मध्यभारत हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर; मूल्य १) ।

हिल्लोल—लेखक श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन'; प्रकाशक शांति-सदन, काशी-विश्वविद्यालय, काशी; मूल्य १) ।

विविध

महाभारत का संशोधित संस्करण

महाभारत हमारा एक महामहिम ग्रंथ है। वह वीरकाव्य के साथ एक धर्मकाव्य है और एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें "अनेक युगों की भारतीय संस्कृति के दर्शन चलते चित्रपट के समान" प्राप्य हैं। उसके स्वरूप की परंपरा के अनुसंधान और उसके प्रामाणिक संस्करण के संपादन की आवश्यकता युगों से बनी थी। कुछ वर्ष हुए, पूने के धुनी और पारखी पंडित डा० विष्णु सीताराम सुकथनकर ने भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट से ऐसे संशोधित संस्करण के संपादन की एक व्यापक और व्यवस्थित योजना चलाई है। सौभाग्य से उन्हें देश और विदेश के भी अनेक योग्य विद्वानों का सहयोग प्राप्त है। उस महाग्रंथ के विभिन्न पर्वों का संपादन अधिकारी विद्वानों द्वारा हो रहा है। यह एक महान् सांस्कृतिक समारंभ है। अभी पहले, पाँचवें और छठे खंडों में आदिपर्व, विराटपर्व और उद्योगपर्व प्रकाशित हुए हैं। सर्वत्र विद्वानों ने इनका स्वागत किया है और इनके कुशल संपादकों तथा प्रधान संपादक को बधाइयाँ दी हैं।

गत २२ आषाढ़ को पूने में दीवान बहादुर के० एम्० झवेरी के सभापतित्व में प्रधान संपादक डा० सुकथनकर ने औंध के उदार श्रीमान् राजा साहब को नवप्रकाशित उद्योगपर्व भेंट किया है। उस अवसर पर उन्होंने जो वक्तव्य पढ़ा उससे इस समारंभ के गौरव का परिचय मिलता है। उन्होंने बताया कि महाभारत के संपादन का कार्य केवल उसका पाठ-संपादन नहीं है, प्रत्युत उसके हस्तलिखित ग्रंथों की परंपरा का अनुसंधान है, जो कार्य उस महाकाव्य के इतिहास में अब ही उठाया गया है। इस कार्य के अंतर्गत प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियों का शोध, प्राप्त प्रतियों की तुलना, तुलना से पाठ का संकलन, पाठ के

साथ प्रकाश्य समीक्षात्मक टिप्पणियाँ प्रस्तुत करना और इस सामग्री को मुद्रित कराना—ये सब कर्तव्य हैं।

शेष पर्वों में सभापर्व, आरण्यकपर्व और भीष्मपर्व के संभवतः आगामी वर्ष तक प्रकाशित हो जाने से इस कार्य का ४५% भाग पूरा हो जायगा तथा ४०,००० से कुछ कम श्लोकों का शोधपूर्ण संकलन और इस संस्करण के लगभग ४,५०० पृष्ठों का मुद्रण हो जायगा। प्रायः साढ़े तीन लाख रुपए इस कार्य के लिये प्राप्त हो चुके हैं। इसके संपूर्ण संपादन के लिये अभी और धन की अपेक्षा होगी।

हमें सविश्वास आशा है कि अपेक्षित धन और जन की यथेष्ट सहायता से यह महाभारत-यज्ञ यथासमय संपूर्ण होगा।

पत्रिका के इस अंक में भारतदीपक डा० सुकथनकर महोदय का महाभारत-विषयक एक मौलिक विवेचन हिंदी पाठकों के समक्ष हम सहर्ष उपस्थित कर रहे हैं। आगे संभवतः उनके महाभारत संस्करण का कुछ विशेष परिचय भी उपस्थित करने का हम यत्न करेंगे।

——— —कृ।

वाहीक ग्रामों के शुद्ध नाम

पत्रिका के वर्ष ४४, अंक ३ में 'पतंजलि और वाहीक ग्राम' शीर्षक जो हमारा लेख छपा है उसके संबंध में लाहौर से श्री स्वामी वेदानंद तीर्थ ने हमारा ध्यान निम्नलिखित नामों के आधुनिक उच्चारणों की ओर खींचा है। हमें अज्ञानवश हुई अपनी भूल के लिये खेद है और इस कृपा के लिये हम स्वामीजी के कृतज्ञ हैं। पाठक कृपया सुधार लें।

पृ० २३६—'आरात्' का वर्तमान प्रतिनिधि जो स्थान है उसका उच्चारण इस समय आर नहीं, आड़ा है। स्वामीजी ने लिखा है कि इसे 'आड़ा सद्धोवाल' भी कहते हैं। स्वामीजी ने खिउड़े के पास एक दूसरे आड़ा नामक स्थान का भी उल्लेख किया है, जहाँ पर प्राचीन टीलों के निशान दूर तक फैले हैं। हम इस संबंध में पुरा-

तत्त्वविभाग का ध्यान इधर दिला रहे हैं; क्योंकि स्थान की निश्चित पहचान नियमित खुदाई से ही अच्छी तरह हो सकती है।

पृ० २४०—'कुशक' का ठीक उच्चारण **कुसक** है।

पृ० २४३—डेरागाजीखाँ से कुछ कम ५० मील उत्तर सिंधु नद के दाहिने तट पर जिस 'टौंसा' का हमने उल्लेख किया है, उसका शुद्ध उच्चारण **तौंसा** है। इसके अनुसार तो टालमी के Tianṣa का उच्चारण भी **तिअाँसा** करना चाहिए।

रोमन लिपि से अपने देश के स्थान-संबंधी नामों को सीखने के कारण हमारे ही समान और भी पाठक प्रायः भ्रांति में पड़ जाते हैं। यही देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता है। भारतीय भूगोल के सब स्थानों का देवनागरी के अनुसार उच्चारण स्कूलों में ग्रहण करना चाहिए। अपनी दक्षिण-यात्रा के समय बहुत से नामों के संबंध में बहुत सी भूलें हमारे देखने में आईं। कानपुर को कानपोर लिखकर भी उत्तर में उसका शुद्ध उच्चारण सब जानते हैं। पर हम नहीं जानते कि मंगलोर का शुद्ध रूप मंगलूरु (प्राचीन मंगलापुरम्), माईसोर का मैसूरु, तंजोर का तंजूरु, नेल्लोर का नेल्लूरु है। 'ऊरु' पुर का रूप है। दक्षिणी नामों में जहाँ ore अंत में हो वहाँ इसे पुर का विकृत रूप समझना चाहिए। विशाखापत्तन का विकृत रूप विज़गापट्टन एवं विजयनगरम् का विज़िआनगरम् है। दोर्जलिंग (दोर्ज=वज्र) को बिगाड़कर हम सब डार्जलिङ् बोलने और लिखने के आदी हो गए हैं। हम इस बात की आवश्यकता का बहुत अनुभव करते हैं कि भारतीय-स्थान-नाम-परिषद् का संगठन हमारे देश में होना चाहिए। तभी हम अपने प्राचीन भौगोलिक नामों की ठीक पहचान और आधुनिक नामों का ठीक उच्चारण सीख सकेंगे।

—वासुदेवशरण।

पंजाब में हिंदी-आंदोलन

"पंजाब में हिंदी की दशा शोचनीय हो रही है। इस देश में पंजाब में ही आर्यभाषा का पहला विकास हुआ था। ठेठ पंजाबी में वैदिक शब्दों और प्रयोगों के अपभ्रंश बहुलता से मिलते हैं। उसमें कुछ वैदिक भाषा का सा रस और ऊर्ज मिलता है। पूर्वी पंजाब तो मध्यदेश के अंतर्गत है, जहाँ वैदिक भाषा संस्कृत हुई और इस रूप में केंद्रित होकर सारे आर्यावर्त्त की और फिर भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हुई। संस्कृत की आधुनिक उत्तराधिकारिणी हिंदी सहज ही मध्यदेश की अपनी भाषा और सारे देश की राष्ट्रभाषा है। अतः पंजाब की निजी प्रधान भाषा हिंदी ही है। परंतु कुछ काल से वह आक्रांत हो रही है और आज तो उसकी दशा शोचनीय ही हो गई है।" कार्तिक, ९६ में यह लिखते हुए हमने पंजाब सरकार के शिक्षा-मंत्री के हिंदी-घाती उद्योग का विरोध किया था और वहाँ उस आक्रमण के सबल प्रतिकार की आशा की थी। अब वहाँ प्रबल हिंदी-आंदोलन चल पड़ा है। पंजाब में हिंदी की वर्त्तमान अवस्था का एक आवश्यक विवरण तथा विवेचन और लाहोर के राष्ट्रभाषा-प्रचारक संघ तथा पंजाब प्रांतीय हिंदी सम्मेलन के प्रयत्नशील होने की सूचना जो श्री वी० पी० 'माधव' ने प्रकाशित कराई है उसे हम सहर्ष इस अंक के 'चयन' में उपस्थित कर रहे हैं।

भारतीय संस्कृति की पुण्यवाहिनी संस्कृत भाषा और उसकी आधुनिक उत्तराधिकारिणी हिंदी की सुरक्षा के लिये जो भगीरथ प्रयत्न लाहोर के प्रोफेसर रघुवीर, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्० एट् डी० फिल्० ने किया है वह महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने एक संकल्प-पत्र प्रस्तुत किया है जिसमें संस्कृत और हिंदी के हित के छ कर्त्तव्य हैं। उस पर वे पंजाब-निवासी हिंदुओं के हस्ताक्षर करा रहे हैं। पंजाब में भाषा का प्रश्न विशेष सांप्रदायिक हो गया है; वहाँ हिंदू न होने का अर्थ संस्कृत और हिंदी भाषा तथा भारतीय संस्कृति का सामह प्रतिरोध करना हो गया है। अतः हिंदुओं से ही यह आग्रह है।

हस्ताक्षर-युक्त वे संकल्प-पत्र अधिकारियों के पास भेजे जायँगे। इस प्रकार संस्कृत-हिंदी का आंदोलन बढ़ चलेगा और वह अवश्य बहुत कुछ सफल होगा। डा० रघुवीर ने हमारे पास अँगरेजी में एक लेख भेजा है जिसमें उक्त संकल्प-पत्र का विशदीकरण और उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिये संस्कृत-हिंदी-प्रेमी जनता से सहायता का आग्रह है। यहाँ कुछ संक्षेप से हम उसका अनुवाद उपस्थित करते हैं—

"पंजाब की साधारणत: हिंदू जनता से जिस संकल्प-पत्र पर हस्ताक्षर कराने का कार्य मैंने हाल में चलाया है उसमें निम्नलिखित बातें हैं:—

१—पंजाब विश्वविद्यालय के मैट्रिक्यूलेशन और एफ़० ए० परीक्षाओं में हिंदी और संस्कृत और बी० ए० में हिंदी हिंदुओं के लिये आवश्यक हो।

पंजाब के प्राय: सभी स्कूलों और कालेजों में हिंदी और संस्कृत का प्रबंध है। कुछ ही बड़े स्कूलों और कालेजों में शिक्षक बढ़ाने होंगे। अत: यह आवश्यक परिवर्त्तन शीघ्र कर देना कठिन न होगा। इस प्रांत के हिंदू युवकों की शिक्षा में मैट्रिक्यूलेशन परीक्षा एक सीमा है। कुछ समर्थ विद्यार्थी ही विश्वविद्यालय में प्रवेश करनेवाले होते हैं। इस अवस्था तक एक युवक को इतना ज्ञान करा दिया जाता है जिससे वह संसार में अपना निर्वाह कर सके। क्या यह हिंदुओं के लिये बड़ी लज्जा और क्षोभ की बात नहीं है कि इस निश्चित अवस्था पर पहुँचकर भी उनके युवक अपने देश, धर्म और संस्कृति से अपरिचित रहें?

२—प्राइमरी और मिडिल की श्रेणियों में हिंदुओं के लिये हिंदी तथा संस्कृत आवश्यक बना दी जायँ।

इस प्रांत की सरकार इस प्रस्ताव का सबल विरोध करेगी। परंतु हिंदुओं को इसके लिये एकमत और दृढ़ हो जाना है। कोई सरकार अपनी भाषा के पाठन में हमारा प्रतिरोध नहीं कर सकती। हिंदू बच्चे को पहली शिक्षा हिंदी की सरल और वैज्ञानिक वर्णमाला

की मिलनी चाहिए। फिर उसे हमारे देश के उत्कृष्ट काव्य, कथा और इतिहास का बोध होना चाहिए। देश के महावीर भीम, विश्वमधुर पुष्प कमल, हिमालय, गंगा, चंदन और मनोहर मृगों से हमारे नवयुवक की कल्पनाएँ बनें। भारतीय वातावरण में वह पले। यह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह महाघातक है कि हिंदू युवक फारसी, अरबी और योरपीय विचारों में पलें और अपना कुछ न जानें। फारस और अरब के विचार, इतिहास, पुष्प-पत्ती और काव्य अपने देश में फूलें-फलें। भारत उनसे मुक्त रहे। तभी वह उन्नत हो सकेगा और विश्व-सभ्यता के लिये अपनी विशेष देन दे सकेगा। जब भारत में सच्ची राष्ट्रीयता विजयिनी होगी तब मुसलमान भी समझेंगे कि संसार में उनका स्थान भारतीय के रूप में रहेगा, फारसी और अरबो के रूप में नहीं। उन्हें भी भारतीय कहलाने के लिये संस्कृत और हिंदी पढ़नी होगी। मुसलमान हों, ईसाई हों या कोई हों सबके सामने यह प्रश्न है कि वह कौन सी भाषा है जिसके स्वीकार से वे भारतीय बन सकते हैं। अँगरेजी नहीं, फारसी-अरबी नहीं, उर्दू भी नहीं ही। उर्दू तो हिंदी व्याकरण के साथ आकृति-प्रकृति में फारसी-अरबी ही है। वह भाषा एक संस्कृत ही है। १९वीं शती के मध्य तक वह भारत के लिये राष्ट्रभाषा रही है। उसी से भारत में एकसूत्रता रही है और उसी के द्वारा अब भी संभव है।

३—निर्णयालयों (अदालतों) तथा राजकीय कार्यालयों में हिंदुओं के लिये हिंदी राजभाषा बनाई जाय।

सरकार के विरोध और उपहास की हम कल्पना करते हैं। पर वह उपहास हमारी गंभीर दृढ़ता से शीघ्र चिंता में परिणत हो जायगा। सरकार से निर्णय पाने के लिये एक हिंदू एक विदेशी भाषा सीखने को बाधित क्यों हो?

४—स्कूलों और कालेजों में हिंदुओं की शिक्षा का माध्यम हिंदी को बनाया जाय।

जब उपर्युक्त माँगें पूरी होंगी तो यह तो सहज ही पूरी हो जायगी।

५—हिंदुओं के लिये भारतीय सेना में रोमन उर्दू का स्थान हिंदी को मिलना चाहिए। सेना में हमारी भाषा को अभी कोई स्थान नहीं प्राप्त है।

६—हिंदी शुद्ध होनी चाहिए। उसमे अरबी, फारसी तथा अन्य विदेशी शब्द नहीं चाहिए। समस्त पारिभाषिक शब्द संस्कृत से लिए जायँ।

देश के वे लोग जिनकी राष्ट्रीयता की कल्पना कुछ गहरी नहीं है, जो भारतीय संस्कृति को यथार्थतः समझते नहीं हैं वे हमारा साथ न दें, पर हमें विश्वास है कि हिंदू जनता हमारे साथ होगी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये दृढ़ता और प्रसन्नता से आवश्यक बलिदान करेगी। हम इस संकल्प-पत्र पर श्रावण के पहले १००००० हस्ताक्षर करा लेना चाहते हैं। हमें जन और धन दोनों के साहाय्य की अपेक्षा है। प्रत्येक हिंदू को इस कार्य में सक्रिय योग देना चाहिए। हिंदुओं को अर्थात् भारतीय राष्ट्र को भूत और वर्तमान की दासता के विरुद्ध पूरे सामर्थ्य से उठ खड़ा होना चाहिए।"

डा० रघुवीर ने एक पंजाबी के अनुरूप ही यह आंदोलन चलाया है। उनके संकल्प प्रांतीय ही नहीं, भारतीय महत्त्व के हैं। उनमें वस्तुत. भारतीय संस्कृति का ही प्रश्न है। भारताभिमानियों के सम्मुख आजदिन यह गंभीरतम प्रश्न है। संस्कृत भाषा में ही भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा बही, वही राष्ट्र की प्रधान भाषा रही। *अब हिंदी सहज ही उसकी उत्तराधिकारिणी है, पर उसका संस्कृतिभाषा* और आकरभाषा के रूप में महत्त्व बना है। भारतीयता के रक्षार्थ ही हमें संस्कृत और हिंदी की रक्षा करनी है, इसके लिये प्रयत्न और आंदोलन करने हैं। हम आशा करते हैं कि देश के संस्कृत और हिंदी के प्रेमीमात्र इस प्रयत्न में डा० रघुवीर का उत्साह से हाथ बटाएँगे और जन-धन के पर्याप्त योग से तथा अधिकारीगण की सुबुद्धि से उन्हें यथेष्ट सफलता प्राप्त होगी।

—क्ष।

सभा की प्रगति

प्रबंधसमिति

गत अंक में सभा की प्रबंधसमिति के समस्त सदस्यों के नाम प्रकाशित कर दिए गए थे। गत वर्ष तक काशी नगर और बाहर के मिलाकर प्रबंधसमिति के कुल केवल २१ सदस्य हुआ करते थे, किंतु २१ वैशाख १९९७ को सभा का जो वार्षिक अधिवेशन हुआ था उसके निश्चय के अनुसार काशी नगर से तीन सदस्य तथा भिन्न भिन्न प्रांतों और रियासतों से पंद्रह सदस्य और चुने गए। अब प्रबंधसमिति के सदस्यों की संख्या इस वर्ष से उनतालीस रहेगी। इससे सभा का सर्वभारतीय रूप और अधिक स्पष्ट हो जायगा और सभा को पूर्ण विश्वास है कि सभी सुदूर प्रांतों का भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाने के कारण उसका बल अनुदिन बढ़ेगा जिससे हिंदी के सर्वराष्ट्रीय स्वरूप की प्रतिष्ठा में सुगमता होगी।

आयव्यय-निरीक्षण

गत वार्षिक अधिवेशन में पं० सूर्यनारायण आचार्य सभा के आयव्यय-निरीक्षक चुने गए थे, किंतु उन्हें अवकाश न रहने के कारण श्री गुलाबदास नागर (काशी) संवत् १९९७ के लिये सभा के आयव्यय-निरीक्षक चुने गए।

प्रकाशन

इस वर्ष अब तक सभा ने निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित की हैं—

'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (संशोधित और प्रवर्धित संस्करण); 'उर्दू का रहस्य', 'मुल्क की जबान और फाजिल मुसलमान' (उर्दू में) और 'मुगल बादशाहों की हिंदी'। 'मध्यप्रदेश का इतिहास', जो कई महीने पहले छपकर तैयार हो गया था, अब नकशे आदि लगाकर सजिल्द रूप में प्रकाशित हो गया है।

बिक्री विभाग

सभा की पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने के उद्देश्य से भारत के प्रायः सभी बड़े बड़े नगरों में प्रतिनिधि पुस्तकविक्रेता बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है और इसमें सफलता भी मिल रही है। बंबई, मद्रास, कलकत्ता, लाहोर, दिल्ली, पटना, इंदोर, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ, मुरादाबाद, आगरा, कोटा, जयपुर, जबलपुर आदि स्थानों में सभा के प्रतिनिधि पुस्तकविक्रेता बन चुके हैं जिनके यहाँ सभा की सब पुस्तकें प्राप्त हो सकती हैं।

सभा में पुस्तकों के स्टाक की व्यवस्था नए सिरे से हो रही है। एक आदमी केवल इसी काम के लिये अस्थायी रूप से रखा गया है। आशा है, सितंबर के अंत तक यह कार्य संपन्न हो जायगा।

पुस्तकालय

सूची का कार्य, जो गत वर्ष प्रारंभ किया गया था, प्रायः समाप्त हो चला है। साहित्य और काव्य की पुस्तकों को छोड़कर अन्य विषयों की सब पुस्तकों की मरम्मत और जिल्दबंदी हो गई और उन पर नंबर डाल दिए गए। प्रायः ८००० पुस्तकों की मरम्मत और ७०० पुस्तकों की जिल्दबंदी हुई। दर्शन, धर्म, समाजशास्त्र, भाषाशास्त्र, उपयोगी कला, ललित कला, इतिहास, भूगोल संबंधी पुस्तकें अपने विषय तथा अंतर्विषय क्रम से रखी गईं और इन विविध पुस्तकों तथा तत्संबंधी कार्डों पर लेखक-क्रम से नंबर डाले गए। इस भाँति एक विषय पर भिन्न भिन्न लेखकों की लिखी हुई समस्त पुस्तकें जो पहले छिटफुट कई अलमारियों में पड़ी थीं एक जगह आ गई हैं।

पुस्तकों का आदान-प्रदान बंद हो जाने के कारण सहायकों की संख्या, जो गत वर्ष के अंत में लगभग ८० हो गई थी, श्रावण १९९७ तक १०७ हुई और उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है।

विभिन्न लेखकों तथा प्रकाशकों से पुस्तकें मँगाने के लिये २७१ कार्ड भेजे गए जिनमें ५० कार्डों पर सफलता प्राप्त हुई। इनके अतिरिक्त कई प्रकाशकों ने अपनी पुस्तकें पुस्तकालय के लिये भेजीं। पं० अक्षयवट मिश्र ने अपनी लिखी हुई २२ पुस्तकें एक छोटी सी सुंदर अलमारी सहित पुस्तकालय को दीं जिसके लिये उन्हें धन्यवाद है।

गत वर्ष के अंत में हिंदी विभाग की छपी हुई पुस्तकों की संख्या १५२८२ थी। श्रावण १९९७ के अंत तक कुल संख्या १५४३२ हुई। इस प्रकार इधर १५० नई पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त १३ पुस्तकें तथा रिपोर्टें प्राप्त हुईं।

इस काल में पुस्तकालय १२२ दिन खुला था।

कलाभवन

इस वर्ष आरंभ से ही रेल विभाग की ओर से राजघाट में खुदाई का काम हो रहा है। वहाँ बहुत सी बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री मिली है और मिलती जा रही है। हर्ष की बात है कि पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर जनरल रावबहादुर काशीनाथ दीक्षित ने यह आज्ञा दे दी है कि राजघाट की सारी ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह भारत-कलाभवन में रहे। फल-स्वरूप बहुत सी पत्थर की मूर्तियाँ और टेराकोटा कलाभवन में संगृहीत किए गए हैं जो इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। यह संग्रह-कार्य अभी बराबर जारी है।

सूचना—स्थानाभाव के कारण १ ज्येष्ठ से ३१ श्रावण १९९७ तक सभा में २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली अब अगले अंक में प्रकाशित होगी। —संपादक।

हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकें

(१) सुलभ-साहित्य-माला

१ भूषण ग्रंथावली	२)
२ हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	॥)
३ भारत गीत	≡)
४ राष्ट्र भाषा	॥)
५ शिवाबावनी	≡)
६ सरल पिंगल	।)
७ भारतवर्ष का इतिहास भाग १	२॥)
८ ,, ,, ,, ,, २	२।)
९ ब्रजमाधुरी सार	२॥)
१० पद्मावत पूर्वार्द्ध	१), १।)
११ सत्य हरिश्चन्द्र	।-)
१२ हिंदी भाषा सार	।॥)
१३ सूरदास की विनयपत्रिका	≡)
१४ नवीन पद्य संग्रह	।॥)
१५ कहानी-कुंज	॥=)
१६ बिहारी संग्रह	≡)
१७ कवितावली	।॥)
१८ सुदामा चरित्र	।)
१९ कबीर पदावली	।॥=)
२० हिंदी गद्य निर्माण	१॥)
२१ हिंदी साहित्य की रूप-रेखा	।)
२२ सती करुणकी	॥)
२३ हिंदी पर फारसी का प्रभाव	॥=)
२४ पार्वती मङ्गल	।)
२५ सूर पदावली	॥=)
२६ नागरी अंक और अक्षर	≡)
२७ हिंदी कहानियाँ	१॥)
२८ ग्रामों का आर्थिक पुनरुद्धार	१।)
२९ तुलसी दर्शन	२॥)
३० भूषण संग्रह भाग १	।-)
३१ भूषण संग्रह भाग २	॥=)

(२) साधारण-पुस्तक-माला

१ अकबर की राजव्यवस्था	१)
२ प्रथमालंकार निरूपण	≡)

(३) वैज्ञानिक-पुस्तक-माला

१ सरल शरीर विज्ञान	॥) ।॥)
२ प्रारंभिक रसायन	१)
३ सृष्टि की कथा	१)

(४) बाल-साहित्य-माला

१ बाल पंचरत्न	॥)
२ वीर संतान	।=)
३ बिजली	=)

(५) ओझा अभिनंदन ग्रंथ — १६)

पुस्तक मिलने का पता—

साहित्य मंत्री, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्जा अबुलफ़ज्ल। मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य कपड़े की जिल्द ४), सादी जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम० ए०। मूल्य कपड़े की जिल्द ४॥); सादी जिल्द ४)

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन० सी० मेहता, आई० सी० एस०। सचित्र। मूल्य सादी जिल्द ६); कपड़े की जिल्द ६॥)

(२४) प्रेम दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य ॥)

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरि रामचंद्र दिवेकर, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य कपड़े की जिल्द २); सादी जिल्द १।)

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्० मूल्य १।)

(२७) राजस्व—लेखक, श्री भगवानदास केला। मूल्य १)

(२८) मिना—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल०। मूल्य १)

(२९) प्रयाग-प्रदीप—लेखक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव, मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३॥)

(३०) भारतेंदु हरिश्चंद्र—लेखक, श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल० बी०। मूल्य ५)

(३१) हिंदी कवि और काव्य (भाग १)—संपादक, श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०, एल्-एल० बी०। मूल्य सादी जिल्द ४॥); कपड़े की जिल्द ५)

(३२) हिंदी भाषा और लिपि—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य ॥)

(३३) रंजीतसिंह—लेखक, प्रोफ़ेसर सीताराम कोहली, एम० ए०। अनुवादक, श्री रामचंद्र टंडन, एम० ए०, एल्० एल० बी०। मूल्य १)

प्राप्ति-स्थान—हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के प्रतिनिधि पुस्तकविक्रेता

जिनके यहाँ सभा की सब पुस्तकें प्राप्त हो सकती हैं—

१—इंडियन प्रेस, बुकडिपो, प्रयाग।
शाखाएँ—बनारस, जबलपुर, पब्लिशिंग हाउस आगरा, पटना, लाहौर, छपरा।
२—ज्ञानमंडल पुस्तकभंडार, चौक, काशी।
३—हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बंबई।
४—राजस्थान पुस्तक-मंदिर, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर।
५—साहित्य रत्न भंडार ५३ ए, सिविल लाइन, आगरा।
६—भार्गव पुस्तकालय, चौक, काशी।
७—इंडियन बुक शाप, थियासाफिकल सोसाइटी, काशी।
८—साहित्य-निकेतन, कानपुर।
९—दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, त्यागराय नगर, मद्रास।
१०—सस्ता साहित्यमंडल, दिल्ली।
शाखाएँ—अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ; बड़ा सराफा, इंदौर।
११—पंजाब संस्कृत बुकडिपो, नया बाजार, पटना।
१२—श्री अनंतराम वर्मा, जवेरी बाग, इंदौर।
१३—विद्यामंदिर, सर्गासूली, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर।
१४—हिंदी पुस्तक भंडार, हीराबाग, बंबई ४।
१५—मानससरोवर साहित्य निकेतन, मुरादाबाद।
१६—हिंदी भवन, हास्पिटल रोड, अनारकली, लाहौर।
१७—हिंदी साहित्य एजेंसी, बाँकीपुर, पटना।
१८—हिंदी कुटिया ,, ,, ,,
१९—हिंदी पुस्तक एजेंसी, ज्ञानवापी, काशी।
शाखाएँ—२०३ हरिसन रोड, कलकत्ता; दरीबा कलाँ, दिल्ली; गनपत रोड, लाहौर; (बाँकीपुर) पटना।
२०—शारदा मंदिर लि०, नई सड़क, दिल्ली।
२१—सरस्वती प्रेस बुकडिपो, बाँस का फाटक, काशी।
शाखाएँ—अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ; खजूरी बाजार, इंदौर; जीरो रोड, इलाहाबाद।
२२—श्री वर्मा वैश्य ब्रदर्स, समथर स्टेट (सी० आई०)।
२३—श्री मोहनलाल जैन, मोहनन्यूज कंपनी, कोटा।
२४—श्री तेजमल सौभाग्यमल, जबलपुर।
२५—किताबघर, कदम कुआँ, पटना।
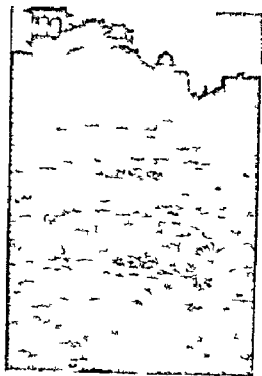
राजघाट की खुदाई का एक दृश्य

[पुरातत्व विभाग की खुदाई से पहले]

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४५—अंक ३ [नवीन संस्करण] कार्तिक १९९७

काशी-राजघाट की खुदाई*

[लेखक—श्री राय कृष्णदास]

काशी भारत की ही नहीं संसार भर की विद्यमान नगरियों में सबसे प्राचीन नगरी है। मिस्र, बाबुल और असीरिया के कतिपय नगर संभवतः प्राचीनता में इससे भी पुराने रहे होंगे, किंतु उन्हें धराशायी हुए एक लंबा युग बीत चुका और खुदाई के पहले वे नामशेष भी नहीं रह गए थे। इसी प्रकार अपने देश की श्रावस्ती (सहेत-महेत), कौशांबी (कोसम), विदिशा (भेलसा) आदि काशी की बहनें जाने कब की हतश्री होकर पृथ्वी की गोद में मुँह छिपाए गड़ी पड़ी थीं और पुरातत्व-विभाग के उद्घाटन के पहले गाँवों के रूप में उनका अस्तित्व नामशेष रह गया था। किंतु काशी जिसकी नींव ई० पू० तीसरी सहस्री में किसी समय पड़ी थी, जैसा कि पार्जिटर और उनके अनुयायियों की पौराणिक खोजों से मालूम हुआ है, आज भी ज्यों की त्यों प्रकाशित हो रही है। हमें याद आती है उमर खैयाम की यह रुबाई

---

* गत २ भाद्रपद '९७ को डा० पन्नालाल महोदय, आई० सी० एस्०, डी० लिट्० के हाथों भारत-कलाभवन में राजघाट-विभाग के उद्घाटन के अवसर पर लेखक द्वारा पढ़ा गया वक्तव्य।

कहाँ प्रफुल्ल 'इरम' उपवन वह ? कोई नहीं जानता भेद,
कहाँ सात द्वीपों का दर्पण विश्रुत वह 'जामे-जमशेद' ?
किंतु आज भी द्राक्षा-वल्ली वही लाल उपजाती है,
अब भी नीर-तीर पर उपवन मेट रहा है मन का खेद।

आरंभ में राजा दिवोदास ने गंगा और गोमती के संगम पर, जहाँ काशी जनपद की सीमा का अंत होता है और कोशल जनपद की सीमा आरंभ होती है, वाराणसी नगरी निवेशित की थी। आज भी उसी संगम पर बसा पटना नाम का ग्राम उस पत्तन के नाम की स्मृति सुरक्षित किए हुए है। इसी प्रकार लोक की इस अनुश्रुति में भी, कि उस संगम पर अवस्थित मार्कंडेयेश्वर महादेव का स्थान काशी का द्वार है, उस प्राचीन नगरी की याद बनी हुई है। तब से आज तक हमारी काशी नगरी, जो संसार की सबसे प्राचीन नगरी ही नहीं है प्रत्युत भारत की सांस्कृतिक राजधानी भी है, धीरे धीरे बराबर दक्षिण की ओर खिसकती चली आती है। आज भी यह दक्षिणी बढ़ाव बराबर जारी है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण विश्वविद्यालय की नई बस्ती है।

नंद, मौर्य, शुंग, गुप्त और मध्य काल तक हमारी बस्ती यहाँ से कोई ६ मील उत्तर गंगातटवर्ती वर्तमान कमौली गाँव से राजघाट तक फैली हुई थी। बौद्धसाहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय काशी नगरी सारनाथ (इसिपत्तन) के बिलकुल निकट थी। कमौली से राजघाट तक की बस्ती ही सारनाथ के निकट हो सकती है। इसके सिवा कन्नौज के मध्यकालीन प्रतापी गहरवारों के अनेक ताम्रपत्र भी कमौली में ही मिले हैं और आज भी वहाँ से लेकर राजघाट तक लगातार धुस्सों का सिलसिला फैला हुआ है जो अपने गर्भ में एक महानगरी के अस्तित्व की मूक साख भर रहा है; मूक ही नहीं बोलता हुआ भी, क्योंकि इन धुस्सों पर अनेक खंडित मूर्तियाँ और सिक्के-मनके आदि बिखरे पड़े हैं। इसी ध्वंसावशेष का दक्षिणी छोर राजघाट का तूदा है जो जनश्रुति के हिसाब से भी यहाँ के प्राचीन काल्पनिक राजा बनार का कोट है। साथ ही लोगों में यह अनुश्रुति भी अभी तक

बनी है कि बनारस की पुरानी बस्ती उसी ओर थी। इतना ही नहीं, राजघाटवाले तूदे के पास ही अभी तक आनंदवन नामक स्थान विद्यमान है। बताना न होगा कि वाराणसी नगरी का दूसरा नाम 'आनंद-वन' भी है।

किंतु इन सब शाब्द और औत्पत्तिक प्रमाणों के होते हुए भी कमौली के ताम्रपत्रों के सिवा प्राचीन काशी का कोई अवशेष हम लोगों के सामने अब तक नहीं आया था। पुरातत्त्वविभाग न जाने क्यों इस ओर से सदैव उदासीन रहा है। राजघाटवाला विशाल तूदा जाने कब से आधा सेना और आधा रेलवे के हाथ में रहा है। सेना-वाला अंश 'ऋषि वैली ट्रस्ट' के शिक्षालय रूप में परिवर्तित हो जाने के कारण सुदूर भविष्य में खुद पावेगा। ऐसी परिस्थिति में कहना यही पड़ेगा कि भला हो रेलवे विभाग का जिसने गंगा पर के डफरिन ब्रिज के ऊपर सड़क बनाने का निश्चय किया जिसके बहाने राजघाट के अवशिष्ट तूदे की खुदाई की नौबत आ पाई।

माना कि यह खुदाई एक दूसरी ही दृष्टि से, फलतः बिलकुल अवैज्ञानिक रूप से हो रही है और इस कारण कितनी ही चीजें प्रतिदिन नष्ट हो रही हैं, फिर भी यदि यह खुदाई न हुई होती तो न जाने हमारी किस पीढ़ी में काशी की गुप्तकालीन और मध्यकालीन संस्कृति के अनमोल रत्न हम लोगों की आँखों के सामने आते। सन् १९३९ के अंत के साथ यह खुदाई आरंभ हुई और तभी से काशी की पुरानी चीजों के विक्रेताओं का कृपाकटाक्ष उनकी ओर हुआ। प्रायः ६ फर्लांग लंबी और ३ फर्लांग चौड़ी खुदाई-पटाई में, विशेषतः जब कि खुदाई करनेवालों का ध्यान इस ओर न हो कि उसमें से निकली चीजों का क्या महत्त्व है, चीजों का हाथ से निकल जाना बिलकुल मामूली बात है। इसमें संदेह नहीं कि पुरातत्त्व-विभाग इस संबंध में रोक-थाम की आवश्यक आज्ञाएँ बराबर निकालता रहा है, किंतु यदि जनता में आज्ञा-पालन का भाव ही होता तो मानव-संसार को हम इस बिगड़ी हुई परिस्थिति में पड़ा हुआ न पाते। सीधे शब्दों में रेलवे विभाग की

मदाशयता और पुरातत्त्व-विभाग की सक्रियता होने पर भी काशी में आजकल राजघाट की चीजों का बाजार गर्म है।

काशी में भारत-कलाभवन जैसा सर्वभारतीय महत्त्व का संग्रहालय हो फिर भी अपनी ही नगरी की चीजों का वहाँ समूचा संग्रह न हो, यह एक बड़ी लज्जा का विषय है। अतएव जनवरी से अब तक लगभग १५०० रु० व्यय करके, जहाँ तक भी हो सका है, कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु हाथ से बाहर जाने नहीं दी गई है। अभी भी पाँच-सात सौ का खर्च हमारे सामने है, अर्थात् दो ढाई हजार के व्यय से यह यज्ञ पूरा होगा। हम जो १५०० रु० के लगभग व्यय कर चुके हैं उसमें से २५० रु० श्री सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला, १५० रु० श्री भगीरथजी कानोडिया तथा १०० रु० श्री पुरुषोत्तमदास जी लोहिया ने प्रदान करने की उदारता दिखाई है। कोई २५० रु० फुटकर चंदे के रूप में मिला है, अर्थात् १५०० रु० में से आधे का ही प्रबंध चंदे द्वारा हो सका है। शेष ७५० रु० का प्रबंध करने में जिस कठिनाई और अड़चन का सामना पड़ा है उसे वे ही जान सकते हैं जिनके ऊपर उनका भार रहा है। तिस पर से अभी हजार-पाँच सौ का प्रबंध करना शेष है। राम ही हमारे एकमात्र सहायक हैं।

इस अतिरिक्त व्यय के आ जाने के कारण कलाभवन के प्रतिदिनवाले व्यय में विशेष बाधा और व्यतिक्रम उपस्थित हुआ है। हमारे सौभाग्य का विषय यही है कि इस समय प्रांत के शासन का परामर्श आप जैसे व्यक्तित्व के हाथ में है जो हमारे कार्य और परिश्रम की उपादेयता को हमसे बढ़कर समझ सकते हैं। हमें पूरी आशा है कि इस वर्ष आपकी प्रेरणा से कलाभवन को ऐसी अतिरिक्त सहायता मिलेगी जिससे हमारी यह अड़चन सर्वथा दूर हो जाए।

पुरातत्त्व-विभाग के संचालक और हमारे परम सहायक श्री दीक्षित महाशय ने यह नीति निर्धारित कर ली है कि राजघाट से जो

कुछ भी मिलेगा वह कलाभवन ही में रखा जायगा। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ से निकली पत्थर की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ, जिन्हें व्यापारिक डाकू उड़ा नहीं ले जा सकते थे, हमें मिल गईं जिनमें से कुछ तो यहाँ आ चुकी हैं और कुछ आने को हैं। किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु जो पुरातत्त्व-विभाग द्वारा प्राप्त हुई है वह है महाराज गोविंदचंद्रदेव का दो पत्रों वाला ताम्रलेख जिसे अभी पुरातत्त्व-विभाग ने पढ़ने के लिये दिल्ली मँगा लिया है। यह ईश्वर की परम कृपा थी कि जिस समय यह ताम्रपत्र धरती से निकला उस समय रेलवे के बड़े 'जीनियर श्री कॅम्रिज, जो कलाभवन के संग्रह-कार्य में उत्साह के साथ सहयोग प्रदान करते रहे हैं, उस स्थान पर खड़े थे। अन्यथा यह ताम्रपत्र ऐसे हाथों में पड़ गया होता कि हजारों व्यय करने पर भी हमें मिला होता या न मिला होता।

यह ताम्रपत्र तो राजघाट संग्रह का शिरोमणि है ही, इसके सिवा कोई एक हजार की गिनती में हमें एक से एक सुंदर मृण्मूर्तियाँ, सैकड़ों प्रकार की मुहरें, तरह तरह के मनके तथा भाँति भाँति के बर्त्तन भाँड़े अब तक मिल चुके हैं। मृण्मूर्तियों में मृदंग बजानेवालों की दो मूर्तियाँ तथा एक बालक की छोटी मूर्ति क्रमशः प्रसन्नता और सुंदरता की अनुहार हैं और हम गर्व के साथ इस बात को कह सकते हैं कि उनके जोड़ की चीज अब तक भारतीय कला में नहीं प्राप्त हुई है। अब तक की पढ़ी गई मुहरों में राजा धनदेव की ई० पू० पहली शती की मुहर विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि इस शासक का कुछ परिचय हमें इसके सिक्कों से पहले ही मिल चुका है। अमात्य जनार्दन की मुहर कला की दृष्टि से अनोखी है। उस पर बड़ा ही सजीव बैठता हुआ बैल बना है। गुप्त साम्राज्य के स्वर्ण दिवसों में रोम का भारत से बड़ा व्यापारिक संबंध था। अभी तक यह बात हमें ग्रंथों द्वारा ही विदित थी। राजघाट में मिली मुहरों में कितनी ही रोमनों की भी हैं। इनसे गुप्तकाल में काशी के बाजार में, जो आज से नहीं कम से कम जातकों के समय से एक बहुत चलता हुआ व्यापारिक केंद्र है,

रोमनों के क्रय-विक्रय का मूर्त प्रमाण मिल गया। इस दृष्टि से ये मुहरें विशेष महत्त्व की और अनोखी हैं।

इस प्रकार थोड़े में राजघाट-संग्रह का विवरण देते हुए एवं अपनी आवश्यकताओं का दिग्दर्शन कराते हुए, आदरणीय डाक्टर महोदय! हम आपसे निवेदन करते हैं कि आप कलाभवन के राजघाट विभाग का उद्घाटन अपने करकमलों से संपन्न करें और स्वयं देखकर निर्णय करें कि हमारा यह आयोजन कितना महत्त्वपूर्ण है।

———

राजघाट के खिलौनों का एक अध्ययन

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम्० ए०]

काशी के राजघाट से प्राप्त अधिकांश खिलौने गुप्तयुग अर्थात् पाँचवीं शताब्दी के प्रतीत होते हैं। ये खिलौने मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—स्त्री-मस्तक, मुहर और विविध, जिसमें पशु-पत्ती और कुछ बर्तन भी शामिल हैं।

कला की दृष्टि से और ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से स्त्री-मस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। राजघाट की खुदाई में प्राप्त चीजों की तुलना भीटा की सामग्री से हो सकती है। दोनों एक ही युग की हैं और दोनों में आकार-प्रकार का घनिष्ठ सादृश्य है। भीटा के स्त्री-मस्तक भी राजघाट के समान थे, परंतु संख्या और कला की दृष्टि से राजघाट की सामग्री अधिक मूल्यवान् है।

इन खिलौनों की दो विशेषताएँ मुख्य हैं—केश-रचना और रँगों की पुताई या चित्रकारी।

केश-विन्यास की दृष्टि से राजघाट के खिलौनों का निम्नलिखित वर्गीकरण हो सकता है—

१—घूँघरदार बाल। इस श्रेणी में वे मस्तक हैं जिनमें शुद्ध घूँघर की रचना है। घूँघर के लिये संस्कृत शब्द अलक है। गुप्त-काल में *अलक-रचना का प्रचलन सब से ज्यादा जान पड़ता है।* कालिदास ने जितने स्थानों पर केशों का वर्णन किया है उनमें आधे से अधिक अलक-रचना का संकेत करते हैं। बाणभट्ट के ग्रंथों में भी अलकावली का वर्णन औरों की अपेक्षा अधिक है।

अमरकोष में अलक का स्वरूप बतलाया है—"अलकाश्चूर्ण-कुन्तलाः।" अर्थात् अलकावली बनाने में चूर्ण का प्रयोग होता

था। चूर्ण से तात्पर्य कुंकुम, कपूर आदि की सुगंधित पिट्ठी से है जिसके द्वारा बालों में घुमाव उत्पन्न किया जाता था। अमरकोष की इस परिभाषा का समर्थन स्वयं कालिदास के ग्रंथ से भी होता है। रघुवंश में केरल देश की स्त्रियों के अलकों के संबंध में चूर्ण का उल्लेख है—

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥४।५४॥

अर्थात् केरल-स्त्रियों की अलकों का शृंगार रघु की सेना से उठी हुई धूल ने चूर्ण के स्थान पर किया। मेघदूत २।२ में कालिदास ने अलक, सीमंत और चूडापाश इन तीन प्रकार के केश-विन्यास का वर्णन किया है। माँग को संस्कृत में सीमंत कहते हैं। मल्लिनाथ ने इसका अर्थ 'मस्तक-केशवीथी' किया है जिससे सीमंत का निश्चित अर्थ जानने में सहायता मिलती है।* चूडापाश वह जूड़ा है जिसे स्त्रियाँ सिर के पीछे बाँधती हैं। आज भी चूड़ा के लिये हिंदी में जूड़ा शब्द का प्रयोग होता है। तीसरा प्रकार अलक है। इसकी व्याख्या में मल्लिनाथ ने 'स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम्' यह एक प्रसंगोपात्त उद्धरण दिया है जिससे इतना तो प्रकट होता है कि अलकों में कुछ वक्रता या घुमाव रहता था, पर अलकों का स्पष्ट स्वरूप कुछ विदित नहीं होता।

सौभाग्य से रघुवंश के अष्टम सर्ग में इंदुमती के केशों का वर्णन करते हुए कालिदास ने अलकों के स्वरूप के विषय में जो स्पष्ट सूचना दी है, उससे अलकों की ठीक पहचान करने में कुछ संदेह नहीं रहता—

---

* मल्लिनाथ ने निम्नलिखित प्रमाण दिया है—
सीमन्तमस्त्रियां मस्तककेशवीथ्यामुदाहृतम्। इति शब्दार्णवे।

कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन् भृंगरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशंकि मे मनः ॥
रघुवंश ८।५३

अर्थात् वायु इंदुमती के फूलों से गूँथे हुए भौंराले अलकों को, जिनमें बल पड़े हुए थे, उड़ा रही थी। अलकों का वलीभृत विशेषण बहुत उपयुक्त है। वलीभृत का ही नाम वेल्लित केश* है। इस प्रकार के बटे हुए या बले हुए केशों को छल्लेदार या घूँघरदार कहा जा सकता है। अंग्रेजी लेखों में इनको ही spiral या grizzled locks कहा जाता है। गुप्तकाल के कवियों ने प्राय: अलकों के वर्णन में 'मुक्ताजालग्रथित' विशेषण का प्रयोग किया है (मेघदूत १।६३)। गुप्तकालीन चित्र और शिल्प की कृतियों में सिर की सजावट में मोतियों के बने हुए गुच्छों या गजरों की सजावट प्राय: देखी जाती है। मल्लिनाथ ने (मेघदूत २।६) मौक्तिक जाल का अनुवाद 'शिरोनिहित-मौक्तिकसर' (सिर पर खोंसी हुई मोतियों की लड़ियाँ) दिया है। लटों को चूर्णकुंतल या अलक के रूप में बटने से उनकी लंबाई भी स्वभावत: कम हो जाती होगी। मिट्टी के खिलौनों में अलकों की यह विशेषता स्पष्ट सूचित की गई है। कालिदास ने वियोगिनी यक्षिणी के केशों को 'लंबालक' कहकर ध्वनि से इस विशेषता की ओर संकेत किया है—

हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वात् ।
(मेघदूत २।२१)

अर्थात् संस्कार न होने से अलकों के नीचे लटक आने के कारण यक्षपत्नी का मुँह पूरा दिखाई न देगा—'संस्काराभावात्

---

* विराटपर्व में सैरंध्री के बालों का वर्णन—
ततः केशान् समुत्क्षिप्य वेल्लिताग्राननिंदितान् ।
जुगूह दक्षिणे पार्श्वे मृदूनसितलोचना ॥९।१॥

लम्बमानकुन्तलत्वात्'। मेघदूत २।२८ में फिर इसी बात को पुष्ट किया है—"शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागंडलम्बम्, अर्थात् हे मेघ! स्निग्ध पदार्थ के विना स्नान करने के कारण उसके अलक गालों पर लटक आते होंगे।

घूँघरवाले बालों के कई अवांतर भेद राजघाट के खिलौनों में पाए जाते हैं। जैसे—

(अ) शुद्ध घूँघर—इसमें सीमंत या माँग के दोनों ओर केवल वलीभृत् अलकों की समानांतर पंक्तियाँ सजी रहती हैं। जैसे एक सिर में माँग के दोनों तरफ पहले चार-चार बली हुई लटें, फिर भ्रूपंक्ति की सीध से कुंडल तक उसी तरह की लटों का दूसरा उतार पाया जाता है। भारत-कलाभवन में इस विन्यास के कई बहुत सुंदर नमूने हैं।

(आ) छतरीदार घूँघर—इसमें घूँघरों की पहली पंक्ति ललाट के ऊपर अर्धवृत्त की तरह घूमती हुई सिर के प्रांतभागों तक चली जाती है जो देखने में कुछ कुछ खुली हुई छतरी से मिलती है। इसी विशेषता के कारण इसका नामकरण किया गया है। शेष घूँघर रचना (अ) जैसी है।

(इ) चटुलेदार घूँघर—शुद्ध घूँघर से इस विन्यास में इतना अंतर है कि सीमंत या केशवीथी को एक आभूषण से सज्जित किया गया है। इसका वर्तमान रूप सिरमौर कहना चाहिए। इस आभूषण के लिये सीमंत स्थान कुछ विस्तृत दिखाया जाता है और घूँघर थोड़ा हटकर शुरू होते हैं। सिरमौर का प्राचीन नाम बाणभट्ट के हर्षचरित से ठीक-ठीक मालूम होता है। बाण ने इसे चटुला-तिलक कहा है—

सीमन्तचुम्बिनश्चटुलातिलकमणेः।

(हर्ष० उच्छ्वास १, पृष्ठ ३२, निर्णयसागर संस्करण)

सीमंत-चुंबी पद से इसके स्थान का ठीक संकेत मिलता है। चटुला के अग्रभाग की आकृति तिलक जैसी होने के कारण इसे चटुला-तिलक कहा जाता था। चटुला-तिलक के अंत में एक मणि

कुतरीदार घूँघर—पृष्ठ २१८

चट्टुलेदार घूँघर—पृष्ठ २१८

पटियादार घूँघर—पृष्ठ २१६

कुटिल पटिया—पृष्ठ २१६

गुँथी रहती थी जो इस प्रकार के खिलौनों में अभी तक देखी जा सकती है। चटुला का अग्रभाग चपल होता था, अर्थात् इधर-उधर हिल सकता था। इसी से इसे चटुल कहते थे। बाणभट्ट का पूरा पद चटुला-तिलक-मणि बहुत ही साभिप्राय प्रतीत होता है। बाण ने अन्यत्र (हर्ष० १।२१) 'शिखंडखंडिकापद्मरागमणि' अर्थात् चूड़ाभरण (शिखंडखंडिका) में *ग्रथित पद्मरागमणि का वर्णन किया है।* वह भी चटुला-तिलक-मणि का ही नामांतर मात्र ज्ञात होता है।

(ई) पटियादार घूँघर—घूँघर के चौथे अवांतर भेद में पटिया और घूँघर सम्मिलित पाए जाते हैं। अर्थात् माँग के दोनों ओर पहले कुछ दूर तक पटिया बाई रहती हैं, फिर घूँघर शुरू होकर दोनों ओर फैल जाते हैं। इस प्रकार के मस्तकों में घूँघरों की रचना उतनी उभरी हुई लच्छियों में नहीं मिलती जैसी (अ) में, वरन् एक दूसरे में संक्रांत पंक्तिबद्ध छल्लों के रूप में पाई जाती है। इनकी लहरान भी सिर के दोनों ओर कानों के नीचे कंधों तक पाई जाती है।

२—कुटिल पटिया—इस वर्ग में वे मस्तक हैं जिनमें माँग के दोनों ओर कनपटी तक लहराई हुई शुद्ध पटिया मिलती हैं और वे ही छोर पर ऊपर को मुड़कर घूम जाती हैं। देखने में ये ऐसी मालूम होती हैं जैसे मोर की फहराती पूँछ। छोरों के बाँकपन के कारण हमने इन्हें कुटिल पटिया कहा है। कालिदास ने जहाँ मोरों के बर्हभार से स्त्री-केशों की तुलना की है वहाँ उनका अभिप्राय इसी प्रकार के केशविन्यास से जान पड़ता है, जैसे मेघदूत २।४१ (शिखिनां बर्हभारेषु केशान्)। इस विन्यास में केश बहुत फैले हुए और भव्य प्रतीत होते हैं। हमारे अनुमान से कुंचित केश या सभंग केश से भी इसी प्रकार का विन्यास अभिप्रेत था। हर्षचरित (४।१३६) में शिरोरुहों के भंग का उल्लेख है, जिसकी टीका में 'भंगः कुंचितत्वम्' लिखा है। कुटिल पटिया का एक ही अवांतर भेद है अर्थात् चटुलादार। चटुले की बनावट पहले जैसी ही समझनी चाहिए।

३—शुद्ध पटिया—यह सीधा-सादा भेद है जिसमें माँग के दोनों ओर बालों की पटिया बनी रहती हैं और वे ही सिर के पीछे जूड़े के रूप में बाँध दी जाती हैं। संस्कृत ग्रंथों का चूड़ापाश इसी विन्यास के अंतर्गत प्रतीत होता है।

४—छत्तेदार-केश रचना—इसमें माँग के दोनों ओर बाल शहद के छत्ते की तरह झँझरीदार से जान पड़ते हैं। अंग्रेजी में इसे honey-comb design कहते हैं। संस्कृत में इस प्रकार की रचना को चौद्रपटल या मधुपटल विन्यास कह सकते हैं। कालिदास ने रघुवंश में पारसीकों के दाढ़ीदार (श्मश्रुल) सिरों की उपमा चौद्रपटल से दी है (रघुवंश ४।६३), परंतु वहाँ यह सादृश्य सासानी युग की दाढ़ियों को उद्दिष्ट करके कहा गया है। प्राचीन साम्राज्यकालीन रोम की संभ्रांत युवतियों में छत्तेदार केशों (honey-comb curls) का रिवाज अत्यंत प्रिय था*। गुप्तकाल की चौथी-पाँचवीं सदियों में भारतवर्ष में भी इस विन्यास का प्रचलन इन नारी-मस्तकों से सिद्ध होता है। मथुरा संग्रहालय में हाल में ही गुप्तकालीन बड़े मिट्टी के फलक में इस प्रकार के केशविन्यास का एक अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण यमुना-तल से पाया गया था।

५—लटदार या लच्छेदार—इसमें केशों की सीधी-सादी लटें या लच्छियाँ नीचे कंधों तक झूलती रहती हैं।

६—ओढ़नीदार—यह एक अवांतर भेद ही है। इसमें केश-विन्यास चाहे जो हो, सिर पर एक ओढ़नी ढकी रहती है जिसमें सामने के केश कुछ खुले दिखाए जाते हैं।

---

* हाल ही में न्यूयार्क के मेटरोपालिटन म्यूजियम आव् आर्ट नामक संग्रहालय में एक रोम युवती की संगमरमर की मूर्ति आई है जिसमें इस प्रकार के सुंदर केश-विन्यास का बड़ा भव्य नमूना पाया जाता है। प्रथम शती ई० के फ्लेवियन सम्राटों के समय की एक पुरंध्री स्त्री (Cominia Tych) की यह मूर्ति है।

छत्तेदार केश—पृष्ठ २२०

ओढनीदार केशरचना—पृष्ठ २२०

मौलिबंध केशरचना—पृष्ठ २२१

त्रिविभक्त मौलिविन्यास—पृष्ठ २२१

शृंगाटकाकार त्रिमौलि—पृष्ठ २२१

जटाजूट के सदृश केशबंध—पृष्ठ २२१

पार्वती-परमेश्वर मस्तक—पृष्ठ २२१

रोमक मस्तक से अंकित मुद्रा—पृष्ठ २२५

७—मौलि—इसमें बालों का जूड़ा बनकर माला से बाँध दिया जाता था। मौलि के भीतर भी फूलों की माला गूँथी जाती थी। कालिदास ने 'मुक्तागुणोन्नद्ध मंतर्गतस्रज मौलि' (रघु० १७।२३) का उल्लेख किया है। कुछ खिलौनों में दाएँ-बाएँ और ऊपर तीन जूड़े या त्रिमौलिविन्यास पाया जाता है। अजंता के कुछ चित्रों में स्त्री-मस्तकों पर बँधे हुए केशों का एक बड़ा जूड़ा मिलता है (राजा साहब औंधकृत अजंता प्लेट ६६)। इसका साहित्यिक नाम धम्मिल्ल जान पड़ता है। अमरकोष में बाँधे हुए केशों को धम्मिल ('धम्मिलाः संयता कचाः') कहा गया है। बाण ने भी माला के छूट जाने से धम्मिल्लों के खुलने का वर्णन किया है ('विस्रंसमानैर्धम्मिलतमाल-पल्लवैः,' हर्ष० ४।१३३)। अन्यत्र पुरंध्रिस्त्रियों के धम्मिल्लों में मल्लिका की माला गूँथे जाने का वर्णन है (हर्ष० १।१५)। प्रतीत होता है कि मौलि का ही नामांतर या अवांतर भेद धम्मिल्ल था। किन्हीं मस्तकों में सिर के ऊपर शृंगारक या सिंघाड़े की त्रिमौलि की रचना करके, माँग के बीच में सिरमौर, माथे पर मौलि-बंध और उससे नीचे दोनों ओर अलकावली छिटकी हुई दिखाई जाती है। यह त्रिमौलि और अलक-विन्यास का सम्मिश्रण है। गुप्तकाल की पत्थर की मूर्तियों में एक और प्रकार की केश-रचना भी मिली है। सिर के ऊपर गोल टोपी की तरह मौलि-बंध और दक्षिण-वाम पार्श्व में उससे निःसृत दो माल्य-दाम लटकते रहते हैं। राजघाट के एक मृण्मय स्त्री-मस्तक में भी यह रचना मिली है जो इस समय लखनऊ के अजायबघर में है।

राजघाट से प्राप्त तीन मस्तक ऐसे हैं जिनका केश-विन्यास सब से विशिष्ट है। ये मस्तक सौंदर्य में एक से एक अपूर्व हैं और इनमें सिर के दक्षिण भाग में जटाजूट और वाम भाग में घूँघर या अलकावली का प्रदर्शन है। हमारे विचार में ये मस्तक पार्वती-परमेश्वर की कांता-सम्मिश्र देहवाली मूर्ति को प्रकट करते हैं। राजघाट के खिलौनों में देवमूर्तियाँ बहुत ही कम हैं। लगभग दो-तीन सिर और हैं जो विष्णु या सूर्य की मूर्तियों के रहे होंगे।

राजघाट के खिलौनों की दूसरी मुख्य विशेषता जो गुप्तकालीन कला पर नया प्रकाश डालती है, उन पर पुते हुए रंग हैं। ये रंग कुम्हारों के साधारण पोत की तरह नहीं हैं। इनमें कुशल चित्रकारों की कूँची की चित्रकारी पाई जाती है। एक स्त्री-मूर्ति की साड़ी को लाल और सफेद रंग की लहरियों से चित्रित किया गया है। इसी मूर्ति में काली कुचपट्टिका दिखाई गई है। एक छोटी बालक-मूर्ति के जाँघिए में खड़ी दुरंगी डोरियाँ दिखाई गई हैं। ये दोनों प्रकार अजंता के भित्तिचित्रों मे मिलते हैं (राजा साहब औंध कृत अजंता, चित्र ६५ और ६८)। कुछ स्त्री-मस्तकों में चित्रकार ने बहुत सावधानी से काली रेखाओं के द्वारा सिर के बाल, भुजाओं के केयूर, कंठहार और स्तनहारों को भी इंगित किया है। कुछ में नेत्रों के पलक और भ्रूलताओं की काली रेखाएँ बिलकुल स्पष्ट दिखाई देती हैं। इस प्रकार के चित्रित खिलौनों पर किसी रंग का पोत अवश्य पाया जाता है। जान पड़ता है कि पकाने के बाद ये खिलौने कुम्हार के हाथ से निकालकर चित्रकार के सुपुर्द कर दिए जाते थे। संभवतः भारतीय कला की जैसी परिपाटी आज दिन तक रही है उसके अनुसार निर्माण और चित्रण के दोनों कार्य कुशल कुम्हारों के ही हाथों में संपन्न होते होंगे। बाणभट्ट ने इस प्रकार के चतुर कुम्हारों के लिये ही 'पुस्तकृत' (हर्ष० १।४२) और 'लेप्यकार' (४।१४२) शब्दों का प्रयोग किया है। पुस्त से ही हिंदी शब्द पोत का संबंध है। सर्व-प्रथम मुलतानी मिट्टी का एक कोट लगाकर उसके ऊपर यथाभिल-षित लाल, पीले, हरे या सफेद रंग का अंतिम पोत फेरा जाता था और फिर उसके ऊपर चित्रकारी की जाती थी। इस प्रकार चार-पाँच अंगुल के छोटे से खिलौने को भी गुप्तकालीन कलाकार अनुपम कला-कृति में परिणत कर देता था। केश-विन्यास, आभूषण, वस्त्र, नेत्र, भ्रूपंक्ति आदि के मनोज्ञ रेखाकर्म में कला की श्रेष्ठता का वही ढंग दिखाई देता है जो बड़ी प्रस्तर-मूर्तियों में या पूरे भित्ति-चित्रों में मिलता है। गुप्तकालीन रंगों की वैज्ञानिक छानबीन अभी होने को है। परंतु

संभवतः लाल रंग के लिये हिरमिजी, हरे के लिये हरताल, सफेद के लिये शंख का चूना या सफेदा, हलके पीले के लिये रामरज और गहरे पीले के लिये मनसिल काम में लाई जाती थी। कालिदास ने धातुराग या गेरू के द्वारा रेखांकन का वर्णन किया है (मेघदूत २।४२)*। बाणभट्ट ने एक जगह बिजली की तरह चमकीले पीले रंग के लिये 'मनःशिलापंक' (हर्ष० ३।१०३) का उल्लेख किया है। बाण ने चित्रकर्म में कई रंगों को मिलाकर रंग बनाने का भी वर्णन किया है ('कादंबरी-चित्रकर्मसु वर्णसंकराः,' पृ० १०)।

गुप्तकालीन खिलौनों को धोने से पहले उनके रंगों को ध्यान-पूर्वक देख लेना चाहिए। ऐसा न हो कि रंगीन खिलौनों की चित्रसारी धोने के साथ नष्ट हो जाय। राजघाट के अतिरिक्त प्रयाग के पास भीटा (प्राचीन सहजातेय) स्थान से भी गुप्तकालीन रंगीन खिलौने पहले मिल चुके हैं। उनका सचित्र वर्णन सन् १९११-१२ की पुरातत्त्वविभाग की रिपोर्ट में सर जान मार्शल के द्वारा प्रकाशित किया गया था। केश-विन्यास के भी उनमें अच्छे नमूने हैं; पर उस सामग्री का विस्तृत वर्णन किसी समय स्वतंत्र रूप से होना चाहिए। ज्ञात होता है कि गुप्तकालीन खिलौनों की कला का प्रभाव-क्षेत्र न केवल समस्त उत्तर भारत में पहाड़पुर (बंगाल) से लेकर मीरपुर-खास (सिंध) तक था, बल्कि गंधार-कपिशा तक भी था। अफगानिस्तान के कपिशा नामक स्थान (आधुनिक बेग्राम, काबुल से लगभग ५० मील) की उपत्यका में शाहगिर्द स्थान से गुप्त-समय के रंगीन स्त्री-मस्तक प्राप्त हुए हैं जो इस समय काबुल के अजायबघर में प्रदर्शित हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन ने उनके संबंध में लिखा है—"एक जगह पचासों स्त्री-मूर्तियों के सिर रखे थे। इनमें पचासों प्रकार से केशों को सजाया गया था, और कुछ सजाने के ढंग तो इतने आकर्षक और बारीक थे कि मोशिए मोनिए (फ्रेंच राजदूत जो राहुल जी के

* 'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्।'

साथ थे) कह रहे थे कि इनके चरणों में बैठकर पेरिस की सुंदरियाँ भी बाल का फैशन सीखने के लिये बड़े उल्लास से तैयार होंगी। उस वक्त यंत्र से बालों में लहर डालने का ढंग मालूम नहीं था, फिर न मालूम कैसे उस वक्त की स्त्रियाँ ऐसी विचित्र और बारीक लहरें बहाने में समर्थ होती थीं" ।* वस्तुतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। गुप्तयुग भारतीय प्रसाधनकला का भी स्वर्णयुग था। इस विषय का अत्यंत मनोहर वर्णन कालिदास ने विवाह से पूर्व पार्वती के मंडन-संपादन के प्रसंग (कुमारसंभव, सप्तम सर्ग) में किया है।

राजघाट के अन्य खिलौनों में कुछ पशुओं के हैं, जैसे हाथी, शेर, ऊँट, कुत्ता आदि। एक पोला झुंझुना सूअर की आकृति का है जिसकी जोड़ का एक नमूना मथुरा में भी मिला है। भौगोलिक प्रसार की दृष्टि से हर एक युग के खिलौनों का श्रेणी-विभाजन भी बड़ा रोचक और उपयोगी सिद्ध हो सकता है। मकरमुखी, सिंहमुखी और कच्छपमुखी, तीन तरह की टोंटियाँ मिली हैं जो कला की दृष्टि से सुंदर हैं। हर्षचरित में कई जगह मकरमुख प्रणाली या टोंटी का उल्लेख आया है (हर्ष० ४।१४२)। बौद्ध साधुओं द्वारा प्रयुक्त अमृतघट भी मिले हैं जिनमें लंबी गर्दन के ऊपर बहुत महीन छेद रहता है। कहा जाता है कि बौद्ध भिक्षु इनके द्वारा अमृत चूसने की साधना का प्रयोग करते थे।

राजघाट की मुहरों के कई प्रकार हैं। गरुड़, वृषभ, मूषक, सिंह, गरुड़ और कुंजर मिले हुए, देवी और अश्वारोही, चरणपादुका, चंद्रार्क, पूर्णघट, यूप, चक्र आदि नाना आकृतियों से चित्रित मुहरें प्राप्त हुई हैं। एक मुहर में यूप और उसके सामने शिव का खंड-परशु है जिसमें कुठार के साथ त्रिशूल भी सम्मिलित है। [मिलाइए भीटा से प्राप्त मुहर स० १४ ; पुरातत्त्वविभाग की रिपोर्ट, १९११-१२, फलक १८।] एक मुहर नेगम या व्यापारियों के संघ की है

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४, पृ० २०७।

[दे० भीटा मुहर ५७-६२, पृष्ठ ५६]। राजा धनदेव और अमात्य जनार्दन की मुहरों की चर्चा श्री राय कृष्णदास जी के लेख में है ही।[१]

ऐतिहासिक दृष्टि से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बहुत सी ऐसी मुद्राएँ हैं जिन पर रोमदेशीय मनुष्यों की आकृति के सदृश वृद्ध का मस्तक और युवा का मस्तक बना हुआ मिलता है। कुछ मुहरों पर एक खड़ी हुई देवी की सपक्ष मूर्ति है जो दोनों हाथों में सामने की ओर कोई माला जैसी वस्तु पकड़े हुए है। गुप्त-युग के लिये रोम देश के साथ संपर्क का प्रमाण कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। रोम के सम्राटों के साथ भारतीय नरेशों का प्रणिधि-संबंध प्रथम शताब्दी से ही शुरू हो गया था। मैक्रिंडिल ने रोम और यूनानी लेखकों के आधार से जो इतिवृत्त एकत्रित किए हैं उनसे विदित होता है कि सीजर आगस्टस (२७ ई० पू०) के दरबार में शक और भारत के राजदूत पहुँचे थे। डिअन कैसिअस ने दूसरी शती में लिखे हुए अपने रोम के इतिहास में आगस्टस के पास गए हुए कितने ही भारतीय दूत-मंडलों का उल्लेख किया है। इतिहासकार फ्लोरस के अनुसार भारतीय प्रणिधि-वर्ग सम्राट् ट्राजन (९९ ई०) से भी मिला था। कांसटेंटाइन महान् (३२४ ई०) के यहाँ भी भारतीय राजदूत पहुँचे थे। ऐतिहासिक मर्सेलिनस के अनुसार एक भारतीय दूत-मंडल सम्राट् जूलिअन (ई० ३६१) से मिलने के लिये गया था जो अपने साथ में उपहार की बहुमूल्य सामग्री लाया था। सन् ५३० में भारतवासियों ने एक दूतवर्ग कोंस्टेंटिनोपिल नगर में भेजा था[२]। इस तालिका से विदित होता है कि भारतीय राजदूतों के पश्चिम प्रयाण की परंपरा रोम-देशीय सम्राटों के समय लगभग छः सौ वर्षों तक रही। गुप्तकाल में इस प्रकार की प्रथा को व्यापारिक उन्नति के कारण और भी प्रोत्साहन

१—दे०—'काशी-राजघाट की खुदाई' शीर्षक पिछला लेख पृ० २१३।—सं०।

२—दे०—मैक्रिंडिल, एंशेंट इंडिया इन क्लासिकल लिटरेचर (१९०१), पृ० २१२-२१४।

मिला होगा। सम्राट् जूलिअन के पास जो राजदूत गए थे, वे संभवतः विजयी समुद्रगुप्त की ओर से भेजे गए थे। इस दृष्टि से काशी में, जो उत्तरापथ के व्यापार की सबसे बड़ी मंडी थी, जिसे व्यापारी वर्ग लाभ के कारण 'जितवरी' कहकर पुकारते थे, रोमदेशीय मुद्राओं की प्राप्ति सहज ऐतिहासिक परंपरा का परिणाम है। प्राचीन काशी में इस प्रकार की और भी सामग्री के मिलने की आशा रखनी चाहिए।

काशी प्राचीन पुरियों की सम्राज्ञी है। उसका नामकरण जिस उदारता से हुआ है उतना सौभाग्य शायद ही किसी दूसरे स्थान को प्राप्त हुआ हो। युवंजय जातक (जातक सं० ४६०) में कहा गया है कि काशी का एक नाम रम्म या रम्य था। उदय जातक के अनुसार इसका नाम सुरुंधन था। संभवतः गंगा-गोमती के बीच में इसकी सुदृढ़ स्थिति के कारण यह नाम प्राप्त हुआ था। चुल्लसुतसोम जातक में इसे सुदस्सन अर्थात् अत्यंत दर्शनीय नगरी कहते थे। सोणं-दन जातक के अनुसार इसकी संज्ञा ब्रह्मवद्धन थी। यह नाम कितना सार्थक है! काशी भारतीय ज्ञान की अभिवृद्धि में सदा से अग्रणी रही है। खंडहाल जातक में काशी को पुप्फावती (=पुष्पवती) कहा गया है जो नाम आज भी काशी के लिये अन्वितार्थ है। इस पुरातन परंपरा से समृद्ध वाराणसी पुरी को भारतीय पुरातत्त्व के क्षेत्र में भी अपना समुचित स्थान ग्रहण करना योग्य है। राजघाट की वस्तुएँ उसी दिशा का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

———

हिंदी का चारण काव्य

[लेखक—श्री शुभकर्ण बदरीदान कविया, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

चारण जाति का संक्षिप्त परिचय

चारण जाति का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से है। अपने पवित्र आदर्श और कल्याणकारी लोकव्यवहार के कारण चारणों को समाज में सदा सम्मान प्राप्त रहा। प्राचीन काल में चारण जाति भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रांतों में निवास करती थी[1]। मध्यकाल के कुछ पहले से अब तक वह अधिकतर राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ में निवास करती चली आ रही है। उसका प्रधान ध्येय लोककल्याणार्थ क्षत्रिय जाति में शूरवीरत्व और साहस का संचार कर उसे लोक-रक्षा में तत्परता के साथ दत्तचित्त रखना और उसे समय समय पर सद्धर्म और सत्कर्त्तव्य का ज्ञान कराकर सन्मार्ग पर चलाना था। चारण जाति के सभ्य स्वयं सत्यवक्ता, स्वातंत्र्यप्रिय, त्यागी, कर्मशील और वीर होते थे। स्व० ठाकुर किशोरसिंह जी, स्टेट हिस्टोरियन पटियाला राज्य, ने 'चारण' शब्द की यह निरुक्ति बतलाई है—'चारयन्तीति चारणाः' अर्थात् जो देश का संचालन-कार्य, नेतृत्व करें एवं देशभक्ति को प्रोत्साहन दें वही चारण हैं[2]।

१—संक्षिप्त चारण ख्याति पृ० ६, लेखक म० म० कविराजा मुरारीदान, जोधपुर।

२—अ० भा० चारण-सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन की रिपोर्ट, पृ० ४१, टिप्पणी।

काव्य-परंपरा

चारणों में काव्य-प्रतिभा परंपरागत और स्वाभाविक होती थी। उनमें से बहुत से आशुकवि होते थे और उनको सैकड़ों कविताएँ कंठस्थ होती थीं। वे अपनी कविताएँ लिखते बहुत कम थे और उनमें अपना नाम भी प्रायः बहुत कम देते थे। इसलिये बहुत सी चारणों की रची हुई कविताएँ विस्मृति के गर्त में चली गईं और जो उपलब्ध हैं उनमें से कितनी ही कविताओं के रचयिताओं का पता नहीं है। प्रारंभ से ही अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने और अपने कर्तव्योपदेशों का क्षत्रिय जाति पर चिरस्थायी और गहरा प्रभाव डालने के लिये चारणों ने कविता को अपना साधन बनाया था। विक्रम की १२वीं शताब्दी के भी पहले से, अपभ्रंश काल से आज तक चारण जाति में सैकड़ों कवि हुए हैं जिनमें से कुछ कवि इतने लोकप्रिय और प्रसिद्ध हुए हैं कि उनके समान और कवि हिंदी में बहुत कम मिलेंगे, जैसे राष्ट्रीय कवि दुरसा आढा, महात्मा ईश्वरदास, साँया झूला, महाकवि नरहरदास बारहठ, स्वरूपदास, महाकवि बाँकीदास, कृपाराम, खिड़िया, महाकवि सूर्यमल, कविराजा मुरारीदान, कविराजा श्यामलदास, स्वामी जी गणेश पुरी, ऊमरदान लालस और ओपा आढा इत्यादि। १२वीं और १३वीं शताब्दी के चारण कवियों की रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में हैं, जो उस समय लोक-भाषा थी। कुछ कवियों को छोड़कर जिन्होंने व्रजभाषा (पिंगल) में सरस काव्य-रचना की है, १३वीं शताब्दी के बाद के अधिकांश चारण कवियों ने डिंगल* भाषा को अपनी कविता का माध्यम बनाया था। डिंगल साहित्य को जितना चारण कवियों ने अपने ग्रंथरत्नों से सजाया उतना शायद किसी ने नहीं। डिंगल भाषा का जैसा परि-

---

* डिंगल भाषा या मरु भाषा अपभ्रंश काल के बाद से राजस्थान की लोकभाषा रही है। डिंगल भाषा अपभ्रंश से निकली है।

मार्जित और सुललित स्वरूप चारण-काव्य में मिलता है, वैसा अन्यत्र बहुत कम मिलता है। आगे के विवेचन से विदित होगा कि चारण काव्य भगवद्भक्ति, स्वातंत्र्य, स्वावलंबन, वीरोत्साह, प्रेम, औदार्य, विनय, शील, आत्मत्याग और आत्मसम्मान आदि मानव-हृदय के उदात्त भावों से ओतप्रोत है। उसमें केवल वीर रस ही नहीं, ईश्वरभक्ति, शृंगार, वात्सल्य, करुण, हास्य आदि रसों की भी उत्कृष्ट व्यंजना हुई है। -

कवींद्र रवींद्र तो चारण काव्य का श्रवण कर उस पर मंत्रमुग्ध हो गए। आपने राजस्थान रिसर्च सोसायटी के समक्ष १८ फरवरी १९३७ को भाषण देते हुए चारण काव्य की इस प्रकार हार्दिक प्रशंसा और सच्ची आलोचना की थी—"भक्ति-साहित्य हमें प्रत्येक प्रांत में मिलता है। सभी स्थानों के कवियों ने अपने ढंग से राधा और कृष्ण के गीतों का गान किया है। परंतु अपने रक्त से राजस्थान ने जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह अद्वितीय है और इसका कारण भी है। राजपूतों के कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का स्वयं सामना करते हुए युद्ध के नक्कारे की ध्वनि के साथ स्वभावतः अयत्नज काव्यगान किया। उन्होंने अपने सामने साक्षात् शिव के तांडव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा था। क्या आज कोई अपनी कल्पना द्वारा उस कोटि के काव्य की रचना कर सकता है ? राजस्थानी भाषा के प्रत्येक दोहे में जो वीरत्व की भावना और उमंग है, वह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय है। वह स्वाभाविक, सच्ची और प्रकृत है। मेरे मित्र क्षितिमोहन सेन ने हिंदी-काव्य से मेरा परिचय कराया। आज मुझे एक नई वस्तु की जानकारी हुई है। इन उत्साहवर्धक गीतों ने मेरे समक्ष साहित्य के प्रति नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है। मैंने कई बार सुना था कि चारण अपने काव्य से वीर योद्धाओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया करते थे। आज मैंने उन सदियों पुरानी कविता का स्वयं अनुभव किया। उसमें आज भी बल और

ओज है। भारतवर्ष चारण काव्य के सुसंपादित संस्करण की प्रतीक्षा कर रहा है*।

स्व० ठाकुर किशोरसिंह बार्हस्पत्य के शब्दों में "मुगल राज्य के पतन तक या यों कहिए कि विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक वि० सं० १९१४ की क्रांति के पहिले राजपूताना और मध्यभारत के राज्यों में डिंगल (जिसमें अधिकांश चारण कवियों ने कविता रची है) का बड़ा दौरदौरा था। उस समय की डिंगल की -उन्नति की तुलना में ब्रजभाषा का नामोल्लेख करना डिंगल का अपमान करने के समान है। विक्रम की १३ वीं या १४ वीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर १९ वीं शताब्दी के अंत तक इस भाषा में अच्छे अच्छे कवि हो गए हैं। इस भाषा के साहित्य में इन छः सौ वर्षों की घटनाओं का ही उल्लेख है।"

रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, काशी-नागरीप्रचारिणी सभा और राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता आदि संस्थाओं का कार्य प्रशंसनीय है, जिन्होंने कुछ चारण कवियों के ग्रंथों का संपादन तथा चारण काव्य को प्रकाश में लाने का कार्य किया है।

हिंदी की प्रबंध तथा मुक्तक रचना की प्रणाली चारण-काव्य में भी लगभग १४वीं शताब्दी के बाद से चली आ रही है। चारण कवियों को प्रबंध-रचना और मुक्तक-रचना दोनों में प्रायः अच्छी सफलता मिली। उदाहरण के लिये महाकवि नरहरदास को लीजिए। उन्होंने अपने विशद ग्रंथ 'अवतारचरित्र' में २४ अवतारों का अत्यंत सरस और अनूठा वर्णन किया है। उक्त ग्रंथ में 'रामावतार' और 'कृष्णावतार' उच्चकोटि के प्रबंध काव्य हैं। लोकप्रियता और काव्यत्व की दृष्टि से 'अवतारचरित्र' को यदि पश्चिमीय भारत का 'रामचरितमानस' कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। तीसरा उच्च कोटि का प्रबंध काव्य माधोदास देवल विरचित 'रामरासो' है। इसको डिंगल भाषा का रामायण कहना चाहिए। रामावतार, कृष्णावतार

* माडर्न रिव्यू, दिसंबर १९३८, पृष्ठ ७१०, 'दि चारनस् आव् राजपूताना'।

और रामरासो—इन तीनों प्रबंधकाव्यों में विभिन्न मानव-दशाओं और परिस्थितियों का समावेश है और उनका वर्णन बहुत ही रसात्मक है।

चारण कवियों ने पौराणिक कथाओं के आधार पर कुछ छोटे प्रबंधकाव्य भी लिखे हैं—जैसे साँया झूला कृत 'नागदमण', लौंगीदान कृत 'ओखाहरण' (उषाहरण) और बारहठ मुरारिदासकृत 'विजैब्याव' जिसमें रुक्मिणी-हरण का सरस वर्णन है। कई चारण कवियों ने ऐतिहासिक इतिवृत्तों, या शूरवीर क्षत्रिय राजाओं तथा लोकवीरों की जीवन-गाथाओं पर भी प्रबंधकाव्य रचे हैं, जैसे सूजा वीठू कृत 'राव जैतसी रो छंद', कवि राजा करनीदान कृत 'सूरजप्रकाश', जिसमें जोधपुर के महाराजा अभयसिंहजी की युद्धवीरता आदि का वर्णन है, वीर भाण रतनू कृत 'राजरूपक', महाकवि सूर्यमल कृत 'वंशभास्कर', सोम्याण निवासी ठाकुर केसरीसिंह बारहठ कृत 'प्रतापचरित्र', 'दुर्गादास (राठौड़) चरित्र', 'राजसिंह चरित्र' और पाबूदान आशिया कृत 'पाबू चरित्र'। इनमें वीरोल्लास की बहुत ही मार्मिक और सरस व्यंजना है।

चारण कवियों ने मुक्तक पद्य हजारों की संख्या में रचे हैं। मुक्तक पद्यों में 'गीत छंद' और 'दूहा छंद' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये गीत और दोहे अनेक विषयों पर लिखे गए हैं और इनमें सभी रसों की सुंदर व्यंजना हुई है।

चारण-काव्य की आलोचना तो दूर रही, इसका अभी तक शोध और सूक्ष्म तथा गंभीर अध्ययन भी नहीं हुआ है। इस विषय पर इतनी सामग्री है कि उसके शोध और अध्ययन में अनेक शोधकों और लेखकों की आयु भी अपर्याप्त होगी। उपलब्ध सामग्री के विचार से भी यह एक बृहत् ग्रंथ का विषय है। इस निबंध में हम इस विषय का संक्षिप्त और साधारण परिचय मात्र करा सकेंगे। हम अपनी सुविधा के लिये डिंगल और पिंगल (ब्रजभाषा के) चारण-काव्य को चार मोटे विभागों में विभक्त करते हैं—(१) वीर काव्य, (२) भक्ति काव्य, (३) शृंगार या प्रेम काव्य और (४) नीति काव्य। अब

हम इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त रूप से सोदाहरण परिचय कराएँगे।

वीर काव्य

हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों ने उसकी ग्रंथराशि का विषय के अनुसार वर्गीकरण करते हुए जो काल-विभाग निर्धारित किया है, उसमें आदि काल (संवत् १०५०-१४००) का तो नामकरण ही चारणों के वीर काव्य के आधार पर किया गया है। आश्चर्य की बात है कि वे आदि काल को कहते तो चारणों का वीरगाथा काल हैं, परंतु वे एक भी चारण कवि या उसके द्वारा रची हुई वीरगाथा का यथोचित उल्लेख नहीं करते। यदि किसी इतिहासकार ने ऐसा किया भी है तो वह नहीं के बराबर है। इस काल के विवेचन में उन्होंने जिन कवियों के नाम दिए हैं, वे सिवाय एक या दो के प्रायः सब चारणेतर हैं। उन्होंने जिन ग्रंथों को आदि काल में स्थान दिया है, उनमें से 'बीसलदेव रासो' के सिवाय शायद सब संदिग्ध हैं। बीसलदेव रासो को काव्य-कला की दृष्टि से साधारण कोटि का वर्णनात्मक ग्रंथ माना गया है।

यदि कोई व्यक्ति हिंदी साहित्य का इतिहास उठाकर वीर हृदय के उदात्त भावों का आस्वादन करने के लिये उसमें से वीरगाथा काल का प्रकरण पढ़े तो उसे निराश हो जाना पड़ता है। वीरगाथा काल के प्रकरण में जिन ग्रंथों का उल्लेख किया गया है, उनसे राजस्थान के लोकवीरों और वीरांगनाओं द्वारा आर्यधर्म, आर्यगौरव और स्वतंत्रता की रक्षा के लिये किए गए साहसपूर्ण वीरोचित सदुद्योगों का कुछ भी पता नहीं चलता और न वीररस का आस्वादन होता है। अभी जो वीरगाथा काल माना जाता है, उसमें तो अपभ्रंश काल से आदि काल की ओर परिवर्तन हो रहा था और शायद वीरकाव्य का प्रारंभ मात्र ही हो पाया था। हिंदी-साहित्य के इतिहासों में वीरगाथा काल को संवत् १४०० के थोड़ा पहले ही समाप्त कर दिया जाता है। हमारे विचार से सच्चा वीरकाव्य संवत् १४०० से उपलब्ध होता है और १६वीं और १७वीं शताब्दी में वह परम उत्कर्ष को पहुँचता है।

यों अपभ्रंशकाल से आज तक वीरकाव्य की रचना हो रही है। यह सत्य है कि हर्षवर्धन के बाद हिंदू भारत का पतन हुआ और देश में मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित होने लगा। परंतु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि हिंदू जाति विनष्ट नहीं हो गई। उत्तरी भारत में मुसलमानों से पराजित होने पर तत्कालीन क्षत्रिय राजाओं ने अपनी खोई हुई शक्तियों का पुनः संगठन किया और पश्चिमीय भारत में नए राज्य स्थापित किए। जब जब वे मुसलमानों से पराजित हुए, उन्होंने अपने धर्म, संस्कृति, आचार-विचार और स्वातंत्र्य-प्रेम को नहीं छोड़ा। यवनों से पादाक्रांत उत्तरी भारत की निस्सहाय हिंदू जाति के वे ही संरक्षक थे। उन्होंने अपने नवनिर्मित राज्यों में आर्यधर्म, आर्यसंस्कृति और हिंदू आदर्शों को प्रश्रय दिया। उनका स्वाधीनता, मानमर्यादा और सभ्यता की रक्षा का यह प्रयत्न शताब्दियों तक जारी रहा*। शासक जाति होने के कारण मुसलमान राजपूतों से अधिक शक्तिशाली थे, परंतु राजपूत पूर्ण साहस के साथ मुसलमानों का सामना करते रहे। इसी समय में चारण कवियों ने अपने ओजस्वी वीर काव्य की रचना की और उसके द्वारा वीरों को अपने सदुद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रोत्साहित किया।

हमारी सम्मति में यही समय वीर काव्य की रचना के लिये उपयुक्त था। जब मुसलमानों ने बलपूर्वक हिंदुओं को मुस्लिम धर्म स्वीकार करने के लिये बाध्य किया, तो धर्मप्राण हिंदुओं में भी प्रतिघात की भावना जाग्रत हो गई और राजपूतों ही ने नहीं, ब्राह्मणों और वैश्यों तक ने शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर मुसलमानों से लोहा लेना प्रारंभ कर दिया। इस समय में प्रत्येक जाति अपनी संतान को शूरवीर बनाना चाहती थी। माताओं की यह अभिलाषा रहती थी कि उनके पुत्र ही

* द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ—'भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व'—लेखक महाराजकुमार श्री रघुवीरसिंह बी॰ ए॰, एल-एल॰ बी॰, सीतामऊ, पृ॰ ४८।

नहीं, पुत्रियाँ तक वीर बनें। हिंदुओं ने प्राणों तक का मोह भुला दिया और अपने धर्म को आघात पहुँचने पर मर मिटना कर्त्तव्य बना लिया था।* भारत के इतिहास में यह समय हिंदू जाति के पतन का ही समय नहीं था, अपितु खोए हुए स्वातंत्र्य की प्राप्ति के उद्देश्य से वह हिंदुओं की बिखरी हुई शक्तियों के पुनः संगठन का भी समय था।

इतिहासकारों की प्रायः यह धारणा रही है कि वीर काव्य के रचयिताओं ने अपने आश्रयदाता राजाओं के शौर्य और पराक्रम के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन को ही वीर काव्य की इतिश्री समझ ली। परंतु प्रत्येक कवि के लिये यह कथन सत्य नहीं है। हमारे विचार से भक्तिकाव्य की तरह वीरकाव्य के मूल में भी लोक-मंगल की भावना है। हिंदुओं ने स्वयं ईश्वर की लोकमंगलकारी या लोकरक्षक के रूप में भावना की है और उन्हें क्षात्र धर्म का संस्थापक माना है। लोक-कल्याण और लोक-रक्षा के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिये बहुत प्राचीन काल से क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा की गई है। लोक-रक्षा में तत्पर सच्चा वीर दीन-दुखियों को सतानेवाले अत्याचारियों और दुर्जनों के संहार में ही अपने शौर्य और साहस को चरितार्थ समझता है। अधर्म, अनीति और पापाचार का दमन करते हुए उसके चित्त में जो उल्लास और आत्मतुष्टि होती है वही उसका सच्चा आनंद है।

राजस्थान में स्थान-स्थान पर ऐसे अनेक लोकवीर और वीरांगनाएँ हो गई हैं, जिन्होंने चिर-प्रतिष्ठित लोकधर्म, लोकस्वातंत्र्य, शील और आत्मगौरव के महान् सिद्धांतों की रक्षा के लिये हर्ष तथा उल्लास के साथ अपने प्राण न्योछावर किए थे, जैसे महाराजा पृथ्वीराज चौहान, महारानी पद्मिनी, राठौड़ पाबू, महाराणा प्रताप, राठौड़ दुर्गादास, राव चंद्रसेन आदि। चारण कवियों ने इन वीरों के व्यक्तित्व में लोक-कल्याणकारी और लोक-रक्षक भगवान् की

---

* 'हरि रस' पृष्ठ ६ (महात्मा ईश्वरदास का जीवनचरित्र), संपादक स्व० ठाकुर किशोरसिंह बार्हस्पत्य।

कला का दर्शन किया और उनके पावन चरित्रों का अपने वीर काव्यों में चित्रण किया।

चारण कवियों के वीररसात्मक प्रबंधकाव्यों में घमासान युद्धों का बड़ा ही विशद, और वीरोल्लासपूर्ण वर्णन मिलता है। इस संबंध में सूजा वीठूकृत 'राव जैतसी रो छंद'[१], महाकवि नरहरदास कृत 'अवतारचरित्र' (रामावतार), जगा खिड़िया कृत 'राव रतनमहेस दासोत री वचनिका'[२], कविराजा करनीदान कृत 'सूरजप्रकाश'[३] और 'विड़द सिणगार', सरूपदास कृत 'पांडव-यशेंदु-चंद्रिका' और स्वामी गणेश पुरी कृत 'कर्णपर्व' आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

रामण मुगुल्ल राव जइत राय। संख रइ दइत हुयसी सँग्राम।
चढिया कटक्क त्रांबक्क चाल। वेढिसी जइत न करह विमाल।
असराल्लां ताजी ऊभगेही। पन्नगां नेस धूजई पगेहि।
नीसाण वाजि नरगा नफेरि। रउदगति डरूँडि भरहरी भेरि।
मरुआड़ि सेन हालिया मसत। साइयर जाणि फाटा सपत।
नल वाजिय तुरियाँ वाजिनास। वाजिय पयाल पाए ग्रहास।

१—इसमें बीकानेर के राव जैतसी और बाबर के द्वितीय पुत्र कामरान की लड़ाई का वर्णन है। इसकी रचना सवत् १५९१ और १५९८ के बीच में किसी समय हुई थी।

२—इसकी रचना संवत् १६५७ के लगभग हुई थी। इसमें दाराशिकोह के सहायक राव रतनसिंह (रतलाम) और शाहजहाँ के बागी पुत्रों, औरंगजेब तथा मुराद की लड़ाई का वर्णन है।

३—'सूरजप्रकाश' में जोधपुर के महाराजा अभयसिंह और अहमदाबाद के सूबेदार शेरबिलंद खाँ की लड़ाई का वर्णन है। यह लड़ाई संवत् १७८७ में हुई थी। सूरजप्रकाश के रचयिता कविराजा करनीदान ने महाराजा अभयसिंह की ओर से इस युद्ध में बहुत ही वीरता-पूर्वक भाग लिया था।

जइतसी राउ जंगमां जोल्। कांपियउ सेस कूरम्म कोल।
जड़लग्ग फरी खहखड़ई जौड़। पट छोड़ां वाजिय पुरि पौड़।
... .
रउद्रदल रहच्चई जइतराउ। तोहकि मेह वाजइ हलाउ।
वाइयां उरेवइ कूंतलेह। माहम्रउ राउ मातउ कि मेह।
धड़हड़इ ढोल धूजई धरत्ति। पड्यालगि वरसइ खेडपत्ति।
बीकाहर राजा ईंदवग्गि, खाफरां सिरै खिविया खड़ग्गि।
पतिसाह फउज फूटंति पालि। ब्रहमंड जइत गाजइ बिचालि।
अंबहर जइत बरसइ अवार। धुडुकिया मोर मुहिलग्ग धार।

—बीठू सूजा कृत 'राव जैतसी रो छंद' से।

हिंदुवाण तुरकाण करण धमसाण कड़क्के,
सजि कवाण गुणवाण दलां प्रारंभ बल् दक्खे।
खगां चढिधार हुवैविवि खंड, पड़े घर हिंदु मलच्छ प्रचंड।
रलुचलि नीर जिही रुहिराल, खलाहल जाणिकि भादवखाल।

—जगा खिड़िया कृत 'राव रतन महेसदासोत री वचनिका' से।

तदहले विदाहुय मूंछराण। जल जेम ऊफले समँद जांण।
खैड़ेच हांकिया कटक खूर। सत्रवा' काल् विकराल् सूर।
गाजिया नगारा गयण गाज। भोमिया थंबा की गया भाज।
गैमरां हैमरां थई जोड़। तरवरां भंगरां दीध तोड़।
लोहरां लंगरां भाट लाग। अघफरा गिरांतर भड़े आग।

—कविराजा करनीदान कृत 'विरद सिणगार' से।

दुवसेन बदग्गन खग्ग सुभग्गन, अग्ग तुरग्गन बग्ग लई।
मचिरंग उतंगन दंग मतंगन, सज्जि रनंगन अंग जई।
लगि.कंप लजाकन भीरु भजाकन, वाक कजाकन, हाक बढ़ी।
जिमि मेह संसबर यौं लगि अंबर, चंड अडंबर खेह चढ़ी।
फहरक्कि दिशान बड़े, बहरक्कि निशान उड़ै विथरे।
रसना अहिनायक की निसरैं कि, परा भल् होलिय की प्रसरें।

गज घंट ठनंकिय भेरि भनंकिय रंग रनंकिय कोचकरी।
पखरान भनंकिय बान सनंकिय, चाप तनंकिय ताप परी।

....

डगमग्गि शिलोच्चय शृंग डले, भग भग्गि कृपानन अग्गि झरे।
वजि खल्ल तवल्लन हल्ल उभल्लन, भूमि हमल्लन घुम्मि भरी।
— महाकवि सूर्यमल्ल कृत 'वंशभास्कर' से।

चाली नृप भीम पैं कराली नृप भीम चमू,
नक्रमुखी तोपन के चक्र चरराटे ह्वाँ।
अपनौ रु औरन को सोर न सुनात दौर,
घोरन की पोरन के घोर घरराटे ह्वाँ।
मीर हमगीरन के तीर तरराटे वर,
वीरन वपुच्छद के बाज बरराटे ह्वाँ।
हूर हरराटे घर धूज धरराटे सेस,
सीस सरराटे कोल कंध कर्राटे ह्वाँ।
— स्वामी गणेशपुरी कृत 'वीर-विनोद' (कर्णपर्व) से।

काली को सो चक्र कै फनाली को सो फूँतकार,
लोयन कपाली को सो भय कैसो है उदोति।
आयुध सुरेस को सो मानहुँ प्रलै को भानु,
कोप को कृसानु किधौं मीचहू कि मानौ सौति॥
सुयोधन दुसासन दुर्मुख दुहृदगन,
दाहिबो प्रमानि दीप्ति दूनी हूँ तै दूनी होति।
जेठ ज्वाल झाल है कि जिह्वा जमराज की सी,
जहर हलाहल के भीम की गदा की ज्योति।
—स्वरूपदास कृत 'पांडव-यशेंदु-चंद्रिका' से।

इन पद्यों में सेनाओं की तैयारी, शस्त्रास्त्रों की चमचमाहट, रण-प्रयाण की हलचल, योद्धाओं की मुठभेड़, वीरों की दिल दहलानेवाली हाँक, कायरों की भगदड़ आदि का सजीव और आलंकारिक वर्णन है।

वीरों और वीरांगनाओं के हृदयस्थ विभिन्न उदात्त भावों का विश्लेषण और काव्यमय मार्मिक चित्रण जैसा चारण कवियों ने किया

है वैसा शायद ही और कवियों ने किया हो। चारण कवियों की यह प्रवृत्ति उनकी अपनी है और प्रबंध काव्यों की अपेक्षा मुक्तक पद्यों में अधिक पाई जाती है। वीरोत्साह, वीरदर्प आदि भावों की जैसी छटा मुक्तकों में व्यंजित वीरोक्तियों में है, वैसी प्रबंध काव्यों में नहीं मिलती। जिस परिस्थिति में वीरकाव्य की रचना होती है, उसके विचार से वास्तव में मुक्तक पद्य ही वीरभावनाओं के चित्रण के लिये अधिक उपयुक्त थे। चारण कवियों ने अपने वीर काव्यों में वीरों और वीरांगनाओं को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उनके शौर्यपूर्ण जीवन की घटनाओं का संश्लिष्ट चित्रण किया है। ईश्वरदास के दोहे, आसा की झोला, झाला की कुंडलियाँ और उनकी 'सूरसतसई', दुरसा को 'विरद छिहत्तरी', कविराजा बाँकीदास की 'सूर छतीसी', 'सिंह छतीसी', 'भुरजाल भूषण' और 'वीर विनोद', महाकवि सूर्यमल की 'वीरसतसई' आदि मुक्तक रचनाएँ वीरकाव्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। इनमें से यहाँ पर कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

> लेठाकर धन आपणो, देतो रजपूताँह।
> धड़ धरती पग पागड़े, अंत्रावलि गीधाँह।
>
> —ईश्वरदास।

वीर क्षत्रिय सरदार अपने शूर वीर सामंतों को मान, सत्कार तथा धन इसलिये देता है कि वे अपने सरदार के हाथ बिक जाते हैं। उसके लिये हर समय वे अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार रहते हैं। वे काम पड़ने पर ऐसे साहस के साथ लड़ते हैं कि चाहे उनका शरीर जमीन पर लटक जाय और पैर पागड़े में रह जायँ, तो भी युद्धस्थल से मुँह नहीं मोड़ते। जब तक कि उनकी एक एक आँत न कट जाय, तब तक युद्ध करते रहते हैं। स्वामिभक्ति और शूरवीरता का यह पुनीत आदर्श है।

> मतवाला घूमै नहीं, न घायल गिरणाय।
> वाल्हु सखी ऊ देसड़ो (जठे) भड़ बापड़ा कहाय॥

देवे गोंधण दुडवड़ो, सँवली चंपै सीस।
पंख झपेटां पिउसुवै, हू बलिहार थईस॥
ग्रीव नमाड़े देखणो, करणो शत्रु सिराह।
परणंता धण पेखियो, ओछी ऊमरनाह॥
ढोल सुणंता मंगली, मूछाँ भौंह चढंत।
चँवरी ही पहचाणियों, कँवरी मरणो कंत॥
—ईश्वरदास१।

प्रथम दोहे में वीरांगना वीर देश की कैसी अनूठी भावना करती है। वह ऐसा देश चाहती है, जहाँ वीर युद्धस्थल में मरणासन्न अवस्था में भी कायर की तरह से नहीं छटपटावे, जहाँ के लोग वीररसोन्मत्त हों और जहाँ योद्धाओं को मान्यता दी जाती हो। दूसरे दोहे में वीर क्षत्राणी के लोकोत्तर दिव्य प्रेम और उज्ज्वल पातिव्रत धर्म का मार्मिक चित्रण है। एक क्षत्रिय ललना इहलोक-लीला की समाप्ति के साथ ही दांपत्य-प्रेमलीला की समाप्ति नहीं समझती। वह मृत पति के भी सुख की भावना करती है और इस बात से उसे संतोष होता है कि गोधनी उसके पति की पगचंपी करती है, सँवली सिर दबाती है। उसके पंखों की झपट से मानों उसका पति सुख की नींद सो रहा है।

माँण रखे तो पीव तज, पीव रखे तज माँण।
दो दो गयंद न बंधही, एके रंकुभ ठाँण॥
—आशा बारहठ२।

इस दोहे में आत्मसम्मान की उदात्त भावना है।

रोकै अकबर राह, ले हिंदू कूकर लखाँ।
वींभरतो वाराह, पाड़े घणा प्रतापसी॥
लंघण कर लंकाल, सादूलो भूखो सुवै।
कुलवट छोड़ कंकाल, पैंढ न देत प्रतापसी॥

१—इनका रचनाकाल लगभग संवत् १५६५ है।
२—आशा ईश्वरदास के काका थे और उनके समकालीन थे।

बड़ी विपद सह वीर, बड़ी कीत खाटी बसू।
धरम धुरंधर धीर, पेरस धिनो प्रतापसी ॥

—दुरसा आढा।

उक्त दोहों में उद्भट योद्धा महाराणा प्रताप के अपूर्व पौरुष, अदम्य सामरिक उत्साह और अतुल बल की विशद व्यंजना की गई है।

सूर न पूछै टीपणो, सुकन न देखै सूर।
मरणां नूं मंगल गिणै, समर चढ़ै मुख नूर॥
कृपण जतन धन रौ करै, कायर जीव जतन्न।
सूर जतन उणरो करै, जिणरो खाधों अन्न॥
सूर भरोसै आपरै, आप भरोसै सीह।
भिड़ दुहुँ पे भाजै नहीं, नहीं मरण रै बीह॥
जिके सूर ढीला जरद, ऊबड़ ही आरांण।
मूँछ अणी भूहां मिलै, मुँह गै राखै मांण॥

—कविराजा बाँकीदास।

कवि ने इन दोहों में शूरवीरों के आदर्शों और धर्म का फड़कता हुआ वर्णन किया है। वीर योद्धाओं को अपने बल और पराक्रम पर विश्वास होता है। युद्ध का नाम सुनते ही वीरत्व की प्रभा से उनका मुख प्रकाशित हो उठता है, मृत्यु को वे मंगल समझते हैं। वे सदा निर्भय विचरते हैं और उनकी यह धारणा होती है कि अपने धर्म और आत्मसम्मान की रक्षा के लिये मरने से स्वर्ग मिलता है। वीर क्षत्राणियाँ भी अपने मान और मर्यादा की रक्षा के लिये आग को जल समझती हुई हँसती हँसती चिता में कूद पड़ती थीं। उन वीरांगनाओं को भी यह दृढ़ विश्वास होता था कि वे स्वर्ग में जाएँगी और वहाँ अपने वीर पतियों से मिलेंगी। क्षात्रधर्म का यह उज्ज्वल आदर्श है।

इला न दैणी आँपणी, हालरियै हुलराय।
पूत सिखावै पालणैं, मरण बढाई माय॥

—महाकवि सूर्यमल मिश्रण।

वीर माता अपने पुत्र को जन्म से ही मातृभूमि की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग करने का पुनीत आदेश दे रही है।

हम महाकवि सूर्यमल की 'वीरसतसई' में से कुछ और दोहे उद्धृत करते हैं जिनमें वीर पत्नी और वीर पति के उदात्त हृदयोद्गारों की मार्मिक व्यंजना की गई है।

सहणी सबकी हूँ सखी, दो उर उलटी दाह।
दूध लजाणूं पूत अरु, वलय लजाणूं नाह ॥

वीर क्षत्राणी के आत्मसम्मान की उच्च भावना इस दोहे में व्यक्त की गई है। वह सब कुछ सह सकती है, परंतु युद्धस्थल से पुत्र की भगदड़ से अपने दूध का अपमान और पति के कायरता-पूर्ण कृत्य से अपनी चूड़ियों का अनादर उसे असह्य है।

वेनाणी ढीलो घड़ै, मोकंधरो सँनाह।
विकसै पोयण फूल ज्यूं, पर दल दीठे नाह ॥
नायण आज न मंडि पग, काल सुणीजै जंग।
धारौ लागै जो धणी, तो धण दीजै रंग ॥

राजपूत रमणी सांसारिक सुख और सौंदर्य को नाशवान् समझती है। वह तो अपने पति के कर्म-सौंदर्य पर ही मुग्ध होती है। उसके दांपत्य प्रेम का उद्देश्य यह है कि उसका पति धर्म और मान-मर्यादा की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग करे और वह उसके पीछे सती होकर स्वर्ग में उससे मिले। युद्ध की खबर सुनते ही वह नाइन से कहती है कि अभी तू मेरे पैरों पर मेंहदी न लगा। यदि मेरा पति युद्ध में वीर गति को प्राप्त हो गया तो सती होने के पहले मेंहदी लगाना उचित होगा। पहले दोहे में वह लोहार से कहती है कि वह उसके पति के कवच को जरा ढीला रखे क्योंकि शत्रुओं की सेना देखते ही उसका पति वीरोत्साह के संचार से कमल के फूल की तरह विकसित हो जायगा और उसका शरीर फूल उठेगा।

कंथ लखोजै उभय कुल, नाहँ धिरती छाँह।
मुड़िया मिलसी गींदवो, मिलै न धणरी बाँह ॥

वीर क्षत्राणी युद्ध में जाते हुए पति से कहती है कि हे पति, अपने और मेरे दोनों कुलों की ओर देखना। कहीं युद्ध से विमुख

होकर दोनों कुलों को कलंकित न करना। यदि भाग आए तो तुम्हें अपना सिर तकिए पर ही रखकर सोना पड़ेगा। तुम्हारी प्रियतमा की बाँह सिर के नीचे रखने को नहीं मिलेगी।

हम कह चुके हैं कि चारणों ने अपने वीरकाव्यों में अपने आश्रयदाता वीर राजाओं के शौर्य और पराक्रम के अतिरिक्त लोक-वीरों के चरित्रों का भी चित्रण किया है। स्थानाभाव के कारण हम एक ही उदाहरण देकर संतोष करते हैं—

॥ गीत बड़ा साणोर ॥

प्रथम नेह भीनो महाक्रोध भीनो पछै,
लाभ चमरी समर झोक लागै॥
रायकँवरी वरी जेण वागै रसिक,
वरी घड़ कँवारी तेण वागै॥ १॥
हुवे मंगल धमलदमंगल वीर हक,
रंग तूठो कमँध जंग रूठो॥
सघण वूठो कुसुम वोह जिण मोड़ सिर।
विषम उण मोड़ सिर लोह वूठो॥ २॥
करण अखियात चढियो भलो कालमी।
निवाहण वयण भुज बाँधियो नेत॥
पँवारां सदन वर माल सूँ पूजियो।
खलों किरमाल सूँ पूजियो खेत॥ ३॥
सूर बाहर चढै चारणों सुर हरी।
इतै जस जितै गिरनार आबू॥
विहँड खल खींचियों तणा दल विभाड़े,
पौढियो सेज रण भोम पाबू॥ ४॥

—कविराजा बाँकीदास।

इस गीत में बड़े रसात्मक ढंग से बतलाया है कि पाबू राठौड़ ने किस प्रकार गायों की रक्षा के लिये बड़े उत्साह के साथ अपने प्राण

अर्पण कर दिए। इस गीत में वीररस और श्रृंगाररस का अपूर्व सम्मिश्रण है।

हमने ऊपर जो उदाहरण दिए हैं, उनसे स्पष्ट है कि उनमें वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। उनमें आज भी अपूर्व बल और प्राण है। हमारे विचार से वीर काव्य के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण हिंदी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में मिलने कठिन हैं।

राष्ट्रीय भावना—

यह कहा जा चुका है कि चारणों ने आत्मसम्मान, मातृ-भूमिमान और विधर्मियों के हमलों से धर्म की रक्षा के कार्य में क्षत्रियों को प्रोत्साहन देने के लिये ही वीरकाव्य की रचना की थी। इस दृष्टि से समस्त चारण वीरकाव्य राष्ट्रीय काव्य के अंतर्गत आएगा, क्योंकि उसकी रचना के मूल में राष्ट्रीय हित की ही भावना है। भूषण को वीररस के कवि के साथ साथ राष्ट्रीय कवि भी माना जाता है। इधर आधुनिक काल में भारतेंदु हरिश्चंद्र देशप्रेम की कविता के प्रवर्तक माने जाते हैं। परंतु भूषण के भी बहुत पहले यदि किसी को विशुद्ध राष्ट्रीय भाव की कविता रचने का सौभाग्य प्राप्त है तो वह दो चारण कवियों को है—दुरसा आढा और सूरायच टापरिया। दुरसा आढा को हम हिंदी का सर्वप्रथम राष्ट्रीय कवि मानते हैं। वह अकबर का समकालीन था। उसका जन्म वि० संवत् १५९२ और देहावसान संवत् १७१२ में हुआ था। उसके समय में सूरायच टापरिया भी विद्यमान था। इसके पहले किसी चारण या चारणेतर कवि ने राष्ट्रोद्धार की दृष्टि से शायद विशुद्ध राष्ट्रीय भावना का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण नहीं किया। उसने भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम के अमर योद्धा महाराणा प्रताप की प्रशंसा में 'विरुद छिहत्तरी' नामक ग्रंथ रचा था। उसके बनाए हुए राष्ट्रीय भाव के फुटकर गीत भी मिलते हैं। उसने 'विरुद छिहत्तरी' और राष्ट्रीय भाव की अन्य कविताएँ महाराणा प्रताप को आर्यधर्म, हिंदू-संस्कृति और आत्मसम्मान की रक्षा के पुनीत कार्य में प्रोत्साहित करने के लिये लिखी थीं। दुरसा स्वयं

वीर और स्वतंत्र प्रकृति का पुरुष था और वीररस का सिद्ध कवि था। उसकी 'विरुद छिहत्तरी' के प्रत्येक दोहे में देशप्रेम और राष्ट्रीय भावना भरी है। 'विरुद छिहत्तरी' में से कुछ दोहे यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

लोपे हिंदू लाज, सगपण रोपै तुरक सूँ।
आरज कुलरी आज, पूँजी राण प्रतापसी॥

अन्य क्षत्रिय राजाओं ने हिंदुत्व, मान-मर्यादा, आर्यधर्म, आत्मगौरव एवं स्वाभिमान को तिलांजलि दे स्वार्थवश अकबर को अपनी लड़कियाँ ब्याह दी थीं। कवि उनके इस कायरतापूर्ण कृत्य के प्रति हार्दिक खिन्नता प्रकट करता है और कहता है कि महाराणा ही उस समय आर्यधर्म और आर्यजाति का संरक्षक था, उसकी अमूल्य निधि था।

अकबर घोर अँधार, ऊँघाणा हिंदू अवर।
जागे जगदातार, पोहरे राण प्रतापसी॥

अन्य हिंदू लोग अकबररूपी अँधेरी रात में नींद में सो रहे थे। परंतु उस समय स्वातंत्र्य समर का निडर सैनिक महाराणा प्रताप ही पहरा दे रहा था और हिंदू धर्म की रक्षा कर रहा था।

थिर नृप हिंदुस्थान, लातरगा मग लोभ लग।
माता भूमीमान, पूजी राण प्रतापसी॥

हिंदुस्थान के सब क्षत्रिय राजा स्वदेशाभिमान को तिलांजलि दे लोभवश अकबर के अधीन हो गए, परंतु भारत माता की मान-मर्यादा और गौरव के प्रति केवल महाराणा प्रताप पूज्य बुद्धि रखता था।

कलपै अकबर काय, गुण पुंगीधर गोडिया।
मिणधर छाबड़ मांय, पड़े न राण प्रतापसी॥

अकबर रूपी सँपेरे ने अन्य राजाओं रूपी सब साँपों को लुभा लिया, परंतु वह मणिधारी महाराणा प्रतापरूपी सर्प को नहीं पकड़ सका। इस दोहे में कितना सुंदर और उपयुक्त रूपक है।

महाराणा के स्वर्गवास का समाचार पाकर अकबर उदास और स्तब्ध हो गया। अकबर की यह दशा देखकर दरबारियों को आश्चर्य हुआ; क्योंकि महाराणा के देहावसान पर बादशाह अकबर को प्रसन्न होना चाहिए था न कि उदास। उस समय दुरसा आढ़ा ने अकबर के सामने यह छप्पय पढ़ा—।

अस लेगो अणदाग, पाघ लेगो अणनामी।
गौ आडा गवड़ाय, जिको वहतो धुर वामी॥
नवरोजे नह गयो, नगौ आतसाँ नवल्ली।
नगौ झरोखाँ हेठ, जेठ दुनियाँण दहल्ली॥
गहलोत राण जीति गयो, दसण मूँद रसणा डसी।
नीसास मूक भरिया नमण, तो मृत शाह प्रतापसी॥

भावार्थ :—कवि कहता है कि ऐ गुहिलोत राणा प्रतापसिंह, तेरी मृत्यु पर अकबर ने दाँतों के बीच जीभ दबाई और निःश्वास के साथ आँसू टपकाए, क्योंकि तूने अपने घोड़े को शाही दाग नहीं लगने दिए, अपनी पगड़ी को किसी के सामने नहीं झुकाया, तू अपना यश गवा गया, तू आजीवन अकबर से विरोध करता रहा और क्षात्रधर्म-रूपी रथ के धुरे को बाएँ कंधे से चलाता रहा। न तू नौरोज में कभी गया और न बादशाही डेरों में और न कभी शाही झरोखे के नीचे खड़ा रहा। तेरा रोब दुनिया पर गालिब था। अतएव तू मरकर भी सब तरह से जीत गया।*

इस छप्पय में दुरसा आढा ने यह आदर्श रखा है कि सांसारिक तथा मुल्की विजय या हार वास्तव में विजय या हार नहीं है। सच्ची विजय तो विधर्मी शत्रुओं का साहसपूर्ण सामना करते हुए

*—दे०—म० म० डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा रचित 'राजपूताने का इतिहास', जिसमें उन्होंने महाराणा प्रताप के वर्णन में उक्त छप्पय तथा उक्त बहुत से दोहे उद्धृत किए हैं। दे०—उनकी अलग प्रकाशित पुस्तक 'वीरशिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह', पृ० ४५-५० और पं० मोतीलाल मेनेरिया कृत 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा', पृष्ठ ४५-५०।

आत्मगौरव, मान-मर्यादा, स्वधर्म, स्वदेशाभिमान और स्वतंत्रता की रक्षा के हेतु प्राणोत्सर्ग करने में है। यही आदर्श मध्यकाल में चारणों ने अपने काव्य द्वारा क्षत्रिय-जाति को हृदयंगम कराया था और यही कारण था कि मुसलमानों द्वारा उनकी मुल्की हार होने पर भी वे स्वदेश, स्वधर्म तथा आत्मसम्मान की रक्षा के लिये शताब्दियों तक सामना करते रहे।

जो राष्ट्रीय भाव दुरसा ने अपनी कविता में रखा है, वही राष्ट्रीय भाव सूरायच टापरिया के इन सोरठों में व्यंजित है—

चंपो चीतोड़ाह पोरस-तणो-प्रतापसी।
सोरभ अकबर साह अलियल आभड़िया नहीं॥

चेला वंस छतीस, गुर घर गहलोतां-तणो।
राजा राणां रीस कहवां मत कोई करो॥

महाकवि बाँकीदास ने भी राष्ट्रीय भाव की कविता की थी। निम्नलिखित पद्य (गीत) में उन्होंने हिंदू मुस्लिम-ऐक्य की कैसी मार्मिक भावना प्रकट की है। कवि की राजनैतिक दूरदर्शितापूर्ण निर्भीक भविष्यवाणी और स्पष्टवादिता प्रशंसनीय है।

गीत

आयो अँगरेज मुलक रे ऊपर, आहँस लीधा खैंच उरा।
धणियाँ मरे न दीधी धरती, (वाँ) धणियाँ ऊभाँ गई धरा॥
महि जातां चींथातां महला, एदोय मरण तणा अवसाण।
राखोरे किंहिक रजपूती, मरदां हिंदू की मुसलमाँण॥
पत जोधाण, उदैपुर, जैपुर, पह थांरा खूटा परियाँण।
आँके गई, आवसी आँके, 'बाँके आसल' किया वखाँण॥

भक्तिकाव्य

देश में मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित होने के बाद जिन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों में भक्तिकाव्य का

आविर्भाव हुआ, उनका प्रभाव राजस्थान पर भी पड़ा और लगभग उसी समय में उन्हीं परिस्थितियों के अनुरोध से राजस्थान में भी भक्ति-काव्य का प्रादुर्भाव हुआ। चारण जाति में कई भक्त कवि हो गए हैं। उनमें से बहुत प्रसिद्ध भक्त कवि हैं—महात्मा ईश्वरदास, महाकवि नरहरदास, साँयाभूला, केशवदास, गाडण, माधवदास दधवाड़िया, पीरदान लालस, रायसिंह सोंदू, अलूकविया, रामनाथ कविया, ईश्वरदास बोगसा और ओपा आढा आदि।

चारण भक्तिकाव्य में भी पाँच भाव प्रधानतया लक्षित हैं— (१) दास्य या सेवक-सेव्य भाव, (२) वात्सल्य या जन्यजनक भाव तथा जन्य-जननी भाव, (३) सख्य या सखा भाव, (४) दांपत्य या माधुर्य या मधुर भाव जिसको पति-पत्नी भाव भी कहते हैं, (५) शांत भाव।

दास्य भाव की भक्ति में विनय और दीनता का प्राधान्य रहता है। इसके कुछ उदाहरण देखिए :—

विखमी वारलाज लिखमीवर, रखवण पण तूँ थीजरह।
ईसर अरज सुणी झट ईश्वर करण जिवायो जगत कह॥

—महात्मा ईश्वरदास।

म्हूँ वीदग किसा बागरी मूली, लागा दाँवण चवदे लोक।
हूँ हर थारे चाकर हलको, थूँ हर म्हारे मोटो थोक॥

—ओपा आढा।

साँयाभूला कृत 'नागदमण' और महाकवि नरहरदास कृत 'अवतारचरित्र' (कृष्णावतार) में वात्सल्य भाव की सुंदर व्यंजना मिलती है—

विहाणे नवे नाथ जागो वहेला, हुआ दोड़िवा धेन गोवाल हेला।
जगाड़े जसोदा जदूनाथ जागो, महीभाट खूमे नवे निद्ध माँगो।
जिमाड़े जिके भावता भोग जाँणी, परूसे जसोदा जमो चक्रपाणी।

—साँया भूला।

यशोदा प्रेमपूर्ण गीत गा गाकर कृष्ण को जगा रही हैं और प्रातःकाल ही उठकर वन जाने के पहले उन्हें कलेऊ करा रही हैं।

कहत सुभायाँ कुँवर कन्हैया, मोको माखन दैरी मइया।
गहि रह्यो कान्ह मथनियाँ गाढो, थकित जसोदा चितवत ठाढी।
लै'च वलाई मथन दे लालन, मेरे पूतहि देहूँ माखन।

—नरहरदास।

इस पद्य में कृष्ण की यशोदा से हठपूर्वक मक्खन माँगने की बालसुलभ प्रवृत्ति का मनोमुग्धकारी चित्र है। कृष्णभक्त चारण कवियों ने बालकृष्ण के लोकरंजनकारी रूप के साथ साथ कृष्ण के लोकरक्षक रूप का भी संश्लिष्ट वर्णन किया है। सखाभाव की भक्ति में भक्त मित्रवर भगवान् के समक्ष अपने सुख-दुःख, हँसी-ठट्ठा, हार-जीत और हानि-लाभ संबंधी विचार खुल्लमखुल्ला रख देता है। देखिए पीरदान और ईश्वरदास भगवान् को कैसे खरे उपालंभ-पूर्ण वचन सुनाते हैं:—

तूँ वलु हीणो निरगुण, सही छै पातिग सगलो।
तू अणरूप अकाज, निगुण अभीयागत निबलो॥
हाथ नहीं तोहरे, पाँव बाहिरो प्रमेसर॥

—पीरदान लालस।

मुकंद मयेठ पड्डदायमाँय, ठावो मेंय कीध सबे हव ठाँय।
ठगाराय ठाकर हेकण घीय, पड्होय नाँख परोहव प्रीय॥

—महात्मा ईश्वरदास।

माधुर्य भाव की कविता का उदाहरण हमें सम्मन बाई की रचनाओं में मिलता है—

वारीजी विहारिजी की साँवरी सूरत पे'।
साँवरी सूरत पे मोहिनी मूरत पे'॥
धरि निज चरनन चरन पे ठाढे भूषन सहित लखे मेरे दर पे'।
कहत 'सम्मन' स्याम सुखदायक मोमन भ्रमत चरन कमल पे'॥
इतनी कहि कें चुप होय गई मन लाग गयो मोहन में।
करि गोपिन प्रेम रिझाई-लिये 'सम्मनी' के स्याम मिले छन में।

शांत भाव की व्यंजना ओपा आढा की कविता में बड़ी मार्मिक हुई है—

परसराम भज चाख अमृत फल, जन्म सफल हुय जासी।
पाछो वले अमोलक पंछी, इण तरवर कद आसी ॥
कर जाणो तो कोई भलाई कीजै, लाह जन्म रो लीजै लोय।
पुरखाँ दो दिन तणाँ पामणा, किण सूँ मती बिगाड़ो कोय ॥

चारण कवियों ने 'पितुः शतगुणं माता' के सिद्धांत के अनुसार अपने काव्य में परमात्मा की लोकमाता (जगदंबा) के रूप में भी भावना की है। वे जगदंबा को आदिशक्ति मानते चले आ रहे हैं। चारण जाति में आदि शक्ति या देवी के कई भक्त हुए हैं और उन्होंने परमात्मा की मातृत्व की भावना करते हुए उसके प्रति अनूठे हृदयोद्‌गार प्रकट किए हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

डाबर डेडरियाह, तरवर ज्यूँ पंछी तजे।
सेवक संकरीयाह, यूँ तो शरणे ईशरी ॥

—शंकरदान आढा।

देवी नामरे रूप ब्रह्म उपाया, देवी ब्रह्मरे रूप मधु कीट जाया।
देवी मूलमंत्र रूप तूँ बडु बाला, देवी आपरी अबलीला विशाला ॥

—महात्मा ईश्वरदास।

रहस्योन्मुख-भावना—

चारण भक्त कवि भी ईश्वर के साथ अपने साक्षात्कार का वर्णन करते हुए यत्र तत्र रहस्योन्मुख हो गए हैं। इस तरह की कविता भारतीय भक्तिपद्धति के अनुसार स्पष्ट और अनुभवगम्य है और रहस्योन्मुख काव्य के अंतर्गत आती है।

ईश्वरदास के 'हरिरस' में से उद्धृत निम्न पद्यों में उस परम रहस्यमयी सत्ता का अनूठा आभास मिलता है—

सरज्जिय आप त्रिविध संसार। हुवोमभ्भ आपज रम्मण हार ॥
नमो प्रति सूरज कोटि प्रकास। नमो बनमालिय लील विलास ॥
नमो विगनान गनान विरंभ। थँभावण आभ धरा विणथंभ ॥

दिठोमेयतूज तणो दीदार। सँसारय बाहर माँहि सँसार॥
जाण्योहव ओफल छोड़ जिवन्न। पेखाँ तुवशाखायँ डालाँय पन्न॥
लख्यो हवरूप पड़दो नलाह, मुरार परत्तख बाहर माँह।
गली गयो भ्रम घुटी गई गंठ, करो हरि बाथ लगाड़िय कंठ॥

श्रृंगार या प्रेम काव्य

वीररस की कविता की तुलना में चारण कवियों ने श्रृंगाररस की कविता बहुत कम की है। 'प्रवीणसागर' नामक एक ग्रंथ प्रेम या श्रृंगार काव्य है। इसके रचयिता ६ या ७ व्यक्ति सुने जाते हैं, जिनमें अधिकांश चारण कवि थे। इसकी कविता का नमूना देखिए—

प्रेम तत्त्व सत्ता सकल, फैल रही संसार।
प्रेम सधे सोई लहे, परम जोति को पार॥

नरहरदास कृत 'अवतारचरित्र' (रामावतार) तथा माधोदास कृत 'रामरासो' में भी श्रृंगार रस की अच्छी कविता मिलती है। चारणों का श्रृंगार-या प्रेमकाव्य मर्यादाबद्ध और लोकसम्मत है। चारण कवियों ने हिंदी के रीतिकाल के साधारण कवियों की तरह नखशिख, नायिकाभेद, आदि के वर्णन में अपनी कवित्वशक्ति का अपव्यय नहीं किया है। चारण श्रृंगार काव्य में हमें जो प्रेम का स्वरूप मिलता है वह बहुत स्वाभाविक है। यह प्रेम पारिवारिक या सामाजिक जीवन में ही प्रस्फुटित हुआ है, लोकव्यवहार से विच्छिन्न और विलासमय नहीं है।

श्रृंगार रस की कविताएँ लोकगीतों में भी मिलती हैं, परंतु प्राय: उनके रचयिताओं का पता नहीं है। विप्रलंभ श्रृंगार का यह वेदनापूर्ण उदाहरण देखिए :—

जिण विन घड़ी न जाय, जमवारो किम जावसी।
विलखवड़ी रह जाय, जोगण करगो जेठवा॥
वे दी से असवार, घुड़लाँरी घूमर लियाँ।
अबला रो आधार, जको न दीसे जेठवा॥

वाला सजड़ जड़ेह, कूँची ले काने थयो।
खुलसी तो आयेह, जड़िया रहसी जेठवा।

—ऊजली।

महादान मेहड़ू की शृंगार रस की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। संयोग-शृंगार का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है :—

आबा डाबर नेह अबारू, सेणो रहो हमारे सारू।
धजराजों ने वाल बँधावो, लाडी छोटी कंठ लगावो।
म्हांका सूँस छोड़ मत जावो, बालम मेह घरे बरसावो॥

—ईश्वरदास।

हास्यरस—

चारण काव्य में हास्य रस की कविता बहुत कम उपलब्ध होती है। ऊमरदान लालस ने अपने 'ऊमर काव्य' में पाखंडो साधुओं का जहाँ जहाँ उपहास किया है, वे स्थल हास्य से ओतप्रोत हैं :—

मोडाँ दुग्गह मालिया, गावर फोगे गाल।
भोगे सुंदर भाँमणी, मुफत अरोगे माल॥
खीराँ वाँनी ज्यूँ खरा, वीराँ छाँनी व्याध।
ध्यानी पग धाराँ धरे, सीराँ कानी साध॥

इसी तरह बाँकीदास ने भी अपने ग्रंथ 'मावड़िया मिजाज' मे कायर पुरुषों का बडा उपहास किया है :—

मावड़िया अंग मोलिया, नाजुक अंग निराट।
गुपत रहे ऊमर गमै, खाय न निज वल खाट॥
विना पोटली वाणियो, विना सींग रो बैल।
कदियक आवे कोटड़ी, छिपतो-छिपतो छैल॥

नैणाँरा सोगन करै, भैमाने सुण भूत।
रामत दुलारी रमे, राँडोलीरा पूत॥
प्रगटे वाँम प्रवीण रो, नर निदाढियो नाम।
नर मावड़िया नाम त्यूँ, विना पयोधर वाम॥

करुणरस—

चारण प्रबंध काव्यों में से यथास्थान अन्य रसों के वर्णन के साथ करुण रस का भी अच्छा वर्णन मिलता है।

मुख वचन न आवत मन मलीन। दुख सागर बूडत भए दीन॥
रघुवंश तिलक लखि समय राम। उठि चले छाँड़ि घन धरा धाम॥

ज्यों परदेसी पाहुनौ, राखेहूँ न रहाई।
परजा गत संपति प्रभुत्व, छाँड़ि चले रघुराई॥

मुरझाय पर्‌यो नृप भूमि माँहि। हिय फूट्यो मनहुँ सुधि रही नाहिं।
पुरजन उदास रोवत पुकारि, नैरास भये सब पुरुष नारि।

—नरहरदास के 'अवतारचरित्र' से।

संवत् १९५६ के भयंकर दुर्भिक्ष से पीड़ित मारवाड़ के लोगों की अन्न जल और धन के अभाव से जो दयनीय दशा हुई थी उसका मर्मस्पर्शी और करुणोत्पादक वर्णन कविवर ऊमरदान लालस ने किया है—

बालक बरलावे आखा अभिलाखै। भू भू बू बू बिन भाखा नहीं भाखै॥
सूये सीरावण ब्यालू ले वाँसे। वेला ब्यालू री सीरावण साँसे॥
खावण पीवण री खासा रग खूटी। छपनै जीवण री आशा जग छूटी॥
माता पितु बेटी बेटा भल मरिया। प्यारा प्यारा नै मुसकल परहरिया॥
गद गद वाणी दृग पाणी गल लाटां, कँगला बँगला में कीना कल लाटा॥

प्रकृतिवर्णन—

हिंदी काव्य में प्रकृतिवर्णन के दो स्वरूप मिलते हैं—प्रकृति का उद्दीपन के रूप में वर्णन और उसको आलंबन मानकर संश्लिष्ट रूप से वर्णन। ये दोनों प्रकार के वर्णन चारण प्रबंध काव्यों में उपलब्ध होते हैं।

नरहरदास ने 'कृष्णावतार' में प्रकृति की छटा का विशद वर्णन किया है—

भरि छूटे वल्ली द्रुम फल भर। झरे पत्र कानन भए झंखर।
झंझा मारुत कैसी झपटें। लुवाँ बहत अति तावी लपटें।
आषाढ़ जलद अकास। तिरंग रंग प्रकास॥
संघट्ट घन नभ घोर। अरु घटा चढ़ी चहुँ ओर॥
वगपति उज्ज्वल वान। प्रतिघटा मध्य प्रमान॥
चहुँ ओर बीज चमंक। नहिं दुरत नभहि निसंक॥
मिलि जलद पवन मरोर। अति गरज धुनि चहुँ ओर॥
सरसरित दादुर मोर। झिल्ली खमोर झिंगोर॥
त्रिण गुल्म लता अंकुरित तास। वसुधा सुनील अंबर विलास॥

यह वर्णन संस्कृत कवियों की शैली पर प्रकृति को आलंबन के रूप में मानकर किया गया है। इस शैली का वर्णन हिंदी में कम मिलता है। इसी तरह का प्राकृतिक वर्णन कविवर उज्ज्वल फत्ते-कर्ण ने अपने ग्रंथ 'पत्रप्रभाकर' में किया है—

स्वभावज वृच्छलता सुम तोय। गृहो गृह बाग बिनाश्रम होय।
द्विरेफ जहाँ मधु छत्त बनाय। सकाकिल कोकिल शब्द सुनाय।
रचै शिखी ताण्डव बोले कीर। सुशीतल मंद सुगंध समीर।

प्रकृति का उद्दीपन के रूप में वर्णन हमें शिवबख्श पालावत की कविता में अच्छा मिलता है—

बादल नहिं दल विरहरा, आया मिलि अप्रमांण।
सोर सिखंड्या नहीं सखो, जोर नकीबां जांण॥
घूमी घण हररी घटा, विरछां लूमी वेल।
नरा विलूँभी नारियाँ, खरो हजूमी खेल॥

नीतिकाव्य

चारण जाति में कई कवि हुए हैं, जिन्होंने लोकनीति को अपने काव्य का विषय बनाया है। चारण नीति-कवियों में महाकवि ईश्वरदास, नरहरदास, कविराजा बाँकीदास, बारहठ स्वरूपदास, स्वामी गणेश पुरी, महाकवि सूर्यमल मिश्रण, कविवर ऊमरदान, कृपाराम खिड़िया,

श्रीकृष्णसिंह सौदा और पांचेटिया निवासी श्री शंकरदान आढा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने सदाचार, युद्धनीति, व्यसन-परित्याग, विद्वत्ता, मित्रता, दानशीलता, विनय, कर्मशीलता, संयम, राजनीति, लोकसेवा, परोपकार आदि विषयों पर भावुकता भरी सूक्तियाँ रची हैं। इन रचनाओं को पढ़ने से मालूम होता है कि इन कवियों ने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों तथा प्रत्यक्ष व्यवहारों में अपने हृदय को रखकर अमूल्य अनुभव प्राप्त किया और उसे बहुत मार्मिक ढंग से जनता के सामने रखा। कई चारण कवियों की नीति-विषयक कविताएँ सर्व-साधारण के मुँह पर हैं और लोक-जीवन पर अपने प्रभाव द्वारा काव्य की व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध कर रही हैं। हम यहाँ पर कुछ कवियों की प्रसिद्ध और लोकप्रिय रचना उदाहरणस्वरूप देते हैं :—

जण जण रै मुख जोय, नासत दुख कहणों नहीं।
काढण दे वित कोय, रीराया सूँ राजिया ॥ १ ॥
उपजावे अनुराग, कोयल मन हरपित करे।
कड़वो लागे काग, रसणा रा गुण राजिया ॥ २ ॥
पल माही कर प्यार, पल माही पलटे परा।
वे मुतलब रा यार, रहजे अलगो राजिया ॥ ३ ॥
सुख में प्रीति सवाय, दुख में मुख टाला दिये।
जेके कहसी जाय, राम कचेड़ी राजिया ॥ ४ ॥
डूँगर लागी लाय, जोवे सारोही जगत।
प्राजलती निज पाय, रती न सूझे राजिया ॥ ५ ॥

—कृपाराम खिड़िया*।

बस राखो जीभ कहै इम बाँको, कड़वा बोल्याँ प्रभत कसी।
लोह तणी तरवार न लागै, जीभ तणी तरवार जसी ॥

—कविराजा बाँकीदास।

---

* कवि ने अपने नौकर राजिया का नाम प्रत्येक सोरठे के अंत में रखा है। इसी शैली के भैरिया, किसनिया, नाथिया, मोतिया आदि के सोरठे राजस्थान में प्रचलित हैं।

अहनिंस प्रजा रच्छा अखंड। दीजिये जथा अपराध दंड॥
पीड़िये प्रजा नहि निरपराध। शुचिमान भंग करिये न साध॥
—नरहरदास (अवतारचरित्र)।

संक्षिप्त आलोचना

भावपक्ष—हम ऊपर चारण काव्य में व्यंजित विभिन्न भावों के उदाहरण दे चुके हैं। उन उदाहरणों से मालूम होगा कि चारण काव्य का भावपक्ष बड़ा ही प्रबल है। वीर काव्य तथा राष्ट्रीय काव्य के प्रसंग में हमने देखा कि चारण कवियों की पहुँच मानव-हृदय की सूक्ष्म दशाओं तक है। उन्होंने भावोत्कर्ष के लिये साधारण लोक-जीवन से सामग्री लेकर उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं आदि द्वारा सफल भावानुभूति कराई है। उदाहरण के लिये वीर-काव्य के प्रसंग में वीरदर्प का चित्रण देखिए। उनका काव्य जीवन से घुला-मिला है।

कलापक्ष—चारण काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का निर्वाह है। चारण कवियों ने डिंगल और पिंगल (ब्रजभाषा) दोनों में कविता की है। पिंगल की कविता में कहीं डिंगल शब्द भी प्रयुक्त किए गए हैं। अधिकांश चारण कवियों की रचनाओं की भाषा डिंगल है। कतिपय कवियों की वीररस की कविता की भाषा दुरूह हो गई है और शब्द बहुत तोड़े मरोड़े गए हैं। परंतु कुशल कवियों की कविता में—यथा दुरसा आढा, ईश्वरदास—डिंगल का बड़ा सरल और सरस रूप मिलता है।

डिंगल की अपनी वर्णमाला और छंद-शास्त्र है। चारण कवियों ने अधिकतर दूहा, सोरठा, गीतछंद, गाहा, पद्धरि आदि छंदों का प्रयोग किया है। कवियों को जैसा वर्णन करना अभीष्ट था, प्रायः उसी के अनुकूल उन्होंने छंद चुने हैं, जिनसे कविता का उत्कर्ष हुआ है।

चारण कवियों की कविता में अलंकार स्वभावतः आए हैं। उन्होंने अलंकारों को परिश्रम-पूर्वक पांडित्य-प्रदर्शन के लिये नहीं रखा

है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, श्लेष और यमक चारण काव्य में यथास्थान मिलते हैं। भावोत्कर्ष के लिये उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, आदि समता या सादृश्यमूलक अलंकारों का विशेष प्रयोग किया है। प्राचीन परिपाटी की चारण कविता में 'वयण सगाई' (वर्णसंबंध) नामक अलंकार सर्वत्र मिलता है। परंतु पिछले समय के कवि उसे इतना आवश्यक नहीं समझते। स्वभावत: जहाँ वयणसगाई का प्रयोग हुआ है, वहाँ तो वह सुंदर मालूम होता है, परंतु कतिपय कवियों की कविता में उसका प्रयोग श्रमसाध्य है और खटकता है।

चारण जाति के पतन के साथ उनके काव्य का पतन

वीर काव्य के प्रसंग में हम लिख चुके हैं कि मुसलमानों द्वारा अपनी मुल्की हार होने पर भी राजपूत अपने धर्म और मान-मर्यादा की रक्षा का प्रयत्न करते रहे। मुस्लिम काल में उनका यह प्रयत्न शताब्दियों तक चलता रहा। संवत् १९१४ के बाद भारत में अँगरेजी राज्य पूर्णतया स्थापित हो गया और राजपूत राजाओं ने अँगरेजों से संधियाँ कर लीं। धीरे धीरे पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से वे पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँग गए। अब वीरोत्साह और शौर्य के प्रदर्शन के लिये क्षेत्र ही नहीं रह गया। राजपूत जाति अब अपने पूर्वजों की गौरव-गाथा पर अभिमान करने में ही संतोष करने लगी और स्वयं अकर्मण्य हो गई। राजपूत जाति के साथ चारण जाति का भी पतन हो गया। उसने भी अपने प्राचीन उज्ज्वल आदर्शों को भुला दिया। राजपूत प्राय: कोरी खुशामद से भरी कविता पसंद करने लगे और अनेक चारण कवि उन्हें कोरे प्रशंसात्मक काव्य सुनाने लगे। इस प्रकार काव्य का दुरुपयोग होने लगा। इस प्रकार की कविता तुकबंदी मात्र है। स्व० ठा० किशोरसिंह बार्हस्पत्य ऐसी तुकबंदी को धृष्ट काव्य कहते थे। उन्होंने चारण काव्य के पतन पर लिखा है—"आज अपने देश या हिंदू जाति के हित के लिये अपनी बलि देनेवाला एक भी महाराणा प्रताप या शिवाजी दिखाई नहीं देता, जिसकी

प्रशंसा कर हम अपने को कवि कहलाना सार्थक समझें। अब तो ओदी में बैठकर राईफलों द्वारा शेर (या) सूअर का शिकार करनेवाले वीरों की गणना में समझे जाते हैं और चारण कवियों से अपनी वीरता के झूठे काव्य सुन पाइयों में उनको प्रसन्न भी करते हैं। एक रुपया देकर चारण कवियों द्वारा कर्ण कहलाना आजकल बहुत सुलभ है। चोरों, लुटेरों, व्याभिचारियों आदि की प्रशंसा हमने अर्थलोलुप चारण कवियों से सुनी है।"*

पिछले बीस पच्चीस वर्षों में चारण जाति में धीरे धीरे आधुनिक शिक्षा का प्रचार हुआ है और उसमें स्वाभिमान की फिर जागति हुई है। चारण जाति के नेताओं ने अ० भा० चारण सम्मेलन की स्थापना कर उसका फिर से संगठन करने का प्रयत्न किया है और चारण कवियों को सच्ची कविता की ओर झुकाया है। अब व्यक्तिगत कविता का जमाना न रहा। चारण जाति में जो अब इने गिने कवि हैं, वे देश-कालानुसार लोकजीवन-संबंधी विषयों पर कविता करते हैं। खेद है कि अनुकूल परिस्थिति (राज्याश्रय आदि) के अभाव से अब धीरे धीरे चारण जाति में वह परंपरागत काव्य-प्रतिभा प्राय: नष्ट होती जा रही है।

हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों द्वारा उपेक्षा—

प्राय: हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों ने चारण कवियों को अपने ग्रंथों में स्थान नहीं दिया है। हमारे विचार से इस उपेक्षा का कारण चारण काव्य के यथेष्ट परिचय का न होना ही नहीं है। शायद हिंदी-साहित्य के इतिहास के लिखने की शैली ही सदोष है। हिंदी के ग्रंथों के विषयानुसार वर्गीकरण और काल-विभाजन में इतिहासकारों ने हिंदी-साहित्य-संबंधी कितनी ही महत्व-पूर्ण बातें भुला दी हैं।

---

* दे०—'चारण', खंड १, अंक ७-८, पृष्ठ १७७।

हिंदी साहित्य के इतिहासकारों की हिंदी की विभाषाओं और उसके साहित्यों के प्रति कोई निर्धारित नीति नहीं है। वे इतना तो लिखते हैं कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से डिंगल (राजस्थानी), अवधी ब्रजभाषा आदि हिंदी की विभाषाएँ हैं। परंतु उनके साहित्य की ओर वे समान रूप से ध्यान नहीं देते। यदि हिंदी की विभाषाओं के साहित्य में समान प्रवृत्तियाँ हैं, तो इससे भारत का सांस्कृतिक ऐक्य ही सिद्ध होता है। इस बात पर यदि ध्यान दिया जाता तो डिंगल साहित्य को हिंदी के इतिहास में भुलाया न जाता।

डिंगल भाषा के ऐसे कई प्रसिद्ध कवि हुए हैं, जिनका काव्य के एक से अधिक क्षेत्र पर अधिकार था, जैसे महात्मा ईश्वरदास, महाकवि नरहरदास आदि। यह सत्य है कि परिस्थितियाँ साहित्य का निर्माण करती हैं, परंतु साहित्य में भी ऐसी शक्ति होती है कि वह देश या राष्ट्र का निर्माण करता है। हम मानते हैं कि डिंगल के ग्रंथ प्रायः अप्रकाशित हैं, अतः हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों को वे उपलब्ध न हुए होंगे और उनका शोध अभी होना है। परंतु प्रकाशित ग्रंथों पर तो उन्हें अवश्य यथेष्ट विचार करना उचित था। हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों से हम प्रार्थना करते हैं कि वे हिंदी की विभाषाओं के साहित्यों का गवेषणापूर्ण अध्ययन करें और जिन निष्कर्षों पर पहुँचें उन्हें इतिहास में यथोचित स्थान दें।

चयन

छत्रसाल-दशक का अनस्तित्व

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, एम्० ए०, साहित्यरत्न का उपर्युक्त विषय पर एक महत्त्वपूर्ण लेख 'सुधा', वर्ष १४, खंड १, संख्या २ में प्रकाशित हुआ है। वह यहाँ उद्धृत है :—

'भूषण' कवि के नाम पर इस समय तीन पुस्तकें प्रचलित हैं—(१) 'शिवराज-भूषण', (२) 'शिवा-बावनी' और (३) 'छत्रसाल-दशक'। इनमें से 'शिवराज-भूषण' को छोड़कर शेष दोनों पुस्तकें 'भूषण' द्वारा संगृहीत नहीं हैं। यही नहीं, इन दोनों पुस्तकों का अस्तित्व तक प्राचीन काल में न था। ये संग्रह बहुत आधुनिक हैं, और अत्यंत भ्रमपूर्ण। 'शिवा-बावनी' के संबंध में मैं अपने विचार अपनी उक्त पुस्तक की भूमिका में बहुत पहले व्यक्त कर चुका हूँ। आज 'छत्रसाल-दशक' के संबंध में हिंदी-जगत् के समक्ष कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। इस संग्रह का प्रचार कब से है, यह किस प्रकार बना, इन्हीं बातों का विचार इस लेख में किया जायगा। इसके सामने आ जाने पर हिंदी-संसार को पता चल जायगा कि इन संग्रहों पर विश्वास करके 'भूषण' के काल-निर्णय की जो बड़ी बड़ी इमारतें खड़ी की गई हैं, उनकी नींव कितनी कच्ची और उथली है।

'छत्रसाल-दशक' का संग्रह सबसे पहले सन् १८६० में भाटिया बुकसेलर्स गोवर्धनदास-लक्ष्मीदास (बंबई) ने किया। 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक' दोनों ही उनके यहाँ से सन् १८६० में सबसे पहले प्रकाशित हुए हैं, और इन दोनों संग्रहों के लिये उत्तरदायी उक्त प्रकाशक ही हैं। 'शिवा-बावनी' का संग्रह तो कुछ भाटों की सुनी-सुनाई कविता और कुछ प्राचीन संग्रहों में मिलनेवाली 'भूषण' की कविता का संकलन करके किया गया है। 'बावनी' नाम रखने के

लिये उन्होंने 'भूषण' और शिवाजी के संबंध में प्रचलित किंवदंती को आधार बनाया है। पर 'छत्रसाल-दशक' के लिये इनके पास कोई आधार ही न था। उन्हें दो संग्रहों में कुछ छंद छत्रसाल की प्रशंसा के मिले, जिन्हें उन्होंने 'भूषण' की रचना समझकर, 'दशक' नाम जोड़कर प्रकाशित कर दिया। इनमें से कुछ छंद 'भूषण' के अवश्य हैं, पर सभी उनके नहीं। यही नहीं, कुछ छंद बूँदी के 'छत्रसाल' की प्रशंसा के भी इस संग्रह में संगृहीत हैं। उक्त प्रकाशकों को इतिहास की बातें ज्ञात न थीं, अतः उन्होंने भूल से ऐसा किया। हिंदी-संसार ने इसकी कोई छान-बीन नहीं की, और वह संग्रह ज्यों का त्यों बहुत दिनों तक चलता रहा। अब लोगों ने उसमें परिवर्तन करना आरंभ किया है, पर 'छत्रसाल-दशक' नाम अब तक नहीं हटाया गया। किंवदंती के आधार पर 'शिवा-बावनी' नाम रखकर 'भूषण' के ५२ छंदों का संग्रह चाहे होता भी रहे, पर 'छत्रसाल-दशक' नाम तो शीघ्र ही हट जाना चाहिए। 'बावनी' और 'दशक' का प्राचीन काल में कोई अस्तित्व न था, इसका सबसे पक्का प्रमाण यह है कि इन दोनों पुस्तकों की न तो कोई हस्तलिखित प्रति आज तक मिली, और न सन् १८६० के पूर्व इनका किसी पुस्तक में नामोल्लेख ही हुआ।

जब दक्षिण में शिवाजी-संबंधी अन्वेषण पर ऐतिहासिकों का विशेष ध्यान गया, तब उन्होंने शिवाजी के दरबारी कवि 'भूषण' की कविता की खोज भी आरंभ की। प्रकाशकों ने 'भूषण' की रचना की माँग देखकर चटपट उक्त दो संग्रह प्रकाशित कर दिए। 'छत्रसाल-दशक' के छंद दो पुस्तकों से लिए गए—'शृंगार-संग्रह' और 'शिवसिंह-सरोज' से। काशी के प्रसिद्ध कवि और टीकाकार सरदार कवि ने, सं० १६०५ में, 'शृंगार-संग्रह' समाप्त किया। वह नवलकिशोर-प्रेस से प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि इसका नाम 'शृंगार-संग्रह' है, और इसमें नायिका-भेद की कविता संगृहीत है, तथापि अंत में थोड़ी सी कविता 'मानवी कवित्त'-शीर्षक के अंतर्गत वीर-रस की भी दी गई है। इसमें विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न राजाओं की प्रशस्ति के छंद रखे गए हैं।

'भूषण' की भी पर्याप्त रचना इसमें दी गई है। छत्रसाल की प्रशंसा में कई कवियों के छंद भी इसमें दिए गए हैं। इस संग्रह में छत्रसाल की प्रशंसा के कुछ छंद ऐसे भी हैं, जिनमें कवि का नाम नहीं दिया गया है। प्रकाशकों ने इस संग्रह से उन सब छंदों को चुन लिया, जिनमें 'भूषण' का नाम आया है, और छत्रसाल की कीर्ति वर्णित है, तथा जिनमें किसी कवि का नाम तो नहीं आया, पर छत्रसाल की प्रशंसा की गई है, और उनका नाम भी छंद में आ गया है। इन दूसरे प्रकार के छंदों का संग्रह करने में उन्होंने महेवा और बूँदी वाले छत्रसालों का भेद न जानने के कारण कोई विचार नहीं रखा। परिणाम यह हुआ कि 'छत्रसाल-दशक' में केवल दूसरे कवियों के छंद ही 'भूषण' के नाम पर नहीं रख दिए गए, बल्कि दूसरे छत्रसाल की प्रशस्ति के छंद भी उन्हीं के नाम पर रखे गए। 'शृंगार-संग्रह' में ऐसे केवल सात ही छंद हैं। शेष तीन छंद (कवित्त) 'शिवसिंह-सरोज' में, 'भूषण' की रचना में, दिए हुए रखे गए हैं। इस प्रकार कुल दस ही कवित्त प्रकाशकों को मिले, जिन्हें उन्होंने 'भूषण' का समझा। स्वर्गीय गोविंद गिल्लाभाई के पूछने पर उक्त प्रकाशकों ने बतलाया था कि 'छत्रसाल-दशक' का संग्रह हमने इन्हीं दोनों पुस्तकों—'शृंगार-संग्रह' और 'शिवसिंह-सरोज'—से किया है। इस बात का उल्लेख भाईजी ने अपने गुजराती 'शिवराज-शतक' की भूमिका में किया है। 'शिवसिंह-सरोज' में 'भूषण'-कृत छत्रसाल की प्रशंसा के कवित्तों के अतिरिक्त दो दोहे भी थे, उन्हें भी 'छत्रसाल-दशक' के आरंभ में रख दिया गया है। इस प्रकार उक्त 'दशक' में दो दोहे और दस कवित्त हैं। कुल बारहों छंदों के अनुसार 'छत्रसाल-द्वादशी' या 'छत्रसाल-बारही' नाम न रखकर उन्होंने कवित्तों को प्रमुख मानकर 'छत्रसाल-दशक' नाम ही रखा है। इसी 'छत्रसाल-दशक' को हिंदी-संसार 'भूषण'-कृत संग्रह माने बैठा है!

'छत्रसाल-दशक' के आरंभ में जो दो दोहे रखे गए हैं, वे ये हैं—

इक हाड़ा बूँदी धनी, मरद गहे करवाल;
सालत औरँगजेब के, वे दोनों छतसाल।

ये देखौ छत्तापता, वे देखौ छतसाल;
ये दिल्ली की ढाल, ये दिल्ली ढाहनवाल।
(शिवसिंह-सरोज)

'मरद गहे करबाल' के स्थान पर 'मरद महेवावाल' पाठ भी मिलता है, जो अधिक शुद्ध है।

'छत्रसाल-दशक' का पहला छंद 'शृंगार-संग्रह' के पृष्ठ २६२ पर इस प्रकार दिया हुआ है—

चले चंदबान, घनबान औ' कुहूकबान,
चलत कमान, धूम आसमान छ्वै रहो;
चलीं जमडाढ़ैं, बाढ़वारैं तरवारैं जहाँ,
लोह आँच जेठ को तरनि भान (?) व्वै रहो।
ऐसे समै फौजैं बिचलाई छत्रसालसिंह,
अरि के चलाए पाय बीर-रस च्वै रहो,
हय चले, हाथी चले, संग छाँड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली मैं अचल हाड़ा ह्वै रहो।

इस छंद में बूँदी के हाड़ा छत्रसाल की युद्ध-वीरता का वर्णन है। इसमें किसी कवि का नाम नहीं। प्रकाशकों ने भ्रम से इसे 'भूषण' का और महेवावाले छत्रसाल की प्रशंसा में समझकर संग्रह कर दिया है। यदि प्रकाशकों ने ध्यान से 'शिवसिंह-सरोज' की छान-[illegible] की होती तो उन्हें यही छंद 'सरोज' में दूसरे कवि के नाम [illegible] मिल गया होता। 'सरोज' के पृष्ठ २४७ पर यही छंद 'मुकुंदसिंह' कवि के नाम पर इस प्रकार दिया हुआ है—

छूटैं चंद्रबान, भले बान औ' कुहूकबान,
छूटत कमान जिमी आसमान छ्वै रह्यो;
छूटैं ऊँटनालैं, जमनालैं, हाथनालैं छूटैं,
तेगन को तेज सो तरनि जिमि व्वै रह्यो।
ऐसे हाथ हाथन चलाइ कै 'मुकुंदसिंह',
अरि के चलाइ पाइ बीर-रस च्वै रह्यो;

हय चले, हाथी चले, संग छोड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचल में अचल हाड़ा ह्वै रह्यो।

मुकुंदसिंह का परिचय 'सरोज' में इस प्रकार दिया गया है—

"मुकुंदसिंह हाड़ा, महाराजा कोटा, सं० १६३५ में उ०।

"यह महाराजा शाहजहाँ बादशाह के बड़े सहायक और कविता में महानिपुण व कवि-कोविदों के चाहक थे।"

'दशक' का दूसरा छंद लीजिए। यह 'शृंगार-संग्रह' के पृष्ठ २६५ पर इस प्रकार मिलता है—

दारा साहि औरँग जुरे हैं दोऊ दिल्लीदल,
एकै गए भाजि, एकै गए रुँधि चाल में;
बाजी कर कोऊ दगाबाजी करि राखो जिहि,
कैसहूँ प्रकार प्रान बचत न काल में।
हाथी तें उतरि हाड़ा जूझ्यो लोह-लंगर दै,
एती लाज कामें, जेती लाज छत्रसाल में;
तन तरवारिन में, मन परमेस्वर में,
प्रन स्वामि-कारज में, माथे हर-माल में।

तीसरे चरण का उत्तरार्ध यों भी मिलता है—'एती लाज कामें, जेती '**लाल**' छत्रसाल में'। 'शृंगार-संग्रह' के ऊपर उद्धृत छंद में किसी कवि का नाम नहीं है, पर छत्रसाल नाम है। प्रकाशकों ने इसे भी 'भूषण' का मान लिया है। पर यही छंद 'सरोज' के पृष्ठ ३०२ पर 'लाल' कवि के नाम पर इस प्रकार दिया हुआ है—

दारा और औरँगलरे हैं दोऊ दिल्ली बीच,
एकै भाजि गए, एकै मारे गए चाल में;
बाजी दगाबाजी करि जीवन न राखत हैं,
जीवन बचाए ऐसे महाप्रलैकाल में।
हाथी तें उतरि **हाड़ा** लर्‌यो हथियार लै कै,
कहै **लाल** बीरता बिराजै **छत्रसाल** में;

तन तरवारिन में, मन परमेस्वर में,
पन स्वामि-कारज में, माथो हर-माल में।

इन 'लाल' कवि का परिचय 'सरोज' में इस प्रकार दिया गया है-

" १ लाल कवि प्राचीन (१), सं० १७३८ में उ०।

" यह कवि राजा छत्रसाल हाड़ा कोटा-बूँदीवाले के यहाँ थे। जिस समय दाराशिकोह और औरंगजेब फतूहा में लड़े हैं; और छत्रसाल मारे गए, उस समय यह कवि उस युद्ध में मौजूद थे। इनका बनाया हुआ 'विष्णु-विलास' नामक ग्रंथ नायिका-भेद का अति विचित्र है।" (पृष्ठ ४८६)

इस प्रकार प्रमाणित हो जाता है कि उक्त छंद 'भूषण' का नहीं, 'लाल' कवि का है।

'दशक' का तीसरा छंद 'शृंगार-संग्रह' के पृष्ठ २६६ पर इस प्रकार मिलता है—

निकसत म्यान तें मयूखैं प्रलै-भानु की सी,
फारैं तम-तोम से गयंदन के जाल को;
लाल छौनिपाल छत्रसाल रनरंगी मीर,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका सी किलकि कलेवा देति काल को;
लागति लपकि कंठ बैरिन के बाडव सी,
रुद्र को रिझावै दै दै मुंडन की माल को।

यद्यपि इस छंद में कवि का नाम 'लाल' पड़ा हुआ है, पर प्रकाशकों ने उसे नहीं समझा, और 'भूषण' का छंद मानकर इसे 'दशक' में रख दिया। मिश्रबंधुओं ने भी 'लाल' पर यह टिप्पणी दी है— "छंद-नंबर ३ में उन्होंने 'छत्रसाल' को 'लाल छितिपाल' क्या ही ठीक कहा है! क्योंकि उन महाराज की अवस्था उस समय २४-२५ साल की थी।"

यह 'लाल कवि' बूँदीवाले लाल कवि से भिन्न हैं। इन्होंने महेवावाले छत्रसाल का जीवन-वृत्त अपने 'छत्रप्रकाश' नामक ग्रंथ में विस्तार के साथ दिया है।

'दशक' का चौथा छंद 'शिवसिंह-सरोज' में 'भूषण' के नाम पर दिया गया है। वह इस प्रकार है—

भुज-भुजगेस की वैसंगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह 'दारुन दलन के;
बखतर, पाखरन बीच धँसि जाति मीन,
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के।
रैयाराय चंपति के छत्रसाल महाराज,
'भूषन' सकत को बखानि यो बलन के;
पच्छी परछीने ऐसे परे पर छीने वीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के।

'भूषण' के नाम पर जितने छंद मिलते हैं, उनमें महेवावाले छत्रसाल का कुछ न कुछ अभिज्ञान स्पष्ट मिलता है। कहीं 'चंपति' के, कहीं 'महेवा-महिपाल', कहीं 'बुंदेला' कहकर उन्होंने उन्हें व्यक्त किया है।

'दशक' का पाँचवाँ कवित्त 'शृंगार-संग्रह' के पृष्ठ २६८ पर इस प्रकार मिलता है—

रैयाराव चंपति को चढो छत्रसालसिंह,
'**भूषन**' भनत गजराज जोम जमकैं,
भादों की घटा सी उठीं गरदैं गगन घेरैं,
सेलैं समसेरैं फेरैं दामिनी सी दमकैं।
खान उमराउन के आन राजा-राउन के,
सुनि सुनि उर लागैं घन कैसी घमकैं;
बैहर बगारन की, अरि के अगारन की,
नागवाँ तगारन नगारन की धमकैं।

संयोग से 'छत्रसाल' की प्रशंसा का 'भूषण'-कृत जो छंद 'शृंगार-संग्रह' में है, वह सरोज में, 'भूषण' के प्रकरण में नहीं है, और जो 'सरोज' में है, वह 'संग्रह' में नहीं।

छठा कवित्त 'शृंगार-संग्रह' के पृष्ठ २६१ पर इस प्रकार दिया गया है—

> अत्र गहि **छत्रसाल** खिजो खेत बेतवे के,
> उत तें पठानन हूँ कीनि झुकि झपटैं;
> हिम्मत बड़ी के गबड़ी के खिलवारन लौं,
> देत से हजारन हजार वार लपटैं।
> '**भूषन**' भनत काली हुलसी असीसन को,
> सीसन को ईस की जमाव जोर जपटैं;
> समद लौं समद की सेना पै बुँदेलन की,
> सेलैं समसेरैं भईं बाड़व की लपटैं।

यह छंद केवल 'शृंगार-संग्रह' में है, 'सरोज' में नहीं। सातवाँ छंद 'शृंगार-संग्रह' के पृष्ठ २६२ पर इस प्रकार दिया गया है—

> हैबर हरट्ट साज गैबर गरट्ट सम,
> पैदर के ठट्ट फौज जुरी तुरकाने की;
> '**भूषन**' भनत **राव चंपति को छत्रसाल**,
> रुप्यौ रन ख्याल.ह्वै कै ढाल हिंदुवाने की।
> कैयक करोर एक बार बैरी वार मारे,
> रंजक दगनि मानो अगिनि रिसाने की;
> सेर अफगन सेन सगर-सुवन लगि,
> कपिल-सराप लौं तराप तोपखाने की।

यह कवित्त भी केवल 'संग्रह' में है, 'सरोज' में नहीं। आठवाँ छंद 'शिवसिंह-सरोज' के पृष्ठ २४० पर इस प्रकार दिया गया है—

> चाकचक चमू के अचाकचक चहूँ ओर,
> चाक सी फिरति धाक **चंपति के लाल की**;

'भूषन' भनत बादसाही मारि जेर करी,
काहू उमराव ना करेरी करवाल की।
सुनि सुनि रीति बिरदैत के बड़प्पन की,
थप्पन-उथप्पन की रीति **छत्रसाल** की;
जंग जीति लेवा ते वै ह्वै कै दामदेवा भूप,
सेवा लागे करन **महेवा-महिपाल** की।

यह कवित्त 'संग्रह' में नहीं है। 'दशक' का नवाँ कवित्त 'शृंगार-संग्रह' के पृष्ठ २७२ पर इस प्रकार मिलता है—

कीबे के समान प्रभु ढूँढ़ देख्यो आन पै,
निदान दान युद्ध में न कोऊ ठहरात हैं;
पंचम प्रचंड भुजदंड को बखान सुनि,
भाजिबे को पच्छी लौं पठान थहरात हैं।
संका मानि सूखत अमीर दिल्लीवारे जब,
चंपति के नंद के नगारे घहरात हैं;
चहूँ ओर तकित चकत्ता के दलन पर,
छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं।

इस कवित्त में 'भूषण' का नाम नहीं आया है। है यह उन्हीं छत्रसाल की प्रशस्ति में, जिनकी प्रशंसा 'भूषण' ने की है। पर यही छंद 'शिवसिंह-सरोज' के पृष्ठ १६० पर 'पंचम कवि प्राचीन' के नाम पर इस प्रकार मिलता है—

कीबे को समान ढूँढ़ि देखे प्रभु आन ये,
निदान दान जूझ में न कोऊ ठहरात हैं;
'पंचम' प्रचंड भुजदंड के बखान सुनि,
भागिबे को पच्छी लौं पठान थहरात हैं।
संका मानि काँपत अमीर दिल्लीवाले जब,
चंपति के नंद के नगारे घहरात हैं;
चहूँ ओर कचा के चकत्ता दल ऊपर सु,
छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं।

'पंचम' कवि का परिचय 'सरोज' में यों दिया गया है—

"पंचम कवि प्राचीन (१) वंदीजन बुंदेलखंडी, सन् १७३५ में उ० । महाराज छत्रसाल बुंदेला के यहाँ थे ।"

इस छंद में 'भूषण' का नाम नहीं है, फिर भी यह भूषण का माना गया है, और 'पंचम' शब्द की विधि यों मिलाई गई है—"पंचम-सिंह बुंदेलों के पूर्व-पुरुषा थे। महाराज बुंदेल (जो बुंदेलों के पुरुषा थे) इनके पुत्र थे। पंचमसिंह बड़े प्रतापी और देवी के भक्त थे।"—मिश्रबंधु।

'छत्रसाल दशक' का दसवाँ कवित्त साहूजी और छत्रसाल, दोनों की प्रशंसा करता है, और 'भूषण' का ही बनाया हुआ है। 'छत्रसाल-दशक' में उचित यह होता कि केवल छत्रसाल की ही स्वतंत्र प्रशंसा के छंद रखे जाते, पर प्रकाशकों ने इसका विचार न करके 'दशक' की पूर्ति करने के लिये उसे भी रख दिया। यह कवित्त 'शिवसिंह-सरोज' में यों मिलता है—

राजत अखंड तेज, छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद दिग्गजन हिए साल को;
जाके परताप सों मलिन आफताब होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।
साजि साजि गजतुरी कोतल कतारि दीन्हें,
'भूषन' भनत ऐसो दीन-प्रतिपाल को;
और राव-राजा एक मन में न लाऊँ अब,
साहू को सराहौं की सराहौं **छत्रसाल** को।

इस प्रकार 'दशक' में आए केवल ६ कवित्त 'भूषण' के हैं, जिनमें से एक कवित्त छत्रसाल की स्वतंत्र प्रशंसा करनेवाला नहीं है। शेष चार कवित्त अन्य कवियों के हैं। उनमें भूषण का नाम कहीं नहीं, पर जो कवित्त 'भूषण' के हैं उनमें उनका नाम आया है। जिनमें उनका नाम नहीं, वे दूसरे कवियों के नाम पर मिलते हैं। आरंभ के दो दोहे भी संदिग्ध हैं। इस प्रकार की अप्रामाणिक पुस्तक हिंदी-संसार

में 'भूषण' के नाम पर चलती रहे, यह कितने दु:ख की बात है! असल में 'भूषण' के नाम पर किया हुआ यह वैसा ही संग्रह है, जैसे संग्रह तुलसी, सूर आदि के नाम पर आज दिन निकल रहे हैं। तुलसी, सूर आदि के संग्रह तो कुछ ठिकाने के हैं, पर 'भूषण' का यह संग्रह भ्रांतियों से भरा है। हिंदी से अनभिज्ञ प्रकाशक जो भ्रांति कर बैठे, उसे हिंदी-संसार धोखे में पड़कर बहुत दिनों तक मानता चला जाय, यह बहुत भद्दी बात है। अतः अब 'भूषण'-ग्रंथावलियों और 'साहित्य के इतिहासों' से 'छत्रसाल-दशक' का नाम हटना चाहिए, क्योंकि सन् १८६० के पूर्व इसका कोई अस्तित्व नहीं था।

पृथिवी-पुत्र

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का उपर्युक्त शीर्षक से एक उपादेय लेख 'जीवन-साहित्य' वर्ष १ अं० १, में प्रकाशित हुआ है। वह यहाँ उद्धृत है —

हिंदी के साहित्यसेवियों को पृथिवी-पुत्र बनना चाहिए। वे सच्चे हृदय से यह कह और अनुभव कर सकें—**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः** (अथर्ववेद) "यह भूमि माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ।" लेखकों में यह ज्ञान न होगा तो उनके साहित्य की जड़ें मजबूत नहीं होंगी, आकाशबेल की तरह वे हवा में तैरती रहेंगी। विलायती विचारों को मस्तिष्क में भरकर उन्हें अघपके ही बाहर उँडेल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिर-जीवन नहीं पा सकता। हिंदी-साहित्यकारों को अपनी खुराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से प्राप्त करनी चाहिए। लेखक जिस प्रकार के जीवनरस को चूसकर बढ़ता है, उसी प्रकार की हरियाली उसके साहित्य में भी देखने को मिलेगी। आज लोक और लेखक के बीच में गहरी खाई बन गई है, उसको किस तरह पाटना चाहिए, इस पर सब साहित्यकारों को पृथक् पृथक् और संघ में बैठकर विचार करना आवश्यक है।

प्राकृतिक भूमि

हिंदी-लेखक को सबसे पहले भारत-भूमि के भौतिक रूप की शरण में जाना चाहिए। राष्ट्र का भौतिक रूप आँख के सामने है। लाखों वर्षों से इसकी सत्ता एक सी चली आई है। राष्ट्र की भूमि के साथ साक्षात् परिचय बढ़ाना आवश्यक है। एक एक प्रदेश को लेकर वहाँ की पृथिवी के भौतिक रूप का सांगोपांग अध्ययन हिंदी-लेखकों में बढ़ना चाहिए। यह देश बहुत विशाल है। यहाँ देखने और प्रशंसा करने के लिये अतुल सामग्री है। उसका ज्ञान करते हुए हमें एक शताब्दी लग जायगी। पुराणों के महामना लेखकों ने भारत के एक एक सरोवर, कुंड, नदी और झरने से साक्षात् परिचय प्राप्त किया, उसका नामकरण किया और उसको देवत्व प्रदान कर उसकी प्रशंसा में माहात्म्य बनाया। हिमवंत और विंध्य जैसे पर्वतों के रम्य प्रदेश हमारे अर्वाचीन लेखकों के सुसंस्कृत माहात्म्य-गान की प्रतीक्षा कर रहे हैं। देश के पर्वत, उनकी ऊँची चोटियाँ, पठार और घाटियाँ सब हिंदी के लेखकों की लेखनी का वरदान पाने की बाट देख रही हैं। देश की नदियाँ, वृक्ष और वनस्पति, ओषधि और पुष्प, फल और मूल, तृण और लताएँ सब पृथिवी के पुत्र हैं। लेखक उनका सहोदर है। लेखक को इस विशाल जगत् में प्रवेश करके अपने परिचय का क्षेत्र बढ़ाना चाहिए। चरक और सुश्रुत ने ओषधियों के नामकरण का जो मनोरम अध्याय शुरू किया था, उसका सच्चा उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिये हिंदी के लेखक को बहुत परिश्रम करने की जरूरत है। और सब से अधिक आवश्यक है एक नया दृष्टिकोण, जिसके बिना साहित्य में नवीन प्रेरणा की गंगा का अवतरण नहीं हुआ करता। हिंदी के लेखकों को वनों में जाकर देश के वनचरों के साथ संबंध बढ़ाना है। वन्य पशु-पक्षी सभी उसके सगोती हैं, वे भी तो पृथिवी-पुत्र हैं। अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त के ऋषि की दृष्टि, जो कुछ पृथिवी से जन्मा है सबको पूजा के भाव से देखती है :

हे पृथिवी, जो तेरे वृक्ष, वनस्पति, शेर, बाघ आदि हिंस्र जंतु, यहाँ तक कि साँप और बिच्छू भी हैं, वे भी हमारे लिये कल्याण करनेवाले हों।

पश्चिमी जगत् में पृथिवी के साथ यह सौहार्द का भाव कितना आगे बढ़ा हुआ है! भूमध्यसागर या प्रशांत महासागर की तलहटी में पड़े हुए सीप और घोंघों तक की सुध-बुध वहाँ के निवासी पूछते हैं। भारतीय तितलियों पर पुस्तक चाहें, तो अँगरेजी में मिल जायगी। हमारे जंगलों में कुलाचें मारनेवाले हिरनों और चीतलों के सींगों की क्या सुंदरता है, हमारे देश के असल मुर्गों की बढ़िया नस्ल ने संसार में कहाँ कहाँ जाकर कुश्ती मारी है, इसका वर्णन भी अँगरेजी में ही मिलेगा। ये सब विषय एक जीवित जाति के लेखकों को अपनी ओर खींचते हैं। क्या हिंदी-साहित्य के कलाकार इनसे उदासीन रहकर भी कुशल मना सकते हैं? आज नहीं तो कल हमें अवश्य ही इस सामग्री को अपने उदार अंक में अपनाना पड़ेगा। यह कार्य जीवन की उमंग के साथ होना चाहिए। यही साहित्य और जीवन का संबंध है।

देश के गाय और बैल, भेड़ और बकरी, घोड़े और हाथी की नस्लों का ज्ञान कितने लेखकों को होगा। पालकाप्य मुनि का हस्त्या-युर्वेद अथवा शालिहोत्र का अश्व-शास्त्र आज भी मौजूद हैं, पर उनका उत्तराधिकार चाहनेवाले मनुष्य नहीं। मल्लिनाथ ने माघ की टीका में हमें 'लीलावती' नामक ग्रंथ के उद्धरण दिए हैं जिनसे मालूम होता है कि घोड़ों की चाल और कुदान के बारे में भी कितना बारीक विचार यहाँ किया गया था। पश्चिमी एशिया के अलअमर्ना गाँव में ईसा से १४०० वर्ष पूर्व की एक पुस्तक मिली है, जिसमें अश्वविद्या का पूरा वर्णन है। उसमें संस्कृत के अनेक शब्द जैसे एकावर्तन, द्व्यावर्तन, त्र्यावर्तन आदि घोड़ों की चाल के बारे में पाए गए हैं। उस साहित्य के दाय में हिस्सा माँगनेवाले भारतवासियों की आज कमी दिखलाई पड़ती है।

हमने अपने चारों ओर बसनेवाले मनुष्यों का भी तो अध्ययन नहीं शुरू किया। देशी नृत्य, लोकगीत, लोक का संगीत, सबका उद्धार साहित्य-सेवा का अंग है। एक देवेंद्र सत्यार्थी क्या, सैकड़ों सत्यार्थी गाँव गाँव घूमें, तब कहीं इस सामग्री को समेट पावेंगे। इस देश में मानो अपरिमित साहित्य-सामग्री की प्रतिक्षण वृष्टि हो रही है, उसको एकत्र करनेवाले पात्रों की कमी है। लोक की रहन-सहन, वेष और आभूषण, भोजन और वस्त्र सबका अध्ययन करना है। जनपदों की भाषाएँ तो साहित्य की साक्षात् कामधेनुएँ हैं। उनके शब्दों से हमारा निरुक्तशास्त्र भरापूरा बनेगा। हिंदी शब्द-निरुक्ति, बिना जनपदों की बोलियों का सहारा लिए बन ही नहीं सकती। जनपदों की बोलियाँ कहावतों और मुहावरों की खान हैं। हम चुस्त राष्ट्रभाषा बनाने के लिये तरस रहे हैं, पर उसकी जो खानें हैं उनको खोदकर सामग्री प्राप्त करने की ओर हमने अभी तक ध्यान नहीं दिया। हिंदी-भाषा की तीन हजार धातुओं को यदि ठीक तरह ढूँढ़ा जाय, तो उनकी सेवा से हमें भाषा के लिये क्या शब्द नहीं मिल सकते? पर हमारा धातुपाठ कहाँ है, वह हिंदी के पाणिनि की बाट देख रहा है। खेल और क्रीड़ाएँ क्या राष्ट्रीय जीवन के अंग नहीं हैं? मेले, पर्व और उत्सव सभी हमारी पैनी दृष्टि के अंतर्गत आ जाने चाहिएँ। इस आँख को लेकर जब हम अपने लोक के आकाश में ऊँचे उठेंगे तब सैकड़ों हजारों नई चीजों के देखने की योग्यता हमारे मास स्वयं आ जायगी।

संस्कृत-साहित्य की शरण

हमारा विशाल संस्कृत-साहित्य हमारे आदर्शों और विचारों का मानसर है। वहाँ से लोक की सरस्वती जन्म पाकर सबको प्रकाश और बल देगी। पुरातन संस्थाओं और सिद्धांतों का अध्ययन करने के बाद हम राष्ट्रगठन का सच्चा रहस्य जान पाएँगे। पौर-जानपद सभाओं से साहित्य और समाज की परिषदों से श्रेणी निगम और पूग की समितियों से परिचय प्राप्त करने के लिये हमें अपनी संस्कृति की भूमि की शरण में जाना चाहिए, जिसका द्वार संस्कृत-साहित्य में खुला

हुआ है। इस देश में आलोचना के सिद्धांतों के बारे में क्या सोचा जा चुका है, रस, रीति, ध्वनि क्या है, उनका दार्शनिक और साहित्यिक स्वरूप क्या है और मानव-जीवन के सनातन मनोभावों के साथ उनका क्या संबंध है, इसको बिना पढ़े जो आलोचक केवल मैथ्यू आर्नोल्ड या बोर्सफील्ड के विचारों को घोंटकर हिंदी साहित्य की क्रूर समीक्षा करने लग जाते हैं उनका लिखा हुआ साहित्य और चाहे जो हो, लोक की वस्तु नहीं बन सकता; राष्ट्रीय वृद्धि के कीटाणु उसमें नहीं पनप सकते। शब्दों के निर्वचन और व्याकरण या शिक्षा के किन सिद्धांतों का इस देश में पहले विचार हो चुका है, उसकी बारहखड़ी से भी जो अपरिचित रह जावें, वे लेखक हिंदी के भाषाशास्त्र का विवेचन करते हुए कोरे पश्चिमी ज्ञान की लाठी के सहारे ही चल पावेंगे। इस समय हिंदी की नई वर्णमाला का स्वरूप स्थिर करने के लिये अर्ध एकार और अर्ध ओकार पर खासी बहस देखने में आती है, पर क्या हमें मालूम है कि ईसा से भी कई सौ वर्ष पहले सामवेद की सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखाओं के आचार्यों ने अपनी परिषदों में इन दोनों उच्चारणों का ठीक ठीक निर्णय कर दिया था? इस प्रकार के कितने विमर्श भारत के अतीत साहित्य से हमें प्राप्त करने हैं। यूनान के साहित्य और संस्कृति का उत्तराधिकार यूरोप ने प्राप्त किया, अपने आपको उस विद्या-दाय में शामिल करके यूरोप के विद्वान् अपने को धन्य मानते हैं; तो क्या भारतवासी अपने इस ब्रह्मदाय से पराङ्मुख रहकर अपने राष्ट्र के भावी मस्तिष्क या ज्ञान-कोष का स्वस्थ निर्माण कर सकेंगे? कदापि नहीं। हमको तो इस विराट् साहित्य के रोम रोम में भिदकर हिंदी भाषा के द्वारा उनको नए नए रूपों में देखना पड़ेगा। उसके साथ हमारा संबंध आज का नहीं है। वह साहित्य हमारे पूर्वजों के भी गुरुओं का है। अपने राष्ट्रीय नवाभ्युत्थान के समय हम उस मूल्यवान् साहित्य को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हैं। हिंदी लेखक जब तक इस ऋषि-ऋण से उऋण नहीं होंगे, वे लोक-साहित्य की सृष्टि में पिछड़े रहेंगे! कल्पना कीजिए

कि व्यास की 'शतसाहस्री संहिता' को, जिसे पूर्व लोगों ने श्रद्धा के भाव से 'पंचम वेद' की पदवी दी थी, छोड़कर हम कितने दरिद्र रह जाते हैं! उस 'जय' नामक इतिहास को अथवा आदि-कवि के शब्द-ब्रह्म के नवावतार 'रामायण' को साथ लेकर आगे बढ़ने में हमारा विद्यादाय समृद्ध बन जाता है।

भारत के साहित्यकारों विशेषतः हिंदी के साहित्य-मनीषियों को चाहिए कि इस नवीन दृष्टिकोण को अपनाकर साहित्य के उज्ज्वल भविष्य का साक्षात् दर्शन करें। दर्शन ही ऋषित्व है। ऋषियों की साधना के बिना राष्ट्र या उसके साहित्य का जन्म नहीं होता।

—कृ०

——

समीक्षा

योग के आधार—श्री अरविंद की 'बेसेज् आव् योग' (Bases of yoga) नामक अँगरेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद—अनुवादक श्री मदनगोपाल गाडोदिया; प्रकाशक श्री अरविंद ग्रंथमाला, पांडीचेरी, सोल एजेंट्स दक्षिणभारत हिंदी-प्रचार सभा, त्यागरायनगर, मद्रास; मूल्य २)।

योग व्यावहारिक मनोविज्ञान है जो मनुष्य को पूर्ण बना देता है। श्री अरविंद ने अपने पांडीचेरी आश्रम में योग की जिस कला का विकास किया है वह अभूतपूर्व है। इस योग में प्राचीन आध्यात्मिक साधनाओं की आवश्यक शक्ति तो है ही पर यह उनके भी परे जाता है और उनको पूर्ण बनाता है। साधारणतया, योग से लोग यही समझते हैं कि यह मनुष्य को जीवन से उदासीन कर देता है और उसको एकांतवासी या वैरागी बना देता है। परंतु श्री अरविंद के योग का उद्देश्य यह नहीं है। यद्यपि मानवजाति के वर्त्तमान जीवन की अपूर्णताओं पर उनकी दृष्टि प्राचीन योगियों जितनी ही है, तथापि पूर्णता की खोज में वे जीवन से भागते नहीं, बल्कि वे चाहते हैं कि मानव जाति की बुराइयों और अपूर्णताओं को दूर कर दें, जिससे मानव-जीवन एक दिव्य जीवन में परिणत हो जाय। वे कहते हैं—"इस योग की सबसे पहली शिक्षा यह है कि जीवन और उसकी कठिनाइयों का शांत मन, दृढ़ साहस और भागवत शक्ति पर पूर्ण भरोसा रखकर मुकाबला किया जाय।"

प्राचीन योगों के अनुसार साधक को अपनी ही चेष्टा और तपस्या के द्वारा हठयोग, राजयोग और तांत्रिक विधियों आदि का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ना होता है। परंतु श्री अरविंद के योग में जिस एकमात्र प्रयास की आवश्यकता है वह यह है कि साधक

पूर्ण रूप से अपने आपको भगवती माता के वरद हस्तों में सौंप दे। वे कहते हैं—"योगी, संन्यासी या तपस्वी बनना यहाँ का ध्येय नहीं है। यहाँ का ध्येय है रूपांतर और यह रूपांतर उसी शक्ति के द्वारा हो सकता है जो तुम्हारी अपनी शक्ति से अनंतगुण महान् है। यह तभी संभव है जब तुम भगवती माता के हाथों में सचमुच एक बालक की भाँति बनकर रहो।" "भागवत-उपस्थिति, स्थिरता, शांति, शुद्धि, शक्ति, प्रकाश, आनंद और विस्तीर्णता आदि ऊपर तुममें अवतरण करने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ऊपरी तल के पीछे रहनेवाली इस अचंचलता को तुम प्राप्त कर लो तो तुम्हारा मन भी अधिक अचंचल हो जायगा। फिर इस अचचल मन के द्वारा तुम पहले शुद्धि और शांति का और बाद में भागवत शक्ति का अपने में आवाहन कर सकोगे......तुम तब यह भी अनुभव करोगे कि वह शक्ति तुममें इन प्रवृत्तियों को परिवर्तित करने के लिये और तुम्हारी चेतना का रूपांतर करने के लिये कार्य कर रही है। उसके इस कार्य में तुम्हें माता की उपस्थिति और शक्ति का ज्ञान होगा। एक बार जहाँ यह हो गया तब बाकी का सब कुछ केवल समय का और तुम्हारे अंदर तुम्हारी सत्य एवं दिव्य प्रकृति के उत्तरोत्तर विकास होने का ही प्रश्न रह जायगा।"

साधन-मार्ग में जो व्यावहारिक समस्याएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं उन्हें गुरु साधक-विशेष की व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुसार हल करते हैं। श्री अरविंद ने अपने शिष्यों को उनके प्रश्नों के उत्तर में जो पत्र लिखे, उनमें से कुछ का संग्रह प्रस्तुत पुस्तक में है और ये पत्र अनेक व्यावहारिक विषयों पर प्रकाश डालते हैं—जैसे कि श्रद्धा, समर्पण, कठिनाई, आहार, काम-वासना, अवचेतना, निद्रा, स्वप्न और रोग। यह पुस्तक इस तरह से तैयार की गई है कि योग-साधन के जिज्ञासुओं को इससे पर्याप्त लाभ हो सके।

आजकल एक ऐसी प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है कि मानव-जीवन और मानव समाज को आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित मानव प्रकृति के आधार पर पुनः संघटित किया जाय। अवश्य

ही यह प्रवृत्ति उचित मार्ग की ओर है, किंतु अभी तक यह नवीन मनोविज्ञान बहुत गहराई में नहीं उतर सका है। श्री अरविंद कहते हैं—"यह नवीन मनोविज्ञान मुझे तो ऐसा दिखाई देता है जैसे कि बालक यथोचित रूप से वर्णमाला भी नहीं किंतु उसके किसी संक्षिप्त रूप को याद कर रहे हों और अवचेतना तथा रहस्यमय, गुप्त अति-अहंकार रूपी अपने क-ख-ग-घ को मिला मिलाकर रखने में मग्न हो रहे हों और यह समझ रहे हों कि उनकी यह पहली किताब जो एक धुँधला सा आरंभ है, यही ज्ञान का वास्तविक प्राण है।" मनोविश्लेषण यह बताता है कि मनुष्य के जो निम्नतर आवेश हैं—उसकी इच्छा, कामना, लालसा, क्रोध, ईर्ष्या, डाह, काम-वासना आदि—वे उसकी प्रकृति में निहित हैं; यदि तुम उनका निग्रह करो तो वे नष्ट नहीं होंगे, बल्कि अवचेतना में छिपे हुए पड़े रहेंगे और आक्रमण करने के लिये उपयुक्त काल की प्रतीक्षा करते रहेंगे। अथवा यदि निग्रह बहुत अधिक मात्रा में होगा तो इससे स्वयं जीवन-शक्ति ही नष्ट हो जायगी। अतः उनका यह सिद्धांत है कि यदि मानव-जाति को जीवित रहना और उन्नति करना है तो उसे अपने निम्नतर आवेशों को स्वतंत्र रूप से क्रीड़ा करने देना होगा। जिस सैन्यवाद का आज संसार में दौर-दौरा है उसकी तह में यही सिद्धांत भरा पड़ा है। जर्मनों ने तो इस बात को खुले तौर पर कहा है कि युद्ध और उसकी तैयारी के द्वारा ही कोई जाति बलवान् और तेजस्वी रह सकती है और संसार के अन्य सभी राष्ट्र इसी सिद्धांत का अनुसरण करते हुए दिखाई देते हैं, फिर चाहे वे इस बात को स्वीकार करें या नहीं। और इस बात से इनकार भी नहीं किया जा सकता कि इसमें कुछ सत्य अवश्य है। प्राचीन यूनान के इतिहास को देखिए जहाँ उच्चतर नैतिक और आध्यात्मिक जीवन की खोज में अहिंसा को और जीवन-आवेगों का कठोर निग्रह करने की शिक्षा दी जाती थी। मनोविश्लेषण इस भाव की पुष्टि करता है कि मानव सभ्यता की एक सीमा है और वह इस सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकती। जीवन के बाह्य संघटन में,

शासन-विधान में और उत्पादन और वितरण की पद्धति में कितना ही फेर-फार क्यों न किया जाय, किंतु जब तक कामना, लालसा आदि के आवेश मानव-प्रकृति में मौजूद हैं तब तक अत्याचार, शोषण, और युद्ध जारी रहेंगे और यदि मानव-जाति इन आवेगों को नष्ट कर दे तो वह सफलतापूर्वक आत्महत्या ही करेगी। परंतु योग मानवजाति के संबंध में इस प्रकार के निराशापूर्ण विचार नहीं रखता। शांति-वादियों और नीतिवादियों में जो दोष है वह उस आदर्श में नहीं है जो उन्होंने मनुष्य के सामने रखा है बल्कि वह केवल अहिंसा के भाव का प्रचार करने और मनुष्य के मन को शिक्षित बनाकर शांति और सामंजस्य के साम्राज्य की स्थापना करने की उनकी पद्धति में है। क्योंकि आवेश, जिनके कारण युद्ध होता है और मनुष्य-जीवन में पाप घुस आते हैं, अवचेतना में जड़ जमाकर बैठे हुए हैं और सत्ता के इस भाग पर मन और तर्क का जरा भी नियंत्रण नहीं है। यही कारण है कि मनुष्य बहुधा अपनी इच्छा के विपरीत भी पाप करते हैं और राष्ट्र इच्छा न रहते हुए भी युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। परंतु योग अव-चेतना को शुद्ध करने और मानव-प्रकृति में से इन जहरीले पौधों को उखाड़ फेंकने और वहां शांति, सामंजस्य, प्रकाश, शक्ति और आनंद से पूर्ण आध्यात्मिक दिव्य जीवन की नींव की स्थापना करने के लिये सच्ची पद्धति का दिग्दर्शन कराता है। यह काम जब कुछ व्यक्ति सफलतापूर्वक कर सकेंगे तब वे दूसरों पर अपना आध्या-त्मिक प्रभाव डालेंगे और यह प्रभाव क्रमशः समस्त मानव-जाति पर पड़ेगा। तब मानव-जीवन, मानव-समाज अपना स्थिर आधार आत्मा में बनावेगा और पृथ्वी पर स्वर्ग के उतर आने का स्वप्न चरितार्थ होगा।

यह संतोष की बात है कि फ्रांस में आज योग और अध्यात्म-संबंधी साहित्य का ही सबसे अधिक प्रचार है और इनमें भी श्री अर-विंद की 'योग के आधार' और 'योग-प्रदीप' पुस्तकों के फ्रेंच अनुवाद विशेषतः प्रमुख हैं। इससे इस बात का पता चलता है कि बाह्य रूप चाहे जो हो, पर मनुष्य का हृदय उचित स्थान पर ही है। श्री अरविंद

जिस भाषा में योग-संबंधी विषय पर लिखते हैं, वह एक बहुत ऊँची भूमिका से आती है। उसकी आध्यात्मिक शक्ति की अनुवाद में रक्षा करना संभव नहीं, फिर भी प्रस्तुत पुस्तक का अनुवाद बहुत सुंदर हुआ है और इसके लिये मैं अनुवादक महोदय का अभिनंदन करता हूँ। इससे श्री अरविंद ने जो योग-मार्ग संसार को बताया है उसके समझने में हिंदी-भाषा-भाषियों को बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

—रामचंद्र वर्मा

गोरखनाथ एंड मिडीवल हिंदू मिस्टिसिज्म—लेखक और प्रकाशक डा० मोहनसिंह, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, ओरिएंटल कालेज, लाहोर; मूल्य १५)।

जिज्ञासा की अपेक्षा विज्ञापन को अधिक महत्त्व मिल जाने के कारण अनुसंधान के क्षेत्र में सर्वत्र उतावली सी दिखाई पड़ती है। जहाँ कहीं कोई नवीन सामग्री हाथ लगी कि उसका चट प्रकाशन आवश्यक समझा गया, नहीं तो कल वह किसी और ही की हो रहेगी और जन-समाज में उसका नाम उजागर न कर किसी और ही को खोज का तिलक लगाएगी। अतएव हम देखते हैं कि डाक्टर मोहनसिंह जैसा श्रमी शोधक भी इस प्रकार की उतावली का शिकार हो गया है और अपने ग्रंथों में कुछ चटपट का विधान कर गया है। उनकी प्रस्तुत पुस्तक में भी यही बात है। इसमें अध्ययन की अपेक्षा चयन या उद्धरण कहीं अधिक है। यह सिद्धांत नहीं, बल्कि एक सहायक के रूप में हमारे सामने आती है और कुछ नाथपंथ की यात्रा का मार्ग दिखा देती है। संबल के रूप में कुछ सामग्री भी जुटा देती है। डाक्टर सिंह की यह पुस्तक केवल इसी दृष्टि से उपयोगी और उपादेय है।

डाक्टर सिंह ने अँगरेजी जनता के लिये सामग्री एकत्र कर भूमिका, प्रस्तावना, नोट आदि जो कुछ लिखा है वह महत्त्व का होने पर भी अस्त-व्यस्त है। आदि से अंत तक उसमें कोई व्यवस्था नहीं

शासन-विधान में और उत्पादन और वितरण की पद्धति में कितना ही फेर-फार क्यों न किया जाय, किंतु जब तक कामना, लालसा आदि के आवेश मानव-प्रकृति में मौजूद हैं तब तक अत्याचार, शोषण, और युद्ध जारी रहेंगे और यदि मानव-जाति इन आवेगों को नष्ट कर दे तो वह सफलतापूर्वक आत्महत्या ही करेगी। परतु योग मानवजाति के सबंध में इस प्रकार के निराशापूर्ण विचार नहीं रखता। शांति वादियों और नीतिवादियों में जो दोष है वह उस आदर्श में नहीं है जो उन्होंने मनुष्य के सामने रखा है बल्कि वह केवल अहिंसा के भाव का प्रचार करने और मनुष्य के मन को शिक्षित बनाकर शांति और सामजस्य के साम्राज्य की स्थापना करने की उनकी पद्धति में है। क्योंकि आवेश, जिनके कारण युद्ध होता है और मनुष्य-जीवन में पाप घुस आते हैं, अवचेतना में जड जमाकर बैठे हुए हैं और सत्ता के इस भाग पर मन और तर्क का जरा भी नियत्रण नहीं है। यही कारण है कि मनुष्य बहुधा अपनी इच्छा के विपरीत भी पाप करते हैं और राष्ट्र इच्छा न रहते हुए भी युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। परतु योग अव चेतना को शुद्ध करने और मानव-प्रकृति में से इन जहरीले पौधों को उखाड फेंकने और वहा शांति, सामंजस्य, प्रकाश, शक्ति और आनंद से पूर्ण आध्यात्मिक दिव्य जीवन की नींव का स्थापना करने के लिये सच्ची पद्धति का दिग्दर्शन कराता है। यह काम जब कुछ व्यक्ति सफलतापूर्वक कर सकेंगे तब वे दूसरों पर अपना आध्यात्मिक प्रभाव डालेंगे और यह प्रभाव क्रमश: समस्त मानव-जाति पर पड़ेगा। तब मानव-जीवन, मानव-समाज अपना स्थिर आधार आत्मा में बनावेगा और पृथ्वी पर स्वर्ग के उतर आने का स्वप्न चरितार्थ होगा।

यह सतोष की बात है कि फ्रांस में आज योग और अध्यात्म-सबंधी साहित्य का ही सबसे अधिक प्रचार है और इनमें भी श्री अरविंद की 'योग के आधार' और 'योग प्रदीप' पुस्तकों के फ्रेंच अनुवाद विशेषत प्रमुख हैं। इससे इस बात का पता चलता है कि बाह्य रूप चाहे जो हो, पर मनुष्य का हृदय उचित स्थान पर ही है। श्री अरविंद

जिस भाषा में योग-संबंधी विषय पर लिखते हैं, वह एक बहुत ऊँची भूमिका से आती है। उसकी आध्यात्मिक शक्ति की अनुवाद में रक्षा करना संभव नहीं, फिर भी प्रस्तुत पुस्तक का अनुवाद बहुत सुंदर हुआ है और इसके लिये मैं अनुवादक महोदय का अभिनंदन करता हूँ। इससे श्री अरविंद ने जो योग-मार्ग संसार को बताया है उसके समझने में हिंदी-भाषा-भाषियों को बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

—रामचंद्र वर्मा

गोरखनाथ एंड मिडीवल हिंदू मिस्टिसिज्म—लेखक और प्रकाशक डा० मोहनसिंह, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, ओरिएंटल कालेज, लाहोर; मूल्य १५)।

जिज्ञासा की अपेक्षा विज्ञापन को अधिक महत्त्व मिल जाने के कारण अनुसंधान के क्षेत्र में सर्वत्र उतावली सी दिखाई पड़ती है। जहाँ कहीं कोई नवीन सामग्री हाथ लगी कि उसका चट प्रकाशन आवश्यक समझा गया, नहीं तो कल वह किसी और ही की हो रहेगी और जन-समाज में उसका नाम उजागर न कर किसी और ही को खोज का तिलक लगाएगी। अतएव हम देखते हैं कि डाक्टर मोहनसिंह जैसा श्रमी शोधक भी इस प्रकार की उतावली का शिकार हो गया है और अपने ग्रंथों में कुछ चटपट का विधान कर गया है। उनकी प्रस्तुत पुस्तक में भी यही बात है। इसमें अध्ययन की अपेक्षा चयन या उद्धरणी कहीं अधिक है। यह सिद्धांत नहीं, बल्कि एक सहायक के रूप में हमारे सामने आती है और कुछ नाथपंथ की यात्रा का मार्ग दिखा देती है। संबल के रूप में कुछ सामग्री भी जुटा देती है। डाक्टर सिंह की यह पुस्तक केवल इसी दृष्टि से उपयोगी और उपादेय है।

डाक्टर सिंह ने अँगरेजी जनता के लिये सामग्री एकत्र कर भूमिका, प्रस्तावना, नोट आदि जो कुछ लिखा है वह महत्त्व का होने पर भी अस्त-व्यस्त है। आदि से अंत तक उनमें कोई व्यवस्था नहीं

दिखाई देती। पुस्तक का नाम भी यथार्थ नहीं कहा जा सकता। उसका संकेत अतिव्यापक है, साथ ही कुछ भ्रामक भी।

डाक्टर सिंह की प्रकृत पुस्तक में सबसे बड़ा दोष यह है कि संस्कृत तथा भाषा के शब्दों के लिये केवल रोमन लिपि का व्यवहार किया गया है, जिसके कारण शब्दों का सच्चा रूप सामने नहीं आ सकता। पाठक व्यर्थ की उलझन में फँसकर हैरान होंगे और फिर भी कुछ साफ साफ समझ न पायँगे। सांकेतिक शब्दों की व्याख्या भी कुछ ठीक नहीं हो पाई है।

पुस्तक में कहीं कहीं प्रसंगवश या योंही कुछ ऐसी बातें भी कह दी गई हैं जो बेतरह खटकती हैं। डाक्टर सिंह का यह दावा कि 'पद्मावत' 'सुरति शब्द' की 'एलोगरी' है तथा सिद्धियाँ ८ नहीं बल्कि १२ होती हैं विचित्र और चिंत्य है।

जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि डाक्टर सिंह ने प्रकृत पुस्तक प्रस्तुत कर गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियों या हमजोलियों के अध्ययन के लिये प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर दी है और बहुत कुछ उसकी एक रूपरेखा भी खड़ी कर दी है।

माना कि पुस्तकालयों की दौड़धूप तथा पांडुलिपियों की प्राप्ति में बहुत व्यय पड़ा होगा और उनके संशोधन में श्रम भी कुछ कम न पड़ा होगा, फिर भी इस छोटी सी पुस्तिका का मूल्य जनसामान्य के लिये अधिक ही है। संभवतः यह है भी उनके लिये नहीं। हर्ष की बात है कि डाक्टर सिंह ने इसका मूल्य २५) से घटा कर १५) कर दिया है।

अस्तु, हम डाक्टर मोहन सिंह जी के श्रम तथा अध्यवसाय की प्रशंसा कर उनकी इस कृति का स्वागत करते हैं।

—चंद्रबली पांडे, एम्० ए०।

कामुक—अनुवादक चतुर्वेदी श्री रामनारायण मिश्र, बी० ए०; प्रकाशक नवयुग-पुस्तक-भंडार, बहादुरगंज, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या १४८; मूल्य १।) ।

यह काव्यग्रंथ अँगरेजी साहित्य के महाकवि मिल्टन के 'कोमस्' का भावानुवाद है। एक भाषा की रचना का दूसरी भाषा में अनुवाद करना कठिन काम है। जब तक दोनों भाषाओं पर अनुवादक का पूर्ण अधिकार न हो तब तक अनुवाद में प्राण-प्रतिष्ठा हो नहीं सकती। यह कार्य और कठिन हो जाता है यदि विषय काव्य हो। इसका प्रधान कारण होता है काव्य-रचना-प्रणाली की विभिन्नता। किन्हीं दो दूरस्थ राष्ट्रों की काव्य-पद्धति तथा रीति-परंपरा में विविध प्रकार के अंतर होते हैं। अनुवाद में इस व्यापक अंतर को बचाकर सौंदर्य और उत्कृष्टता की रक्षा करना प्राय: असंभव ही समझिए।

अँगरेजी साहित्य में मिल्टन अपनी वैयक्तिक उत्कृष्टता एवं काव्य-रचना-पद्धति की गहनता के लिये आदर्श माना जाता है। उसकी भाषा में लाक्षणिक वक्रता, अभिव्यंजना में आलंकारिक चमत्कार और विषय-प्रतिपादन में उपदेशात्मक एवं आदर्शोन्मुख प्रवृत्तियों का आधिक्य है। ऐसे कवि की एक प्रमुख रचना के अनुवाद करने का साहस अवश्य ही स्तुत्य है। अनुवाद में भाषा की एकस्वरता के अभाव में भी जो किसी को मार्दव, माधुर्य तथा व्यंजकतापूर्ण प्रसाद गुण दिखाई पड़ता है उसके विषय में तो यही कहा जा सकता है कि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'। हाँ, मूल रचनागत भावों की रक्षा बड़ी दक्षता के साथ की गई है, ऐसा कहना आधारहीन है; क्योंकि न तो यह अनुवादक का इष्ट मालूम पड़ता है और न इसमें सफलता ही मिली। यहाँ पर एक साधारण स्थल का उद्धरण मैं केवल इस अभिप्राय से दे रहा हूँ कि तुलना में सहायता होगी।

Break off, break off, I feel the different pace
Of some chaste footing near about this ground.
Run to your shrouds, within these brakes and trees;
Our number may affright:

छुप जाओ, भागो जल्दी से, कंटक झाड़ी में तरु ओट,
निरखि हमारे दल की गिनती, डरै न बाला, समझे खोट।

उक्त पंक्तियों के Break off और shrouds का कोई भाव अनुवाद मे नहीं आ सका। इसी प्रकार अनेकानेक स्थलों पर छूट अथवा बढ़ती मिलेगी। ऐसी अवस्था मे इसे भावानुवाद ही मानना होगा, और यह कोई दोष नहीं है। हाँ, अनुवादक ने मूल भावों की जो यथाशक्ति रक्षा की है उसके लिये उसे श्रेय मिलना चाहिए। स्वतंत्र रूप में पुस्तक पढ़ने पर आनंद आता है, इसमें संदेह नहीं है। अच्छा हुआ होता, आनंद और अधिक आता यदि भाषा सर्वत्र एकरूप होती। साथ ही भाषा मे परिमार्जन की आवश्यकता दिखाई पड़ती है।

इस रचना में एक बात सुंदर तथा चमत्कार युक्त और है। वह है पुस्तक एवं पात्रों का भारतीय नामकरण। कोमस् के लिये कामुक उपयुक्त नाम है। दोनों शब्दों में अर्थ-संबंधी साम्य तथा साधर्म्य है। इसी प्रकार उसकी माता सर्स (Crice) के लिये सुरसा शब्द का व्यवहार भी अच्छा हुआ है। 'स्थिरसिस्' का 'स्थिरशीश' भी साभिप्राय है। अन्य पात्रों के विषय में भी इसी प्रकार का सिद्धांत रखा गया है। पौराणिकता का अनुवाद कर लेने से प्रस्तुत पुस्तक में स्वतंत्र रचना का सा सौंदर्य उत्पन्न हो गया है। लेखक का प्रयास स्तुत्य है। आशा है, रसिकजन इस काव्य का यथोचित सम्मान करेंगे।

—जगन्नाथप्रसाद शर्मा, एम्० ए०।

आधी रात (ऐतिहासिक नाटक)—लेखक श्री जनार्दन राय, प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस, पृ० सं० २७०, मूल्य १॥)।

संक्षेप में इस नाटक की कथा यह है—

मेदपाट (मेवाड़) के वयोवृद्ध आत्मदर्शी राणा कुंभा की धर्म-भावना बुढ़ौती में इतनी बढ़ जाती है कि वे अपनी प्राणप्रिय प्रजा, सेना-पति काँधल तथा युवराज उदयसिंह के विरोध करने पर भी अपना यह

निश्चय प्रकाशित कर देते हैं कि मैं मेवाड़ के अधीन सभी राज्यों को स्वतंत्र कर दूँगा—"जिसे जो भूखंड मेरे नाथ ने पनपने दिया उसे वहीं पनपने दो! क्यों बेचारों की मिट्टी पिलीद करते हो, गुलाम बनाकर, और ये बुरे कर्मों के ढेर लगाते हो।" नियमित घोषणा के लिये दरबार करने की डुग्गी फिरने के बाद सेनापति तो रूठकर स्वदेश चला जाता है, पर सम्राट् होने की आकांक्षा रखनेवाला, सिंहासन के लिये अधीर युवराज ऊदा, कुमार जैतसिंह को अपनी ओर मिलाकर घोषणा के पूर्व ही पिता का वध करके सिंहासन प्राप्त करता है। अपने पाप को छिपाने के लिये वह जैत का मुँह सम्मान और जागीरों से बंद करने का प्रयत्न करता है, पर जैतसिंह ऊदा को अपनी मुट्ठी में जान स्वयं मेवाड़ का स्वामी बनना चाहता है। जैतसिंह का अधिक सम्मान देख कुमार चेत्रसिंह को षड्यंत्र का संदेह होता है और वह बदला लेना चाहता है। ऊदा जैतसिंह से तंग आकर उसे भी मार डालता है और दूसरे दिन सारे मेवाड़ में वह कुंभा तथा जैतसिंह का खूनी प्रसिद्ध होता है। सेनापति काँधल की अधीनता में प्रजा तथा सामंतगण विद्रोह करते हैं। ऊदा की साध्वी रानी पीतम पति के पापों से ऊबकर पहले ही विष खा लेती है और उसका पुत्र सूरज भी थोड़े दिनों बाद मर जाता है। अंत में दो दो खून के पाप और पत्नी-पुत्र-शोक से दुःखी ऊदा पागल होकर तूफानी रात में यह कहते हुए निकल पड़ता है कि मैं सुलतान की सेना लाकर सबको जीतूँगा। परंतु मार्ग में बिजली गिरने से उसकी मृत्यु हो जाती है।

इतिहास के अनुसार, मेवाड़ के राणा मोकल के पुत्र कुंभकर्ण या कुंभा (सं० १४९०-१५२५ वि०) बड़े वीर, विद्वान्, प्रजापालक, गुणग्राहक तथा यशस्वी थे। पिछले दिनों में उन्हें उन्माद हो गया था। उनके राज्य-लोलुप बड़े पुत्र उदयसिंह या ऊदा (सं०१५२५-३०) ने उनकी हत्या कर राज्य प्राप्त किया था। पितृघाती और अन्यायी होने के कारण उससे सारा मेवाड़ क्रुद्ध हो गया और उसके छोटे भाई रायमल ने सेनापति काँधल की सहायता से उसे राज्यच्युत कर

दिया। ऊदा अपने दोनों पुत्रों, सैंसमल और सूरजमल-सहित सुल्तान गयासुद्दीन के पास सहायता के लिये गया और उसे अपनी लड़की देने का वचन देकर सहायता का आश्वासन प्राप्त किया। पर वहाँ से लौटते हुए मार्ग में उस पर बिजली गिरी और वह मर गया।

नाटककार ने पराजित ऊदा को सुल्तान के पास तक न पहुँचने देकर, उसके पूर्व ही उस पर बिजली गिराई है। उसने ऊदा के केवल एक पुत्र बतलाया है, वह भी ऊदा के महल से विदा होने के पूर्व ही मर जाता है। शेष मूलकथा का विस्तार, बिना परिवर्तन के, बड़ी भावुकता से किया गया है। नाटक का आरंभ भयंकर वन में, मध्यरात्रि में, अघोरियों के अड्डे से होता है, जहाँ वे साधु कुंभा के विनाश के लिये कुचक्र रचते हैं।

नाटक में युद्ध और षड्यंत्र की ही कथा आदि से अंत तक है। उसमें केवल पीतम का गौरवपूर्ण पति-प्रेम ही हृदय की कोमल भावना को जगाता है। गंगा की एकांत स्वामिभक्ति को भी अंत में निखरने का अवसर मिल जाता है। पर शेष किसी भी पात्र में वह गौरव और गंभीरता नहीं है जो नाटक को महत्त्व प्रदान कर सके। क्षुब्ध ऊदा की कवित्वमय रोषपूर्ण वाणी भी, जिसमें नाटककार की अधिक शक्ति लग गई है, उसके दुर्बल लक्ष्यों को देखते हुए नीचों की निरर्थक फटकार ही सी लगती है। कथा का विस्तार कुछ आवश्यकता से अधिक हुआ मालूम होता है, जिससे नाटक का बंध ढीला हो गया है। भाषा अवश्य ही ओज-पूर्ण है पर उसमें अनेक ऐसे प्रयोग आए हैं जिनको देखकर हिंदी के पाठक चौंके बिना न रहेंगे। जैसे क्रोध भरे भुजंग मेरी कौकियाँ कट गए, चिंता के साँप चँवरों से बीट झूमा करेंगे, अड़कल, पगथिया, पघड़िया, मरभूखे, साता पूछना, पीछा पड़ना (=पीठ के बल लेटना), घा करना, आह रखना, मुट्ठी भींसना, व्यंग मारना, भाँजघड़ इत्यादि। 'राज स्थापे चलना' जैसे प्रयोग तो हिंदी को संपन्न बनाने के लिये प्रयत्नशील कितने

ही लोगों को पसंद आएँगे पर अपना से 'अपनत्व' भाववाचक और 'जादू' से 'जादूवई' विशेषण बनाने में शायद वे भी हिचकें। राणाजी को पूछना, चेत्रसिंह को सुनना, काँधल आते ही समझो (=आते ही होंगे ऐसा समझो) आदि प्रयोग भी अभी तक ते हिंदी में प्रतिष्ठित नहीं हुए हैं। 'पहले का बच्चा' और 'जड़बख्तर' (=महामूर्ख ?) को देख कर तो दिमाग चक्कर खाने लगता है। भाषा पर इस प्रकार अत्याचार करना अनुचित है। प्रूफ की भूलें भी बहुत रह गई हैं जिससे कहीं कहीं तो विचित्र अर्थ उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे—'धर्म की इस जीवनयात्रा में मैं कैसे आपको खोदूँ ?'

भाषा संबंधी इन दोषों को अलग रख दें तो साधारणतः नाटक अच्छा है।

—चित्रगुप्त।

दर्जी विज्ञान—लेखक श्रीयुत पं० टीकारामजी पाठक, प्रिंसिपल; प्रकाशक शिल्प-कला-विज्ञान-कार्यालय, अयोध्या; पृष्ठ-संख्या ६६; मूल्य १॥) ।

इस पुस्तक में लेखक ने सरल हिंदी में दर्जी-विज्ञान की शिक्षा देने का प्रयत्न किया है। अभी तक हिंदी में शिल्प-कला पर लिखी गई पुस्तकों का प्रायः अभाव ही है। जो इनी गिनी पुस्तकें हैं उनकी लेखन-शैली और चित्र इतने विकट हैं कि अशिक्षित या अल्पशिक्षित स्त्री-पुरुषों के लिये उनको समझना असंभव सा हो जाता है। लेखक ने अपने विद्यार्थी-जीवन की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक को सरल तथा सुबोध बनाने का काफी सफल प्रयत्न किया है।

इसमें तीन प्रकार की कमीज (टेनिस, अमेरिकन और पोलो), बँगला कुर्ता, बनियाइन और सदरी काटने के तरीके बताए गए हैं। इन वस्त्रों के चित्र खींचने तथा नाप लेने के ढंग सुगम हैं।

लेखक ने भाषा का यथेष्ट ध्यान नहीं रक्खा है। जैसे उन्होंने "चंद पंक्तियाँ गणित संबंधी लिखना भी निरर्थक न" समझा वैसे ही उन्हें शब्दों पर भी ध्यान देना उचित था। उदाहरणार्थ, आर्डिनरी नाप, स्कायर कफ़ और बैण्ड कालर के स्थान पर क्रम से साधारण या मामूली नाप, चौकोर कफ़ और गले की सादी पट्टी के प्रयोग किए जाते तो यह पुस्तक और सरल ही सिद्ध होती। अँगरेजी प्रभाव के कारण अन्य आधुनिक कलाओं के समान दर्जी कला में भी कितने ही अँगरेजी शब्द आ गए हैं। उनमें जो हमारी भाषा में टकसाली हो गए हैं उनका प्रयोग तो होना चाहिए। परंतु हिंदी के जो अपने शब्द हैं अथवा बाहरी शब्दों के जो हिंदी रूपांतर बन गए हैं उनका स्वभावतः पहले प्रयोग किया जाना चाहिए।

इस पुस्तक का नाम 'दर्जी-विज्ञान प्रथम-विकास' है, परंतु अपने क्रम से यह प्रथम-विकास नहीं सिद्ध होती। क्योंकि सिलाई सीखने का प्रथम अभ्यास करनेवालों के लिये प्रथम विकास में साधारण व्यवहार के वस्त्र होने चाहिए। कमीज की नाप अथवा काट और वस्त्रों से सरल होती है। प्रथम विकास में एक साधारण कमीज (टेनिस या पोलो) रक्खी जा सकती है। इसके बाद कुर्ता, कुर्ती, सलूका, जंपर, जाँघिया, बनियाइन इत्यादि प्रथम श्रेणी के घरेलू वस्त्रों की शिक्षा होनी चाहिए।

दूसरी ध्यान में लाने की बात यह है कि विशेषतः स्त्रियों के लिये केवल काट सीखने से काम न चलेगा। दूकान पर तो 'टेलर मास्टर' काटता है और कारीगर सीते हैं। कारीगर वस्त्र काटने की क्रिया में प्रायः अज्ञान होते हैं और टेलर मास्टर सीने की क्रिया में। परंतु स्त्रियों के लिये तो दोनों ही बातें आवश्यक हैं। पुस्तक में जिन वस्त्रों के काटने के तरीके बताए जायँ उनके सीने के ढंग भी बताए जाने चाहिए। तब पुस्तक की उपयोगिता पूर्ण सिद्ध होगी।

तथापि लेखक ने जो बताने के प्रयास किए हैं उनमे वे काफी सफल हैं। पुस्तक सरल, सुबोध और उपयोगी है। इस विषय की

हिंदी पुस्तकों में दर्जी-विज्ञान श्रेष्ठ कही जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसके लिये लेखक को बधाई!

पुस्तक की तैयारी में चित्रों के कारण विशेष व्यय पड़ा होगा, तथापि इसका मूल्य कुछ अधिक जान पड़ता है और यह लेखक के असहाय-हितकारी उद्देश्य में कुछ बाधक हो सकता है।

—कृष्णकिशोरी।

कानून कर आमदनी भारतवर्ष १९२२—संपादक तथा अनुवादक सर्वश्री विश्वंभरदयाल और विश्वेश्वरदयाल, एडवोकेट प्रयाग; प्रकाशक रामनारायण लाल, कटरा, प्रयाग, पृ० सं० ४+८—२२३; मूल्य १) रु०।

इस पुस्तक में आयकर के कानून का संग्रह है, जो पूरे भारतवर्ष पर लागू है। इसमें कुछ भी टीका-टिप्पणी नहीं दी गई है और न भूमिका ही इस प्रकार की दी गई, जिससे जनसाधारण विशेष लाभ उठा सकें। कोरा एक्ट अनूदित कर दिया गया है। भाषा सरल रखी गई है। पुस्तक संग्रहणीय है।

कानून कब्जा आराजी संयुक्तप्रांत; १९३९—प्र० रामनारायणलाल, प्रयाग; पृ० सं० २१+२१+१९६+४०; मूल्य ॥≈)।

उक्त प्रकाशक के यहाँ से अँगरेजी संस्करण श्रीमान् विश्वेश्वरदयाल एडवोकेट इलाहाबाद के संपादन में निकला है और उसमें जो अतिसंक्षिप्त व्याख्या की गई है, उसी का इस हिंदी संस्करण में अनुवाद दिया गया है। हिंदी संस्करण में दो संपादक हैं, जिनमें एक अर्थात् श्रीमान् विश्वंभरदयालजी एडवोकेट अनुवादक हो सकते हैं। अनुवाद में कहीं कहीं कुछ बढ़ाया भी गया है। टीकाकारों के प्रयास स्तुत्य हैं और भाषा को भी सरल करने का प्रयत्न किया गया

है। हिंदी में कानूनी पुस्तकों के लिखने तथा प्रकाशित होने का क्रम यदि इसी प्रकार चलता रहा तो कुछ दशाब्दियों बाद प्रामाणिक हिंदी में ऐसे ग्रंथ उपलब्ध हो जाएँगे।

—ब्रजरत्नदास।

नेताओं की कहानियाँ—लेखक श्रीयुत व्यथितहृदय; प्रकाशक देवकुमार मिश्र, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना; पृष्ठ १४०; मूल्य ।।)।

कहानी की शैली में छोटे बालकों के लिये लिखी गई हमारे प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं की ये जीवनियाँ अपने ढंग की नई चीज हैं। 'एक लड़का था' इस प्रकार एक नेता की जीवनी प्रारंभ होती है और सहज ही बच्चों की रुचि को आकृष्ट कर लेती है—ठीक वैसे ही जैसे 'एक राजा था'। परिच्छेद के अंत में बच्चे को मालूम होता है कि वह लड़का था बाल गंगाधर तिलक, या गांधी या जवाहरलाल। जीवन के विभिन्न पहलुओं को अलग अलग इसी तरह शुरू करके उनकी शृंखला गूँथ दी गई है। इस प्रकार प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियों की रूप-रेखाएँ बच्चों के लिये खींची गई हैं, जिनमें उनके चरित्र के खास खास गुण आ गए हैं। भाषा सरल है और शैली बच्चों के लिये रोचक है। इस पुस्तिका में लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, पं० मोतीलाल नेहरू, देशबंधु दास, महात्मा गांधी, बाबू राजेंद्रप्रसाद, पं० जवाहरलाल नेहरू, खान अब्दुलगफ्फार खाँ तथा श्री सुभाष बोस की जीवनियाँ हैं। मुखपृष्ठ पर उक्त नेताओं के छोटे छोटे चित्र भी हैं।

जीवित मूर्तियाँ—लेखक श्रीयुत व्यथितहृदय; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, पटना; पृष्ठ ८८; मूल्य ।=)।

यह पुस्तिका लेखक की 'नेताओं की कहानियाँ' नामक पुस्तक से भिन्न शैली में लिखी गई है और उस श्रेणी से ऊपर के विद्यार्थियों के

लिये उपयुक्त है। पुस्तिका में महात्मा गांधी, सीमांत के गांधी, बिहार के गांधी, लोकमान्य तिलक, देशबंधु दास आदि ९ नेताओं की संक्षिप्त जीवनियाँ हैं। जीवनियों की सामग्री बालोपयोगी है। भाषा और शैली अच्छी है, कागज और छपाई अच्छी है। मुखपृष्ठ पर इन नेताओं के अर्धचित्र भी दिए गए हैं। पर बच्चों की इस पुस्तक में और अच्छे चित्र होते तो पुस्तक का आकर्षण बढ़ जाता। शायद इतने कम दाम में अधिक चित्र देना संभव न रहा हो। पर हिंदी मे लिखे बालोपयोगी साहित्य में चित्रों की कमी को प्रकाशकों और लेखकों को पूरा करने का प्रयास करना चाहिए। इसके बिना बहुत सी उपयोगी सामग्री रूखी रहने के कारण बच्चों को बिना छूए उनकी निगाह से निकल जाती है।

—खानचंद गौतम।

वीणा—मध्यभारत हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर की मासिक मुख-पत्रिका, ग्राम-सुधार अंक, नवंबर १९४०।

वीणा हिंदी की प्रमुख पत्रिकाओं में से है और वह वर्षों से हिंदी की अच्छी सेवा कर रही है। समयानुरूप, ग्रामसुधार के महत्त्वपूर्ण विषय को लेकर, उसका यह विशेष अंक प्रस्तुत हुआ है। इसमें ग्रामसुधार तथा कृषि के विशेषज्ञों के लेख हैं, तीन कविताएँ हैं, एक कहानी भी है और गांधीजी, जवाहरलाल आदि नेताओं के संदेश हैं। लेखों में ग्राम-सुधार से संबंध रखनेवाले प्रायः प्रत्येक प्रश्न पर विचार किए गए हैं और इस विषय में रुचि रखनेवाले लोगों के लिये उनमें पर्याप्त सामग्री एकत्र है।

आजकल ग्राम-सुधार के विषय में भी बहुत कुछ उसी प्रकार फैशन के रूप में कहने की प्रथा हो गई है जिस प्रकार प्रत्येक नए विषय पर। उसमें लेखन-कला होती है, तर्क और युक्ति रहती है और वैज्ञानिक और शास्त्रीय विवेचन रहता है; पर वास्तविक प्रश्न को उचित रूप से सुलझाने का प्रश्न जहाँ का वहाँ रहता है। इस अंक में श्री रघु-

चंद्र वसु, श्री नारायण विष्णु जोशी, श्री झवेर भाई पटेल आदि ने अपने लेखों में कुछ वास्तविक कठिनाइयों की ओर पाठकों का ध्यान खींचा है जो विचारणीय है।

अंक उपयोगी और पठनीय तो है ही, सुंदर भी है। भाषा और प्रूफ-संशोधन की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

—चित्रगुप्त।

जीवन साहित्य—मासिक पत्रिका, वर्ष १ अंक १ [अगस्त १९४०]; संपादक श्री हरिभाऊ उपाध्याय; प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली; रायल अठपेजी आकार के ४८ पृष्ठ; मूल्य एक प्रति का ४ आ०, अथवा २ रु० वार्षिक; छपाई आदि अच्छी।

'वास्तविक साहित्य वही है जो जीवन में से निकलता है। साहित्य से बना जीवन पोपला होता है, पर जीवन में से निकले साहित्य में जीवन—जान—होता है। साहित्य का यहाँ संकुचित अर्थ नहीं है। जीवन की जितनी भी स्थूल अभिव्यक्तियाँ लिपिबद्ध हो सकती हैं, जीवनोपयोगी जो कुछ भी लिखा या प्रकट किया जा सकता है, वह सब 'साहित्य' के अंतर्गत यहाँ है। हृदय और मस्तिष्क—भावना और बुद्धि—का उचित सामंजस्य 'जीवन-साहित्य' की विशेषता रहेगी। 'जीवन-साहित्य' संस्कृति का उपासक होगा। ऐसी संस्कृति का, जिसका मूलाधार प्रकृति हो, लेकिन जो आगे देखती हो—ईश्वर या आत्मा की तरफ।'—इस संपादकीय स्पष्टीकरण के साथ पत्रिका का प्रथम अंक सामने है। साहित्य और समाज अथवा लेखक और लोक के प्रति जिस कल्याणकारी भावना को लेकर 'जीवन-साहित्य' का जन्म हुआ है वह उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट है।

इस अंक में कतिपय विचारणीय और मननीय लेख आए हैं। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का 'पृथिवी-पुत्र' संस्कृत शब्द-भंडार और प्राकृतिक, भौगोलिक तथा पशु-पक्षी-संबंधी प्राचीन साहित्य की ओर

से वर्तमान साहित्यकारों की जिस उदासीनता की ओर संकेत करता है वह सचमुच अत्यंत चिंत्य है। हिंदी-भाषी ही नहीं, संस्कृतजात अन्य प्रांतीय भाषा-भाषी वर्ग मात्र इस ओर से उदासीन है। इस प्रमाद का परिणाम भारतीय संस्कृति के लिये तो पतनकारी होगा ही, भाषा पर उसका जो कुप्रभाव हो सकता है वह तो स्पष्ट लक्षित हो रहा है। किंतु अभी भी विशेष विलंब नहीं हुआ है। सवेरे के भूले यदि साँझ तक घर लौट आएँ तो भी संतोष की बात होगी। काका साहब के "विद्या का क्रम" में गुरुजनों को दिए गए शिक्षा-संबंधी सत्परामर्श का अपना अलग और प्रधान महत्त्व तो है ही, दैनिक कामकाज के साधारण ज्ञान से अनभिज्ञ कोरे दार्शनिकों और तत्त्वज्ञानियों के प्रति जिस मधुर व्यंग्य का संश्लेष है वह सीधे हृदय को स्पर्श करनेवाला है। 'साहित्य से सर्वोदय', 'विज्ञान और समाज', 'लेखक से'-आदि अन्य लेख भी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं। देश के विद्वान् विचारकों और श्रेष्ठ साहित्यकारों का सहयोग इसे प्राप्त है और संपादन अनुभवी हाथों में है, अतएव पत्रिका की उन्नति की आशा पर सहज ही विश्वास किया जा सकता है।

आरती—मासिक पत्रिका, अगस्त १६४० (वर्ष १, अंक १); संपादक श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन और श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'; रायल अठपेजी आकार, ८० पृष्ठ; मूल्य एक प्रति का ॥) अथवा ५) वार्षिक।

पटना सिटी के आरती-मंदिर ने गत अगस्त से इस पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया है। बिहार के लिये तो चीज नई है ही, हिंदी की वर्तमान श्रेष्ठ पत्रिकाओं से परिचितों को भी यह एक विशेष ढंग की मालूम पड़ेगी। लेख भिन्न भिन्न विषयों के हैं, कहानियाँ भी उच्च कोटि की और भिन्न भिन्न रुचि की हैं, कविताओं का चयन भी वैसा ही अच्छा है। दोनों साहित्यिक निबंधों में 'समालोचना और

कविता का क्षेत्र' विशेष रुचिकर है। 'रीतिकाल' वाला सलाप भी अपने ढंग की अच्छी चीज है और दूसरे पक्ष की बातें जानने की उत्सुकता पाठक में बनाए रहती है। 'कला एवं शिल्प के उपादान' से हमारे शिल्पी और कलाकार यदि सहमत हो सकते! 'युद्ध और अहिंसा' जैसा बौद्धिक सामग्री वाला लेख और सेगाँव और उसके संत के संबंध में भावुक-भक्ति पूर्ण वर्णन को पढ़कर पाठक संपादन-नीति का समर्थन ही करेगा। कविताओं में 'ओ गाँव से आनेवाले बता' की भाषा कुछ अजीब सी है; 'माताओं' को जबरदस्ती 'मावों' बनाना आजकल कौन स्वीकार करेगा? अस्तु।

बिहार से सचमुच यह एक पुष्ट चीज निकली है। संपादकों ने ऐसी कुशलता निबाही और यदि उन्हें साहित्यकारों का सहयोग इसी प्रकार मिलता रहा तो इसमें संदेह नहीं कि अपनी कोटि की पत्रिकाओं में बहुत शीघ्र 'आरती' अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेगी।

—शं० बा०।

समीक्षार्थ प्राप्त

अतृप्त मानव—लेखक श्री वृजेंद्रनाथ गौड़; प्रकाशक रत्नमंदिर उर्मिला कार्यालय, लखनऊ; मूल्य ॥)।

अनंत आनंद की ओर—प्रकाशक श्री लक्ष्मीनारायण राजपाल बी० ए०, लक्ष्मीभवन झाँसी; मूल्य ।)।

अनुराधा—लेखक श्री श्यामसुंदर पंड्या; प्रकाशक गयाप्रसाद एंड संस, आगरा; मूल्य अज्ञात।

आस्ट्रिया—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय; इलाहाबाद; मूल्य ।=)।

इराक—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मूल्य ।=)।

ऋभुदेवता—लेखक श्री भगवद्दत्त वेदालंकार; प्रकाशक चमूपति साहित्य विभाग गुरुदत्तभवन लाहौर; मूल्य ॥) ।

कादंबरी कथासार—लेखक श्री गुलाबराय; प्रकाशक गयाप्रसाद एंड संस, आगरा; मूल्य ॥≈) ।

कानन—लेखक श्री जानकीवल्लभ शास्त्री; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मूल्य १॥) ।

कायाकल्प—लेखक तथा प्रकाशक बुद्धदेव विद्यालंकार, गुरुदत्त भवन लाहौर; मूल्य १) ।

गायत्री-पुरश्चरणम्—लेखक तथा प्रकाशक श्री विश्वेश्वरदयालुजी वैद्य, बरालोकपुर, इटावा; मूल्य ।) ।

चेकोस्लोवेकिया—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मूल्य ॥) ।

जर्मनी का आक्रमण नार्वे पर—लेखक श्री उमेशचंद्र मिश्र; प्रकाशक इंडियन प्रेस लि० इलाहाबाद; मूल्य ॥) ।

जाट इतिहास—लेखक ठाकुर श्री देशराज; प्रकाशक ब्रजेंद्र साहित्य समिति, आगरा; मूल्य ५) ।

जाट इतिहास—लेखक ठाकुर श्री देशराज; प्रकाशक मित्रमंडल प्रेस, राजामंडी, आगरा; मूल्य ॥) ।

जाटराष्ट्र-निर्माता—लेखक ठाकुर श्री देशराज; प्रकाशक मारवाड़ जाट सभा, नागौर, जोधपुर; मू० ॥) ।

जानते हो ?—लेखक श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; मू० ॥।) ।

जेलकहानी—लेखक श्री खुशहालचंद; प्रकाशक श्रोमप्रकाश सूरि; मिलाप पुस्तकालय, लाहौर; मू० १) ।

तरुणाई के बोल—लेखक ठाकुर श्री देशराज; प्रकाशक मित्रमंडल, प्रेस, राजामंडी, आगरा; मू० ।) ।

दंपता—लेखक श्री राधाकृष्णप्रसाद; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; मू० ॥≈) ।

धर्मवीर जुझार तेजा—लेखक तथा प्रकाशक श्री रिछपाल सिंह, धमैड़ा मालागढ़, जिला बुलंदशहर; मू० —)।

नहुष—लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी; मू० ।=)।

नागरिक जीवन भाग १-२—लेखक श्री गोरखनाथ चौबे; प्रकाशक रामनारायणलाल, इलाहाबाद; मू० ।=)।

पड़ोसी—लेखक श्री श्रीनाथसिंह; प्रकाशक नेशनल लिटेरचर कंपनी १०५ काटनस्ट्रीट, कलकत्ता; मू० १।=)।

पारिजात—लेखक श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मू० ४)।

पेलेस्टाइन—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मू० ।=)।

पोलैंड—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मू० ।=)।

प्रतियोगिता-पथ-प्रदर्शक—लेखक श्री नंदकिशोर शर्मा और श्री रंजनलाल जैन; प्रकाशक किशोर एंड कंपनी देहली; मू० १।।)।

प्राचीन जीवन—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मू० ।=)।

प्रिय-प्रवास दर्शन—लेखक श्री लालधर त्रिपाठी; प्रकाशक साहित्योद्यान विक्टोरिया पार्क, बनारस; मू० १)।

फिनलैंड—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मूल्य ।=)।

बरमा—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मूल्य ।=)।

बलिदान—लेखक श्री नरवरी; प्रकाशक सार्वदेशिक सभा, बलिदान भवन, दिल्ली; मूल्य ।।)।

बेकारी और हिंदू मुसलिम समस्या का एकमात्र उपाय—लेखक श्री रामशरण गुप्त; प्रकाशक हिंदुस्तानी व्यापारसंघ, दिल्ली; मू० —)।

बेल्जियम—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मूल्य ।=)।

ब्राह्मणोत्पत्ति दर्पण—लेखक श्री प्रभुदयाल शर्मा; प्रकाशक शर्मन प्रेस, इटावा; मूल्य १)।

भारतीय दर्शन-परिचय, न्याय दर्शन—लेखक श्री हरिमोहन झा; प्रकाशक पुस्तक भंडार, लहेरियासराय।

भारतीय सभ्यता का विकास—लेखक श्री कालिदास कपूर; प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; मूल्य ||)।

मानव—लेखक तथा प्रकाशक श्यामबिहारी शुक्ल; साहित्य-निकेतन, कानपुर।

मिश्र—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मूल्य |||)।

यूगोस्लैविया—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मूल्य ।=)।

रसवंती—लेखक श्री दिनकर; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरिया-सराय; मूल्य |||)।

राजदुलारी—प्रकाशक इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, मूल्य १)।

राजस्थान के ग्रामगीत—लेखक श्री सूर्यकरण पारीक; प्रकाशक गयाप्रसाद एंड संस, आगरा; मूल्य |||)।

रूमानिया—संपादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद; मू० ।=)।

लोकव्यवहार—लेखक श्री संतराम; प्रकाशक इंडियन प्रेस, इलाहाबाद; मू० २)।

विश्वदर्शन—लेखक श्री ब्रजनंदनसहाय 'ब्रजवल्लभ'; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मू० १)।

वेश्या—लेखक श्री कृष्णानंद अवस्थी; प्रकाशक आर्ट प्रेस, कानपुर; मूल्य १)।

शार्दूल—लेखक श्री लालधर त्रिपाठी; प्रकाशक साहित्योद्यान, ७० विक्टोरिया पार्क, काशी; मूल्य १) ।

सनाढ्य पारिजात—लेखक श्री रामसहाय जी मिश्र; प्रकाशक शर्मन प्रेस, इटावा; मूल्य ॥) ।

साहित्य-लहरी—टीकाकार श्री महादेवप्रसाद; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; मूल्य १॥) ।

सीताराम संग्रह—संपादक श्री हरदयालुसिंह, प्रकाशक इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ।

सूर : एक अध्ययन—लेखक श्री शिखरचंद जैन; प्रकाशक नरेंद्र साहित्यकुटीर, इंदौर; मूल्य ॥।) ।

स्वस्तिका—लेखक श्री निरंकारदेव सेवक; प्रकाशक हिंदीप्रचारिणी सभा, बरेली कालेज, बरेली; मूल्य ॥≈) ।

स्वामी—लेखक शरच्चंद्र, अनुवादक श्री रूपनारायण पांडेय; प्रकाशक इंडियन प्रेस, इलाहाबाद; मूल्य ॥) ।

हमारे गद्य-निर्माता—लेखक श्री प्रेमनारायण टंडन; प्रकाशक गयाप्रसाद ऐंड संस, आगरा; मूल्य १.) ।

हलचल—लेखक तथा प्रकाशक श्री चंद्रभाल; खजांची महल्ला, अलमोड़ा; मूल्य ॥) ।

हिंदी भाषा और साहित्य का विकास—लेखक श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मू० ५) ।

हिंदू त्यौहारों का मनोरंजक आदिकारण—लेखक तथा प्रकाशक श्री रामप्रसाद, हेडमास्टर गवर्नमेंट हाईस्कूल, बस्ती; मूल्य १) ।

———

विविध

संस्कृत का महत्त्व

प्रधानभाषा-पक्ष

नवम आल इंडिया ओरिएंटल कान्फरेंस (अखिलभारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन) के सभापति डाक्टर एफ० डब्ल्यू० टामस, एम० ए०, पी०-एच० डी०, डी० लिट०, सी० आइ० ई० ने २१ दिसंबर १९३७ ई० को कान्फरेंस के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष-पद से संस्कृत भाषा का महत्त्व बताते हुए कहा था (कान्फरेंस का सविस्तर विवरण इस वर्ष प्रकाशित हुआ है):

किसी देश्य भाषा की अपेक्षा संस्कृत से विशेष लाभ यह है कि यह बहुतेरी आर्य तथा द्राविड़ भाषाओं में परस्पर स्पर्धी व्युत्पन्न शब्दों की एक ही प्रकृति के रूप में प्रसिद्ध है। वाक्य-रचना का अपेक्षित विधान संस्कृत में किसी देश्य भाषा से बड़ा होना आवश्यक नहीं है। भारत से बाहर उन देशों के साथ अंत:संबंध सरल बनाने में संस्कृत से सुविधा होगी, जिनका धार्मिक साहित्य संस्कृतमूलक है, जिनके विस्तार के अंतर्गत·· ·· मध्य और पूर्वीय एशिया का एक बड़ा भाग है।

इसलिये मैं यह नहीं मानता कि संस्कृत का भारतवर्ष के लिये एक सामान्य साहित्यिक माध्यम का स्थान पुनः ग्रहण करना एक सर्वथा गई-बीती बात है; क्योंकि इसके विकल्प ये ही हैं कि या तो ऐसा कोई माध्यम न हो (अँगरेजी को छोड़कर, जो—यह स्मरण रखना चाहिए—कितनी ही आवश्यक भारतीय कल्पनाओं के लिये स्वयं असमर्थ है) या अनिवार्य अनिच्छाओं के रहते किसी एक देश्य भाषा का प्राधान्य हो जाय।

(कान्फरेंस का विवरण, पृष्ठ ४०५—अनूदित)

बंबई हिंदी-विद्यापीठ के द्वितीय अधिवेशन में, २० अक्तूबर १९४० ई० को श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी शास्त्राचार्य ने देश की भाषा-समस्या पर प्रवचन करते हुए कहा है :—

संक्षेप में बात इस प्रकार है कि—

(१) भारतवर्ष के दर्शन-विज्ञान आदि की भाषा सदा संस्कृत रही है।

(२) उसके धर्म-प्रचार की भाषा अधिकांश में संस्कृत रही है, यद्यपि बीच बीच में साहित्य के रूप में और सदैव बोलचाल के रूप में देशी भाषाएँ भी इस प्रयोजन के लिये काम में लाई जाती रही हैं।

(३) आज से चार पाँच सौ वर्ष पहले तक व्यवहार, न्याय और राजनीति की भाषा भी संस्कृत ही रही है। पिछले चार-पाँच सौ वर्षों से विदेशी भाषा ने इस क्षेत्र को दखल किया है।

(४) काव्य के लिये सदा से ही कथ्य देशी भाषाएँ काम में लाई गई हैं और संस्कृत भी सदा इस कार्य के उपयुक्त मानी गई है।

× × × ×

परंतु मित्रो, हम अब संस्कृत को फिर से नहीं पा सकते। अगर बीच में अँगरेजी ने आकर हमारी परंपरा को बुरी तरह तोड़ न भी दिया होता तो भी आज हम संस्कृत को छोड़ने को बाध्य होते; क्योंकि वह जनसाधारण की भाषा नहीं हो सकती।

× × × ×

हमें एक ऐसी भाषा चुन लेनी है जो हमारी हजारों वर्ष की परंपराओं से कम से कम विच्छिन्न हो और हमारी नूतन परिस्थिति का सामना अधिक से अधिक मुस्तैदी से कर सकती हो; संस्कृत न होकर भी संस्कृत सी हो और साथ ही जो प्रत्येक नए विचार को, प्रत्येक नई भावना को अपना लेने में एकदम हिचकिचाती न हो—जो प्राचीन परंपरा की उत्तराधिकारिणी भी और नवीन चिंता की वाहिका भी हो।

संस्कृत भारत की यथार्थ राष्ट्रभाषा, 'भारती' थी। अब वह ऐसी प्रधानभाषा नहीं हो सकती तो जो 'देश्य भाषा' प्रधान सिद्ध हो रही है वह सहज ही उसकी उत्तराधिकारिणी है, 'संस्कृत न होकर संस्कृत सी' है, 'प्राचीन परंपरा की उत्तराधिकारिणी भी और नवीन चिंता की वाहिका भी' है—अर्थात् हिंदी भाषा। अब भी संस्कृत का प्रभाव जीवंत है, उसकी उपादेयता प्रमाणित है। संस्कृत का महत्त्व अनुपेक्ष्य है।

प्राचीन (आकर) भाषा-पक्ष

श्री वीरभद्रप्पा के बंगलोरनगरस्थ संस्कृत-वेद-पाठशाला के रजत-जयंती-महोत्सव के अवसर पर, १० फरवरी १९४० ई० को, सर मिर्जा इसमाईल ने भाषण करते हुए कहा था :

मैं नहीं जानता कि यह अत्युक्ति मानी जायगी या नहीं यदि मैं कहूँ कि संस्कृत का अध्ययन बुद्धिविलास से बढ़कर ही कुछ वस्तु है। यदि यह मानना स्पष्टतः कठिन होगा कि इस भाषा या इसके साहित्य का ज्ञान साधारण जन के व्यावहारिक जीवन में अपेक्षित है, तो मैं समझता हूँ कि यह कुछ भी अयुक्त न होगा यदि मैं कहूँ कि हमारे शिक्षित युवक अपने समय तथा शक्ति का एक भाग इस महिमामयी और आश्चर्यमयी भाषा का एक अच्छा सा ज्ञान उपार्जन करने में लगाकर अपना हित ही करेंगे। और इतिहास के अध्यवसायी विद्यार्थी के संबंध में तो, जो भारत के अतीत की महत्ता समझना चाहता है, मुझे संदेह है यदि वह संस्कृत के बिना सचमुच काम चला सकता है। क्योंकि भारत की प्राचीन सभ्यता का सार ही संस्कृत साहित्य है और इसमें हिंदू धर्म का सारतत्त्व प्रतिष्ठित है।

यद्यपि हिंदू धर्म और संस्कृत विद्या का इस प्रकार सहयोग है तथापि यह भाषा तथा इसका साहित्य स्वयं जो आकर्षण वहन करते हैं वह भौगोलिक और धार्मिक सीमाओं को पार कर जाता है।

(अनूदित)

संस्कृत की उपेक्षा पर किए गए एक प्रश्न का महात्मा गांधी ने रामगढ़ से १७ मार्च १९४० ई० को उत्तर लिखा था। २३ मार्च १९४० ई० के 'हरिजन' में प्रकाशित वह प्रश्नोत्तर यह है :

प्र०—क्या आप जानते हैं कि पटना विश्वविद्यालय ने संस्कृत का अध्ययन व्यवहारतः बहिष्कृत कर दिया है? क्या आप इस व्यवहार को ठीक मानते हैं? यदि नहीं, तो क्या आप अपना मत 'हरिजन' में प्रकट करेंगे?

उ०—मैं नहीं जानता कि पटना विश्वविद्यालय ने क्या किया है। पर मैं आपसे इस बात में पूर्णतः सहमत हूँ कि संस्कृत के अध्ययन की खेदजनक उपेक्षा हो रही है। मैं उस पीढ़ी का हूँ जो प्राचीन भाषाओं के अध्ययन में विश्वास रखती

थी। मैं नहीं मानता कि ऐसा अध्ययन समय और उद्योग का अपव्यय है। मैं तो मानता हूँ कि यह आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में सहायक है। जहाँ तक भारत का संबंध है, यह बात किसी और प्राचीन भाषा की अपेक्षा संस्कृत के पक्ष में अधिक सत्य है और प्रत्येक राष्ट्रवादी को इसका अध्ययन करना चाहिए; क्योंकि इससे प्रांतीय भाषाओं का अध्ययन अन्य उपायों की अपेक्षा सुगमतर होता है। यह वह भाषा है जिसमें हमारे पूर्वपुरुष सोचते और लिखते थे। किसी हिंदू बालक या बालिका को संस्कृत के प्राथमिक ज्ञान से हीन नहीं रहना चाहिए, यदि उसे अपने धर्म की आत्मा का सहज बोध पाना है। यों गायत्री अनुवाद्य नहीं है। किसी अनुवाद में उसके मूल की संगीति नहीं मिल सकती जो, मैं मानता हूँ कि, अपना ही अर्थ रखती है। मैंने जो कहा है उसका गायत्री एक उदाहरण है।

(अनूदित)

कवि-मनीषी श्री रवींद्रनाथ ठाकुर का 'डाक्टर आव लेटर्स' की उपाधि से समादर करने के लिये आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने ७ अगस्त १९४० ई० को शांतिनिकेतन में ही जो विशेष उपाधिदानोत्सव मनाया था उस ऐतिहासिक अवसर पर लैटिन भाषा के समादरवचन का उत्तर संस्कृत में देकर श्री ठाकुर ने इस प्राचीन 'भारती' के गौरव का मान किया था। श्री ठाकुर के स्वागतवचन तथा स्वीकारवचन के लिये धन्यवाद देते हुए विश्वविद्यालय के प्रमुख प्रतिनिधि सर मारिस ग्वीअर ने कहा था :

मैं विश्वविद्यालय को आपकी स्वीकृति के शुभ शब्द पहुँचाना भूलूँगा नहीं, जो उस प्राचीन वाणी (संस्कृत) में कहे गए हैं—उस पूज्या जननी (वाणी) में—जिससे विश्वविद्यालय के समादर की भाषा (लैटिन) और यह भाषा जो मैं अब बोल रहा हूँ (अँगरेजी) समान रूप से अपना अपना उद्भव पाती हैं।

(अनूदित)

पर लैटिन तथा ग्रीक का इँगलैंड की शिक्षा-दीक्षा में अब भी सम्मान है और संस्कृत का भारत की शिक्षा-दीक्षा में ही अनुदिन अवमान हो रहा है !

भारत में संस्कृताध्ययन के प्रचार के लिये तर्क उपस्थित करते हुए, अक्तूबर १९४० ई० के 'माडर्न रिव्यू' में श्री सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी एम० ए०, व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ ने लिखा है

शिक्षा की आधुनिक दृष्टि से चकाचौंध में आए हुए हमारे शिक्षाधिकारी भारत में संस्कृताध्ययन की उपेक्षा से अगली संतति को होनेवाली बड़ी हानि को समझते नहीं। तथाकथित 'पाश्चात्यीकरण' के उत्साह में वे संस्कृताध्ययन को मृत और अनुपयुक्त विषय मानकर उसकी अवहेला करते हैं। परंतु उन्हें जानना चाहिए कि इँगलैंड में उनके सगोत्र प्राचीन भाषाओं की महत्ता और उपयोगिता के प्रति उदासीन नहीं हैं। वे न केवल अपनी शिक्षा योजना में प्राचीन भाषाओं को विशेष स्थान देते हैं, अपितु उन्हें और लोकप्रिय बनाने का उद्योग करते हैं। आगे हम "संयुक्त राज्य की शिक्षा व्यवस्था में प्राचीन भाषाओं के स्थान की जाँच करने के लिये ब्रिटिश शासन द्वारा नियुक्त समिति के कार्यविवरण' से उद्धरण देना चाहते हैं। विवरण पर एक चलते दृष्टिपात से भी यह मानना होगा कि राष्ट्रीय शिक्षा में प्राचीन भाषाएँ विशेष स्थान की अधिकारिणी हैं। यहाँ यह साफ समझ लेना चाहिए कि लैटिन और ग्रीक का अँगरेजी से वैसा निकट संबंध नहीं है जैसा संस्कृत का आधुनिक भारतीय भाषाओं से है। आधुनिक भारतीय शब्दों में से बहुतेरे अब भी शुद्ध संस्कृत रूप में व्यवहृत हैं और शेष (विदेशी शब्दों को छोड़कर) संस्कृत से आए हैं।

(अनूदित)

जिस समिति के कार्यविवरण से लेखक ने आगे उद्धरण दिए हैं वह १९१९ ई० में ग्रेट ब्रिटेन के प्रधान सचिव द्वारा "संयुक्त राज्य की शिक्षा व्यवस्था में प्राचीन भाषाओं (ग्रीक और लैटिन) का दातव्य स्थान की जाँच करने के लिये और वे उपाय बताने के लिये जिनसे इन भाषाओं का उचित अध्ययन रक्षित और उन्नत हो" नियुक्त हुई थी। समिति ने बहुत व्यापक और श्रमपूर्ण जाँच के बाद १९२१ ई० में अपना विवरण प्रस्तुत किया था। ३०० से अधिक पृष्ठों के घने मुद्रण का वह बहुमूल्य ग्रंथ १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था।

उससे जो उपयुक्त उद्धरण लेखक ने दिए हैं वे पाठक 'माडर्न रिव्यू' के उक्त अंक में देखें। यहाँ हम वह अंतिम उद्धरण ही प्रस्तुत करते हैं जो विवरण के उपसंहार का एक अंश है :

हमने यह पाया कि राष्ट्रीय प्रगति, राष्ट्रीय जीवन और विचार का कोई क्षेत्र नहीं है जो किसी न किसी प्रकार हमारे विषय का स्पर्श नहीं करता। प्राचीन विचार हमारे आधुनिक जीवनपट में अंतःस्यूत है .. .यदि प्राचीन भाषाओं का अध्ययन हमारी शिक्षा से लुप्त हो गया या समाज के एक लघुवर्ग में ही सीमित रह गया तो यह एक राष्ट्रीय विपत्ति होगी, यह प्रत्येक विचारशाखा के लोगों का मत है। ...जो उत्तम बुद्धि की वृद्धि में सहायक होता है वह (अध्ययन) हमारी जनता में किसी को अलभ्य नहीं होना चाहिए।

(पृ० २६८—अनूदित)

यहाँ अब यह कहना न होगा कि ये विचार इँगलैंड में ग्रीक और लैटिन के पक्ष की अपेक्षा भारत में संस्कृत के पक्ष में कहीं अधिक सत्य हैं।

भारत में संस्कृत का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। यह भारत की 'भारती' रह चुकी है। अब प्रधानभाषा के रूप में नहीं तो प्राचीन-भाषा, आकरभाषा के रूप में यह अवश्य सम्मान्य है। इसके द्वारा भारत की राष्ट्रीय एकता का युग युग से निर्वाह हुआ था और इसका ध्यान रखकर यह निर्वाह अब भी सुकर है। राष्ट्रीय संस्कार तथा व्यवहार का इसके सम्मान में ही हित है।

हम सविश्वास आशा करते हैं कि भारत के राष्ट्रीय पुनर्विधान के अधिकारी-गण राष्ट्रीय शिक्षा-दीक्षा में एवं राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रवाङ्मय के निर्माण में प्राचीन भारती संस्कृत के महत्त्व का ध्यान रखकर राष्ट्रहित के विचार से ही इसका समुचित मान करेंगे।

भारत की प्रादेशिक भाषाओं के लिये समान वैज्ञानिक शब्दावली

भारत-सरकार ने अब "भारत की प्रादेशिक भाषाओं के लिये समान वैज्ञानिक शब्दावली के निश्चय" की ओर ध्यान दिया है। उसकी शिक्षा की केंद्रीय परामर्शदात्री परिषद् ने ६ और ७ मई १९४० ई० को शिमला में हुई अपनी पाँचवीं वार्षिक बैठक में इस विषय का भी विचार किया था। परिषद् के विचार का आधार इस विषय की एक योजना थी जो श्री वी० एन० सील, आइ० ई० एस०, बंबई की जन-शिक्षा के डिप्टी डाइरेक्टर ने बंबई सरकार के कहने पर प्रस्तुत की थी। उस योजना की मुख्य बातें ये हैं :

१—समस्त भारत के लिये एक समान वैज्ञानिक शब्दावली निश्चित हो जाय;

२—अखिलभारतीय वैज्ञानिक शब्दावली का प्रश्न पहले एक अधिकारी अखिलभारतीय समिति के आगे उपस्थित किया जाय ;

३—वैज्ञानिक शब्दावली का मुख्य और समान भाग जो प्रमुख भारतीय भाषाओं के लिये प्रस्तुत होगा वह व्यापक रूप से अँगरेजी शब्दावली से ग्रहण किया जाय ;

४—प्रत्येक भारतीय भाषा की वैज्ञानिक शब्दावली में निम्नलिखित तीन मुख्य भाग हों—

(क) मुख्य अँगरेजी शब्दावली जो व्यवहारतः समस्त भारत के लिये समान शब्दावली होगी,

(ख) किसी भारतीय भाषा के लिये विशेष शब्दावली—एक बहुत छोटा भाग ,

(ग) संस्कृत या फारसी-अरबी शब्दावली—संख्या में अपेक्षाकृत छोटी—भाषा संस्कृतमूलक है या द्राविड़मूलक, उर्दू है या पश्तो या सिंधी, इस विचार से ली गई या गढ़ी गई ;

५—विभिन्न वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय विषयों के लिये—जैसे गणित, शरीर-पंजर-विज्ञान, शरीरवृत्ति-विज्ञान, अर्थशास्त्र, वैज्ञानिक दर्शन, आधुनिक तर्कशास्त्र इत्यादि—प्रामाणिक शब्दावलियाँ निश्चित हो जायँ ;

६—जैसे ही वैज्ञानिक शब्दावली की सूचियाँ स्वीकृत हो जायँ, प्रमुख भारतीय भाषाओं में शिक्षा की सभी श्रेणियों के लिये पाठ्य पुस्तकें लिखाई जायँ और सभी अन्य शब्दावलियाँ अवहेलित की जायँ;

७—प्रांतीय सरकारों से कहा जाय कि वे ४ (ख) की शब्दावली को निश्चित और प्रमाणित करने के लिये विद्वानों की छोटी प्रतिनिधि समितियाँ बनाएँ; और—

८—शिक्षा की केंद्रीय परामर्शदात्री परिषद् एक स्थायी विचार समिति बनाए जिसके मत सभी शिक्षाधिकारियों और शिक्षा-संस्थाओं को अवश्य मान्य हों।

भारत की प्रादेशिक भाषाओं के लिये समान वैज्ञानिक शब्दावली के प्रस्ताव को परिषद् ने स्वीकृत किया, किंतु उसे यह प्रतीत हुआ कि प्रस्तुत प्रयोजन अँगरेजी शब्दावली के ग्रहण से उत्तमता से सिद्ध हो सकेगा। परंतु इस विषय के विस्तृत अनुसंधान के लिये परिषद् ने निम्नलिखित समिति नियुक्त की और इसे यथावश्यकता और सदस्य चुन लेने का अधिकार दिया :

१—महामाननीय सर अकबर हैदरी, एल्-एल० डी०, निजाम सरकार की शासन-परिषद् के प्रधान—सभापति।

२—माननीय दीवानबहादुर सर के० रामुनी मेनन।

३—श्री एस० सी० त्रिपाठी, आइ० ई० एस०, उड़ीसा की जनशिक्षा के डाइरेक्टर।

४—श्री डब्ल्यू० एच० एफ० आर्मस्ट्राँग, आइ० ई० एस०, पंजाब की जनशिक्षा के डाइरेक्टर।

५—डाक्टर सर जियाउद्दीन अहमद।

६—पंडित अमरनाथ झा, प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर।

७—डाक्टर यू० ए० दाऊदपोटा, एम० ए०, पी-एच० डी०, सिंध की जनशिक्षा के डाइरेक्टर।

८—भारत सरकार के शिक्षा-कमिश्नर।

इस समिति के कार्य-विवरण का, प्रस्तुत होने पर, परिषद् परीक्षण करेगी।

उपर्युक्त सूचना के लिये हम सितंबर १९४० ई० के 'माडर्न रिव्यू' के ऋणी हैं।

समिति की बैठक १५ और १६ अक्तूबर १९४० ई० को हैदराबाद (दक्षिण) में हुई है। उसमें ये चार और सदस्य चुन लिए गए हैं :

१—डाक्टर अब्दुल हक, अखिलभारतीय अंजुमन-तरक्कीए-उर्दू दिल्ली के मंत्री।

२—डाक्टर एस० एस० भटनागर, ओ० पी० ए०, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान के डाइरेक्टर।

३—डाक्टर मोजफ्फरउद्दीन कुरैशी, उस्मानिया विश्वविद्यालय के रसायन के आचार्य और रसायन विभाग के अध्यक्ष।

४—नवाब मेहदी यार जंग बहादुर, उस्मानिया विश्वविद्यालय के वाइस चासलर और निजाम-सरकार के शिक्षा-सदस्य—विशेष रूप से निमंत्रित।

इस प्रकार समिति में पूरे बारह सदस्य हो गए हैं। उस बैठक का और विवरण अभी हमें उपलब्ध नहीं है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के लिये समान वैज्ञानिक शब्दावली का निश्चय राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य है। इसका संपादन भारतीय दृष्टि से व्यापक और गंभीर विचार के द्वारा होना चाहिए। यह कार्य देश के कितने ही अधिकारी व्यक्तियों और संस्थाओं ने, जब से भारत की आधुनिक भाषाओं में वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय रचनाएँ होने लगीं तब से ही, किया है। उन्होंने प्रथमत: अपनी अपनी प्रादेशिक भाषाओं के लिये ही शब्दावलियाँ निश्चित की हैं, परंतु भारतीय दृष्टि रखने के कारण वे उन्हें शेष भारतीय भाषाओं के लिये भी बहुत कुछ समान रूप से उपयोगी बना सके हैं। क्योंकि भारतीय भाषाओं में प्रादेशिक विभिन्नताएँ होते हुए भी एक मौलिक समानता है। किंतु, सम्मिलित और संघटित कार्य न होने के कारण, उन शब्दावलियों का अखिलभारतीय महत्त्व ही रहा है, उनसे अखिलभारतीय व्यवहार का निश्चय नहीं हो सका है। भारत-सरकार की शिक्षा-परिषद् ने अब इस ओर ध्यान दिया है। सरकारी परिषद् के द्वारा अपेक्षित कार्य संपन्न हो जायगा, इसका हमें

सकती है और संस्कृत से ही कैसे सभी आधुनिक पारिभाषिक शब्द लिए या गढ़े जा सकते हैं। इनका स्पष्ट समाधान यह है कि भारत में आर्य और द्राविड़ परिवार के बाहर अरबी अर्थात् सेमिटिक परिवार की कोई भाषा नहीं है, पश्तो भी नहीं—उर्दू की तो बात ही क्या जो हिंदी की ही एक कृत्रिम शैली है। अरबी-फारसी का अभारतीय प्रभाव इन दो भाषाओं या बोलियों को छोड़कर, जिनका क्षेत्र बहुत छोटा है, अन्यत्र नगण्य है। भारत की शेष प्रादेशिक भाषाओं के लिये संस्कृत ही आकरभाषा है। यह उनकी मौलिक समानता है। देश की बहुतेरी प्रमुख भाषाओं मे तो स्वभावतः संस्कृतप्रधान पारिभाषिक शब्दावलियाँ चलती आई हैं; कितनों ही में, जैसे हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती और शायद तामिल में भी आधुनिक वैज्ञानिक शब्दों के अच्छे संग्रह प्रकाशित हैं। रही संस्कृत से ही सभी पारिभाषिक शब्दों के ग्रहण या निर्माण की बात। इसमें यह ध्यान रखना है कि एक तो संस्कृत बड़ी संपन्न भाषा है, इसमें कितने ही शब्द तैयार मिल जाते हैं और शेष इससे गढ़े जा सकते हैं। योरप मे प्रचलित वैज्ञानिक शब्दावलियाँ प्रायः ग्रीक से गढ़ी ही गई हैं। (ग्रीक संस्कृत की सगी छोटी बहिन है।) दूसरे कुछ ऐसे वैज्ञानिक शब्द, जो बहुत ही प्रचलित हैं और जिनके संस्कृत प्रतिशब्द यथेष्ट उपयुक्त नहीं बनते, संस्कृत रूप में स्वीकृत किए जा सकते हैं। संस्कृत वाङ्मय में ग्रीक और अरबी के भी शब्द संस्कृत बनकर व्यवहृत हुए हैं। सारांश यह कि जैसे भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी होनी चाहिए वैसे ही राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दावली संस्कृत होनी चाहिए—'हिंदुस्तानी' नहीं, अँगरेजी नहीं। सांप्रदायिक भाव तथा अदूरदर्शी धारणा को छोड़, हमारी दृष्टि में, कोई तर्क इस सिद्धांत का बाधक नहीं है।

सरकारी परिषद् के प्रति अविश्वास और क्षोभ का दूसरा और बड़ा कारण उसके द्वारा उपर्युक्त समिति की नियुक्ति है। हमने ऊपर जो उसकी धारणा का निराकरण कर उस सिद्धांत का उपस्थापन किया है वह इस समिति के आगे तो व्यर्थ है। इस समिति के

सदस्यों का निरादर नहीं करते। हम तो उस मूलभूत योजना के अनुसार इस विषय के विस्तृत अनुसंधान के लिये एक अधिकारी अखिल-भारतीय समिति की आवश्यकता समझते हैं और इस समिति को देखकर हताश होते हैं। पहले आठ सदस्यों के चुनाव में सरकारी जनशिक्षा-विभाग के चार अधिकारियों के रखे जाने से समिति सरकारी तो सिद्ध हुई थी, परंतु उनके तथा शेष तीन सदस्यों और सभापति महोदय के रहने से भी यह अधिकारी और अखिलभारतीय नहीं हुई थी। क्योंकि इसके सदस्यों का चुनाव भारतीय भाषाओं की विशेषज्ञता और प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की दृष्टि से नहीं हुआ था, यह तो स्पष्ट है; पर पिछले चार अतिरिक्त सदस्यों के चुनाव से तो कुछ और ही अर्थ की व्यंजना होती है। बारह सदस्यों की समिति में छ: का उर्दू चेत्र का होना (उनमें चार का उस्मानिया विश्वविद्यालय से, एक का अलीगढ़ विश्वविद्यालय से और एक का अंजुमन-तरक्कीए-उर्दू से संबद्ध होना); एक का ही हिंदी-चेत्र का होना; बँगला, मराठी, गुजराती, तामिल जैसी प्रमुख भाषाओं के चेत्र से एक का भी न होना; दो विदेशियों का होना; और देश के अधिकारी विद्वानों, विद्वत्सभाओं और विश्वविद्यालयों की पूरी अवहेला होना—ये बातें इस विषय में भी सांप्रदायिक पक्षपात की व्यंजना करती हैं, वैसे ही जैसे 'हिंदुस्तानी' के विषय में। क्या हम समझें कि अँगरेजी की आड़ में अरबी के लिये यह कूटयोजना चल रही है? और यह भारत-सरकार के द्वारा ही? हम मानना नहीं चाहते कि भारत-सरकार यह घोर अन्याय कर रही है। अत: हम उसका ध्यान अपने ऊपर के वक्तव्य की ओर दिलाते हुए अब भी आशा करते हैं कि वह इस भारतीय महत्त्व के कार्य में शीघ्र उचित सुधार कर न्याय्य नीति का अनुसरण करेगी। आशा है वह इस विषय में नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकार को समझेगी।

—कृ।

सभा की प्रगति

पुस्तकालय

श्रावण १९९७ के अंत में पुस्तकालय के सहायकों की संख्या १०७ थी। तब से कार्तिक के अंत तक १५ सहायक नए हुए और ९ सहायकों ने अपने नाम कटा लिए। अब कार्तिक के अंत में सहायकों की संख्या ११३ है।

श्रावण के अंत में पुस्तकालय में हिंदी की छपी हुई पुस्तकों की संख्या १५४३२ थी। इस समय वह १५६०२ है। जिन लेखकों तथा प्रकाशकों ने अपनी पुस्तकें सभा को बिना मूल्य दी हैं उन्हें सभा हृदय से धन्यवाद देती है।

श्रावण से कार्तिक तक ३ मास में पुस्तकालय ६२ दिन खुला रहा। अब सभा की प्रबंध-समिति ने यह निश्चय किया है कि पुस्तकालय की साप्ताहिक छुट्टी सोमवार के बदले शनिवार को रहा करे। प्र० स० ने यह भी निश्चय किया है कि मासिक, त्रैमासिक आदि पत्रिकाएँ सहायकों को घर ले जाने के लिये न दी जायँ।

कलाभवन

सौर भाद्रपद २ को संयुक्तप्रांतीय सरकार के परामर्शदाता डा० पन्नालाल, आइ० सी० एस० राजघाट से प्राप्त वस्तुओं का निरीक्षण कर बहुत प्रसन्न हुए।

राजघाट की रेलवे की खुदाई में पुरातत्त्वविभाग की ओर से कोई देखरेख न रहने के कारण प्राचीन महानगरी के ध्वंसावशेष शीघ्रता से नष्ट किए जा रहे थे। इस बात की ओर उक्त विभाग का ध्यान आकर्षित कराने के लिये कलाभवन से श्री विजयकृष्ण उक्त विभाग के डाइरेक्टर जनरल रावबहादुर काशीनाथ दीक्षित के पास दिल्ली भेजे गए। फलस्वरूप उन्होंने काशी आकर अपने विभाग के संरक्षण में खुदाई कराने की आज्ञा दे दी। इस खुदाई में निकली

वस्तुएँ दिल्ली भेज दी गई हैं और डाइरेक्टर जनरल महोदय ने समुचित परीक्षा और अध्ययन के बाद उन्हें कलाभवन में भेज देने का निश्चय किया है। डाइरेक्टर जनरल महोदय ने अब यह नीति निर्धारित की है कि सारनाथ संग्रहालय में केवल सारनाथ से प्राप्त वस्तुएँ और बनारस तथा आस पास के स्थानों से प्राप्त वस्तुएँ भारत-कलाभवन में रखी जायँगी। इस नीति के अनुसार पुरातत्त्व विभाग ने सारनाथ संग्रहालय से बहुत सी मूर्तियाँ तथा इमारती पत्थर भारत-कलाभवन को देने की कृपा की है। ये सब वस्तुएँ भारत-कलाभवन में आ गई हैं। इनमें गोवर्धनधारी कृष्ण की गुप्तकालीन विशाल मूर्ति बहुत सुंदर, भव्य एवं उत्कृष्ट है। दूसरी श्रेयांस की गुप्तकालीन मूर्ति भी उस समय और शैली का विशिष्ट उदाहरण है। अन्य सब वस्तुएँ भी कलापूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

गत तीन महीनों में प्राप्त वस्तुओं के अध्ययन के लिये पुरातत्त्व-विभाग के अनेक उच्च अधिकारी तथा विशेषज्ञ कलाभवन में आए। इनके अतिरिक्त अनेक संग्रहालयों के संग्रहाध्यक्ष तथा अन्य विशिष्ट कला-प्रेमी विद्वान् और श्रीमान् कलाभवन देखने आए।

चित्रकला विद्यालय

सभा ने यह निश्चय किया है कि श्री अंबिकाप्रसाद दुबे की अध्यक्षता में कलाभवन के अंतर्गत एक चित्रकला-विद्यालय खोला जाय। भवन, सामान आदि के लिये अभीष्ट धन प्राप्त होने पर कार्य आरंभ किया जाय और इसकी व्यवस्था के लिये निम्नलिखित सज्जनों की एक उपसमिति बना दी जाय—

श्री रामनारायण मिश्र — श्री राय कृष्णदास
श्री रामबहोरी शुक्ल — श्री अंबिकाप्रसाद दुबे

हिंदी-प्रचार

हिंदी-प्रचार के लिये श्री चंद्रबली पांडे एम० ए० ने लखनऊ, मेरठ, देहरादून, सहारनपुर, हरद्वार, बरेली आदि स्थानों में यात्रा की। उनके प्रयत्न का अच्छा फल हुआ और बहुत से सभासद भी बने।

बरेली की कचहरी में वहाँ के कुछ उत्साही हिंदी-प्रेमियों ने प्रयत्न करके एक हिंदी लेखक नियुक्त किया है। उसके खर्च के लिये इस सभा ने भी एक वर्ष तक ५) मासिक के हिसाब से सहायता देना स्वीकार किया है।

'हिंदी' (मासिक पत्र)

सभा ने निश्चय किया है कि उसके तत्त्वावधान में हिंदी नाम की एक मासिक पत्रिका निकले जिसका मुख्य उद्देश्य हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि का प्रचार तथा उस पर अनेक प्रकार से होनेवाले आघातों से उसकी रक्षा करना होगा। इसकी आर्थिक व्यवस्था से सभा का कोई संबंध न रहेगा, न इसकी नीति का दायित्व सभा पर होगा। इसकी व्यवस्था तथा नीति की देखरेख श्री चंद्रबली पांडे एम० ए० तथा श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ एम० ए०, एल० टी० करेंगे। इसमें सभा की नीति के विरुद्ध अथवा सभा की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल कोई बात होने पर सभा अपना सहयोग हटा लेगी।

श्री चंद्रबली पांडे इसके संपादक, प्रकाशक और मुद्रक होंगे।

प्रकाशन

सभा ने निम्नलिखित पुस्तकों के छापने का निश्चय किया—

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला में 'मोहन जो दड़ो'; बाला-बख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला में 'राजरूपक'; मनोरंजन पुस्तक-माला में 'गुरुद्वार', 'बाल-मनोविकास', 'संत कबीर' (नाटक), 'जीवन के आदर्श', 'रसखान और घनानंद' (दोनों के संशोधित संस्करण) और 'जीवन-रहस्य' (उर्दू पुस्तक का हिंदी अनुवाद); सूर्यकुमारी पुस्तक-माला में 'विश्वसाहित्य में रामचरितमानस' तथा नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला में 'तुलसी-ग्रंथावली' भाग २ (पुनर्मुद्रण)। इनके अतिरिक्त 'शब्द-सागर' खंड ३ तथा 'त्रिवेणी' के भी पुनर्मुद्रण का निश्चय हुआ है।

इनमें 'त्रिवेणी' तो छप चुकी है और 'मोहन जो दड़ो' छप रही है। 'राजरूपक', जो डिंगल साहित्य का एक अमूल्य रत्न है और

हिंदी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग के नए प्रकाशन

१—प्रेमघनसर्वस्व (प्रथम भाग)—व्रजभाषा के आचार्य स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की संपूर्ण कविताओं का सुसंपादित और संपूर्ण संग्रह। भूमिका माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और प्रस्तावना आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने लिखी है। मूल्य ४॥)।

२—वीरकाव्य संग्रह --हिंदी-साहित्य के वीररस के कवियों की चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कविताएँ और उनके साहित्य की विस्तृत आलोचना। संपादक श्री भागीरथप्रसाद दीक्षित साहित्यरत्न और श्री उदयनारायण त्रिपाठी एम० ए०। मूल्य २)।

३—डिंगल में वीररस—डिंगल भाषा के आठ श्रेष्ठ वीररस के कवियों की कविताएँ तथा उनकी साहित्यकृतियों की विस्तृत आलोचना। संपादक श्री मोतीलाल मेनारिया एम० ए०। मूल्य १॥)।

४—संक्षिप्त हिंदी साहित्य—हिंदी साहित्य का संक्षिप्त और आलोचनात्मक इतिहास। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक की हिंदी साहित्य की समस्त धाराओं तथा प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक लिखी गई है। लेखक पंडित ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'। मूल्य ॥)।

५—चित्ररेखा—हिंदी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि प्रोफेसर रामकुमार वर्मा एम० ए० की कविताओं का अपूर्व संग्रह। लेखक को इसी पुस्तक पर देव पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। मूल्य १॥)।

आधुनिक कवि—सुप्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए० की लिखी हुई अब तक की सर्वश्रेष्ठ कविताओं का संग्रह। यह संग्रह स्वयं कवयित्री ने किया है और पुस्तक के प्रारंभ में अपनी कविताओं की प्रवृत्तियों के संबंध में प्रकाश डाला है। मूल्य १॥)।

सम्मेलनपत्रिका

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की यह मुखपत्रिका है। इसमें प्रति मास पठनीय साहित्यिक लेख प्रकाशित होते हैं। हिंदी के प्रचार और प्रसार पर विस्तृत प्रकाश डाला जाता है। सम्मेलन की प्रगति का परिचय प्रतिमास मिलता रहता है। इसके संपादक साहित्य-मंत्री श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' हैं। वार्षिक मूल्य केवल १)।

पता—
साहित्यमंत्री,
हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग।

जिसका संपादन जोधपुर के पंडित रामकर्ण जी ने किया है, प्रेस में भेज दिया गया है। शेष सभी पुस्तकें धन के दुःखद अभाव में अभी रुकी पड़ी हैं।

'महावंस', जिसका अनुवाद श्री आनंद कौसल्यायन ने पाली से किया था और जिसके छापने का बहुत पहले निश्चय हो चुका था, प्रकाशित न हो सकने के कारण अनुवादक को लौटा दिया गया।

बा० ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल्-एल० बी० (काशी) ने अपनी संपादित पुस्तक 'सत्यहरिश्चंद्र' की १६०० छपी प्रतियाँ सभा को इसलिये कृपा कर भेंट की हैं कि भारतेंदु हरिश्चंद्र की पुस्तकों की एक माला इसी पुस्तक से आरंभ करके निकाली जाय। वे सभा के लिये इस माला की पुस्तकों का संपादन बिना किसी पारिश्रमिक के कर दिया करेंगे। इसके लिये सभा उनकी कृतज्ञ है।

सभा की अर्धशताब्दी और
महाराज विक्रमादित्य की द्विसहस्राब्दी

विक्रमीय द्विसहस्राब्दी की पूर्ति का समय अब निकट आ रहा है। उसी समय सभा के ५० वर्ष भी पूरे हो जायँगे। इस महान् अवसर पर सभा अपनी अर्धशताब्दी तथा विक्रमीय द्विसहस्राब्दी साथ साथ मनाएगी। सभा ने निश्चय किया है कि इस अवसर पर एक बृहद् महोत्सव किया जाय और भारत की सभी भाषाओं के विद्वानों की एक सभा की जाय। सभी लेखकों और कवियों से प्रार्थना की जाय कि वे इस विषय पर अपने अपने मंतव्य प्रकट करें और उन मंतव्यों को एक बड़े स्मारक ग्रंथ में प्रकाशित किया जाय तथा श्रीमानों की सहायता से एक शानदार स्मारक बनवाया जाय।

सभा देश के श्रीमानों, कवियों, लेखकों तथा विद्वानों से विशेष रूप से इस आनेवाले महोत्सव में सफलता के लिये सहयोग की प्रार्थना करती है।

सूचना—१ ज्येष्ठ से ३० कार्तिक १९९७ तक सभा में २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली अगली नामावली के साथ अगले अंक में प्रकाशित होगी। —सं०

हिंदी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग के नए प्रकाशन

१—प्रेमघनसर्वस्व (प्रथम भाग)—ब्रजभाषा के आचार्य स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की संपूर्ण कविताओं का सुसंपादित और संपूर्ण संग्रह। भूमिका माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और प्रस्तावना आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने लिखी है। मूल्य ४॥)।

२—वीरकाव्य संग्रह—हिंदी-साहित्य के वीररस के कवियों की चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कविताएँ और उनके साहित्य की विस्तृत आलोचना। संपादक श्री भागीरथप्रसाद दीक्षित साहित्यरत्न और श्री उदयनारायण त्रिपाठी एम० ए०। मूल्य २)।

३—डिंगल में वीररस—डिंगल भाषा के आठ श्रेष्ठ वीररस के कवियों की कविताएँ तथा उनकी साहित्यकृतियों की विस्तृत आलोचना। संपादक श्री मोतीलाल मेनारिया एम० ए०। मूल्य १॥)।

४—संक्षिप्त हिंदी साहित्य—हिंदी साहित्य का संक्षिप्त और आलोचनात्मक इतिहास। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक की हिंदी साहित्य की समस्त धाराओं तथा प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक लिखी गई है। लेखक पंडित ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'। मूल्य ॥)।

५—चित्ररेखा—हिंदी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि प्रोफेसर रामकुमार वर्मा एम० ए० की कविताओं का अपूर्व संग्रह। लेखक की इसी पुस्तक पर देव पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। मूल्य १॥)।

आधुनिक कवि—सुप्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए० की लिखी हुई अब तक की सर्वश्रेष्ठ कविताओं का संग्रह। यह संग्रह स्वयं कवयित्री ने किया है और पुस्तक के प्रारंभ में अपनी कविताओं की प्रवृत्तियों के संबंध में प्रकाश डाला है। मूल्य १॥)।

सम्मेलनपत्रिका

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की यह मुखपत्रिका है। इसमें प्रति मास पठनीय साहित्यिक लेख प्रकाशित होते हैं। हिंदी के प्रचार और प्रसार पर विस्तृत प्रकाश डाला जाता है। सम्मेलन की प्रगति का परिचय प्रतिमास मिलता रहता है। इसके संपादक साहित्य-मंत्री श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' हैं। वार्षिक मूल्य केवल १)।

पता—
साहित्यमंत्री,
हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम० ए० एल् एल्० एम्०। मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि रहस्य—लेखक महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मू० १)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलेमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी एच० डी०, डी० एस् सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु जगत्—लेखक, बाबू व्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल् एल० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मू० ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०, मूल्य १।)

(११) सौर परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद डी० एस् सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०, सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पं० रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य कपड़े की जिल्द ३॥), सादी जिल्द ३)

(१७) हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य कपड़े की जिल्द १॥), सादी जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य कपड़े की जिल्द ४), सादी जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत व्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य कपड़े की जिल्द ४॥); सादी जिल्द ४)

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य सादी जिल्द ६); कपड़े की जिल्द ६॥)

(२४) प्रेम दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य ॥)

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरि रामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य कपड़े की जिल्द २); सादी जिल्द १॥)

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० मूल्य १।)

(२७) राजस्व—लेखक, श्री भगवानदास केला। मूल्य १)

(२८) मिना—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल०। मूल्य १)

(२९) प्रयाग-प्रदीप—लेखक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव, मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३॥)

(३०) भारतेंदु हरिश्चंद्र—लेखक, श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल० बी०। मूल्य ५)

(३१) हिंदी कवि और काव्य (भाग १)—संपादक, श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल् एल० बी०। मूल्य सादी जिल्द ४।); कपड़े की जिल्द ५)

(३२) हिंदी भाषा और लिपि—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य ॥)

(३३) रंजीतसिंह—लेखक, प्रोफेसर सीताराम कोहली, एम्० ए०। अनुवादक, श्री रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्० एल० बी०। मूल्य १)

प्राप्ति-स्थान—हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४५—अंक ४ [नवीन संस्करण] माघ १९९७

प्राचीन हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज का सोलहवाँ त्रैवार्षिक विवरण

(सन् १९३५-३७ ई०)

[लेखक—डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल् एल० बी०, डी० लिट्]

इस रिपोर्ट की कार्यावधि में खोज का कार्य मैनपुरी, इटावा, और मथुरा जिलों में हुआ। पं० बाबूराम बित्थरिया पहले मैनपुरी में खोज का कार्य करते रहे, और वहाँ का कार्य समाप्त हो जाने पर इटावा जिले में कार्य करने के लिये भेज दिए गए। इस वर्ष हमें पंडित लक्ष्मीप्रसाद त्रिवेदी की मृत्यु के कारण खोज-कार्य में बड़ी क्षति उठानी पड़ी। पं० लक्ष्मीप्रसाद त्रिवेदी एक उत्साही, होनहार और परिश्रमी कार्यकर्त्ता थे। वे मथुरा जिले में अन्वेषण का कार्य कर रहे थे। १ जुलाई सन् १९३६ को उनकी मृत्यु हुई। उनके स्थान पर पंडित दौलतराम जुयाल नियुक्त किए गए।

इस अवधि में १०६३ हस्तलेखों के विवरण लिए गए। इनमें से ४९ ग्रंथों के विवरण पं० त्रिभुवनप्रसाद सहायक अध्यापक मिडिल स्कूल तिलोई जिला रायबरेली से प्राप्त हुए। शेष कार्य तीन वर्षों में इस प्रकार विभक्त है—

सन् ईसवी				हस्तलिखित ग्रंथों की संख्या जिनके विवरण लिए गए।
१९३५	...	...	...	३६८
१९३६	...	...	...	३०८
१९३७	...	...	...	३३८

२८१ ग्रंथकारों के बनाए हुए ५१६ ग्रंथों की ६९२ प्रतियों की सूचनाएँ ली गई हैं। इसके अतिरिक्त ३७१ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात हैं। १०७ ग्रंथकारों के रचे हुए २११ ग्रंथ खोज में बिलकुल नवीन हैं। इनमें ९० ऐसे नवीन ग्रंथ सम्मिलित हैं जिनके रचयिता तो ज्ञात थे किंतु उनके इन ग्रंथों का पता न था।

नीचे दी हुई सारिणी द्वारा ग्रंथों और उनके रचयिताओं का शताब्दिक्रम दिखाया जाता है।

शताब्दि	१४वीं	१५वीं	१६वीं	१७वीं	१८वीं	१९वीं	अज्ञात एवं संदिग्ध	योग
ग्रंथकार	१	२	३१	४६	७४	५५	७१	२८१
ग्रंथ	२	५०	१३३	९६	१७५	११०	४९७	१०६३

ग्रंथों का विषयानुसार विभाग नीचे की सारिणी में दिया जाता है—

१—धार्मिक	...	१५९	६—दार्शनिक	...	८१
२—भक्ति तथा स्तोत्र	...	१२०	७—ज्योतिष	...	६३
३—कथा-कहानी	...	१००	८—पौराणिक	...	५०
४—शृंगारिक	...	८४	९—काव्य	...	३९
५—संगीत	...	८५	१०—उपदेश	...	३८

११—वैद्यक ...	३८	२२—कौतुक ...	४
१२—लीलाविहार ...	२९	२३—नाटक ...	४
१३—रमल और शकुन ...	२६	२४—गणित ...	३
१४—अलंकार ...	२६	२५—रत्नपरीक्षा ...	२
१५—तंत्र-मंत्र ...	२१	२६—बागबानी ...	२
१६—राजनीति ...	१४	२७—सामुद्रिक ...	२
१७—पिंगल ...	११	२८—शालिहोत्र ...	१
१८—कोश ...	११	२९—रसायनशास्त्र ...	१
१९—स्वरोदय ...	८	३०—वंशावली ...	१
२०—जीवनी	८	३१—लोकोक्ति ...	१
२१—कोकशास्त्र ...	४	३२—विविध ...	२१

नवीन लेखकों में से आलम (चाँदसुत), गंगाराम पुरोहित 'गंग', जीमन महाराज की माँ, नवीन कवि और लालजी रंगखान मुख्य हैं।

आलम (चाँदसुत) का रचा हुआ "ग्रंथसंजीवन" नामक गद्य-पद्य-मिश्रित ग्रंथ प्रस्तुत खोज में नवीन मिला है। यह वैद्यक का ग्रंथ है। पहले नाड़ोपरीक्षा का विषय दिया गया है। फिर औषधियाँ बताई गई हैं। औषधियाँ शिर, नेत्र, कर्ण, दंत आदि अंगों के रोगों के क्रम से लिखी गई हैं। यह किसी फारसी ग्रंथ का अनुवाद है; जैसा नीचे दिए हुए उद्धरण से ज्ञात होता है—

> वेद ग्रथ हो फारसी, समझि रच्यौ भासान (भाषान)।
> सहज अरथ परकट करौं, औषदि रोग समान॥

ग्रंथकार ने भाषा में इसका अनुवाद करना उचित समझा; क्योंकि मुसलमान होकर भी उसने यह समझ लिया था कि जन-साधारण के लाभ की दृष्टि से भाषा में ही लिखे जाने पर उसका प्रचार हो सकेगा। उसने जायसी आदि कुछ मुसलमान कवियों की भाँति हिंदी भाषा में ग्रंथ लिखते हुए भी अपने मजहब की ओर ध्यान देकर

नबी आदि की वंदना नहीं की, वरन् मंगलाचरण मे बड़े आदर के साथ हिंदू देवी-देवताओं की स्तुति की है—

सिव सुत पद प्रनाम सदा विधि सिद्धि सरसुति मति देहु ।
कुमति विनासहु सुमति मोहि देहु मगल मुदित करेहु ॥

ग्रंथ बहुत ही अशुद्ध लिखा है।

विषय और भाषा के विचार से यह लेखक अपने नाम के अन्य कवियों से बिलकुल भिन्न जान पड़ता है। इस ग्रंथ में इसने अपने संबंध में केवल एक दोहा लिखा है—

ग्रथ संजीवन नाम धरि देषहु ग्रथ प्रकास।
सेहद (?)चाँदसुत आलम भाषा कियो निवास ॥

संभवत: सेहद सैयद का बिगड़ा हुआ रूप है। इससे केवल यह ज्ञात हुआ कि ये किसी सैयद चाँद के पुत्र थे। इस ग्रंथ के अंत में इन्होंने कालिदास कवि का रचा हुआ निम्नलिखित छप्पय दिया है। ज्ञात नहीं यह कालिदास कौन है। यदि यह छप्पय 'हजारा' के रचयिता कालिदास का है तो आलम का रचनाकाल कालिदास के रचनाकाल संवत् १७४९ वि० (सन् १६९२ ई०) के बाद होना चाहिए।

छप्पय

बालापन दस वर्ष बीस लौं बढत गनीजै।
छबी सोभा रहै तीस बुद्धि चालीस लहीजै ॥
द्रुन्य दिढ वर्ष पचास साठि पर नैन जोति कमि।
सत्तरि पै पसै काम असी पर लाल जात रमि ॥
बुद्धिनास नब्बे भए सतवीसे सबते रहित।
जेदावस्था नरन की कालिदास ऐसें कहित ॥

इनके गद्य का कुछ नमूना यहाँ दिया जाता है—

"झाड़ की दारू-आँत को जोर करै ॥ गरो उरधो होइ ॥ आदो टं-३॥ त्रिफला टंक १ चीनी पांड टंक ५ इकट्ठी करि फंकी कीजै ॥

ताते पानी सों लीजै ॥ सूषी मकड़ो पालै सेर ४॥ हरड़े सेर ऽ। दाप सेर ऽ। ये सब इकट्ठी करि औटाए पानी नितारि लीजै ॥ ताती सो पीजै ॥ झाड़ लागै सुषीम बहौत फायदी ये करै" ॥

गंगाराम पुरोहित 'गंग' कृत 'हरिभक्तिप्रकाश' नामक एक बृहत् ग्रंथ इस त्रिवर्षी में मिला है। 'गंग' जाति के जैमिनि गोत्रीय सनाढ्य ब्राह्मण थे, और मथुरा से पश्चिम की ओर ५० कोस दूर करेली नदी के तट पर लिवाली ग्राम इनका निवासस्थान था। यह प्रदेश पचवार कहलाता है। नीचे लिखे पद्य में इन्होंने अपना परिचय दिया है—

मथुरा ते पश्चिम दिसा बनत कोस पचास।
तहाँ पुनीत पचवार धर विप्रन के वरवास॥
श्रीपति जू श्रीजुत सदा बसत लसत तिहि ग्राम।
याही ते सबही कहत प्रगट लिवाली नाम॥
नदी करेली के जहाँ सुदर सुखद प्रवाह।
मजन करि पातक कटत देपत बढ़त उछाह॥
द्विज सनाढ मोचन भयो, हरिदासन के दास।
जैमुनि गोत्र सु कहतु तिहि किय हरिभक्तिप्रकास॥

ग्रंथ के रचनाकाल का पता निम्नलिखित दोहे से चलता है—

हरिप्रबोधिनी के प्रगट भयो हरिभक्तिप्रकास।
सत्रह सै निन्यानवै गुरु दिन कातिक मास॥

इससे प्रकट होता है कि उक्त ग्रंथ संवत् १७९९ वि० (१७४२ ई०) के कार्तिक मास को हरिबोधिनी (एकादशी) गुरुवार को रचा गया था। ग्रंथ के अंत में लिखा है—"ग्रंथकर्त्ता प्रोहित गंगाराम जी तस्य पुत्र रामकृष्ण जी तस्य पुत्र लिपिकृत श्रीराम सहर दुर्गमध्य ग्रंथ समाप्त: लिषायतं महाराजि पुंडरीक जी श्रीजगन्नाथ जी सुभमस्तु श्रीरस्तु संवत् १८४७ वैसाष शुक्ल १० सनि वासुरे श्री किसोरीरमरण लेखक-पाठकयो शुभं भूयात् ॥" इससे प्रकट होता है कि ग्रंथकार के पैात्र तथा रामकृष्ण के पुत्र श्रीराम ने सहर दुर्ग में श्री पुंडरीक जी श्रीजगन्नाथ

जी के लिये संवत् १८४७ वि० में प्रस्तुत प्रतिलिपि की। आजकल के मध्यप्रांत में एक नगर है जो अँगरेजी में Drug लिखा जाता है। संभवतः यही दुर्ग नगर है जहाँ यह प्रतिलिपि हुई है। ग्रंथ के रचनाकाल और इस प्रतिलिपि के काल में ४८ वर्ष का अंतर है जो दो पीढ़ियों के लिये ठीक है। इस ग्रंथ में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। कथाप्रसंगप्रणाली से तथा दृष्टांतों और उदाहरणों द्वारा इस क्लिष्ट विषय को रोचकता से समझाया है। ग्रंथ १६ कलाओं में विभक्त है। दशावतार-वर्णनोपरांत कथा इस प्रकार आरंभ हुई है—

हिमालय के दक्षिण प्रदेश की सुरम्य भूमि का अधिपति कोई जीवसेन राजा था। सुमति उसकी पटरानी थी। उसके पुत्र मनसेन का पाणिग्रहण संकल्पा और विकल्पा नाम की दो रूपसंपन्ना, सद्गुणशीला युवतियों के साथ हुआ था। इन सब का पारस्परिक प्रेम अप्रतिम था। एक दिन उक्त राजा ने शिकार खेलने के विचार से अपने साथियों समेत किसी वन में पहुँचकर एक हिरन का पीछा किया। हिरन उसे बहुत दूर एक भयानक वन में ले गया। उसके सब साथी बिछुड़ गए। आगे बढ़कर उसको विष्णुशर्मा नामक एक ऋषि का आश्रम मिला। वहाँ पहुँचकर उसने ऋषि से धर्मोपदेश सुनने की इच्छा प्रकट की। ऋषि ने उसे आत्मज्ञान सुनाना प्रारंभ किया, कर्म और भक्ति का भेद बतलाया, भक्ति और ज्ञान का अंतर समझाया। षट्दर्शन और बौद्ध, जैन तथा नास्तिक आदि मतों की एकता बताई। ईश्वर और जीव पर भिन्न भिन्न विचार प्रकट किए। तत्त्वादिनिरूपण के अनंतर मोह को तिरोहित कर ज्ञानचक्षुद्वारा निज स्वरूप जानने का विधान बताया। अंत में वृंदावन का वर्णन किया। कृष्ण की बाललीला की बातें भी सुनाईं तथा विशुद्ध भक्ति का प्राधान्य स्थापित किया। इस उपदेश से राजा अत्यंत चमत्कृत हुआ और आनंदपूर्वक अपनी राजधानी को लौटा। घर आकर उसने यही उपदेश अपनी स्त्रियों तथा माता-पिता को भी सुनाया जिससे सबको आत्मज्ञान द्वारा शांति प्राप्त हुई। यही ग्रंथ का संक्षिप्त सार है।

यह ग्रंथ एक प्रकार से भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक विचारावली का विश्वकोष है। नीचे ग्रंथकार की कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

दोहा

कला दूसरी मे बरनी, नृप को सहित समाज।
मृगया हित घन बन गयो, कुंवर मिले रिषिराज ॥१॥

चौपाई

काया नगरी परमसुहाई। ताकी छबि कछु बरनि न जाई ॥
हिमगिरि के दच्छिण दिशि माहीं। परम बसात विरंचि बसाहीं ॥२॥
बसतु वरण विप्रादिक चारी। सकल देवता से नरनारी ॥
सब विधि करि नगरी अस सुंदर। जिहिं लपि लाजत पुरी पुरंदर ॥३॥

× × × ×

सुमति नाम जाकी पटरानी। अति सुंदर सु परै न बषानी ॥
भयो मनसेन पुत्र इक जाको। अति अद्‌भुत प्रिय दरसन ताको ॥१६॥

× × × ×

ब्याहुत भयो ताहि द्वै नारी। सुरकन्या इक नागकुमारी ॥

× × × ×

तिनके संग रमत भयो जहाँ। नदी पुलिन वन उपवन तहाँ ॥
अस आसक्त भयो तिनि माहीं। अहो और कछु जानत नाहीं ॥२१॥

× × × ×

नरगजराज जग कानन गहत तामैं,
अतिसै अगाध सरवर सोइ गेह है।
कंचन किलोल काम कथन कमल फूल,
फूले ही रहत कीच कामिनि सनेह है ॥
कपट सिवाल जाल पूरि परिवार माह,
तृष्णा ही तरंग तुंग तरल अछेह है।
विषय तृषित होइ बूढ़ि के मगन भये,
तासों तिन काढन को 'गंग' गुरु मेह है ॥

जी के लिये संवत् १८४७ वि० में प्रस्तुत प्रतिलिपि की। आजकल के मध्यप्रांत में एक नगर है जो अँगरेजी में Drug लिखा जाता है। संभवतः यही दुर्ग नगर है जहाँ यह प्रतिलिपि हुई है। ग्रंथ के रचना-काल और इस प्रतिलिपि के काल में ४८ वर्ष का अंतर है जो दो पीढ़ियों के लिये ठीक है। इस ग्रंथ में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। कथाप्रसंगप्रणाली से तथा दृष्टांतों और उदाहरणों द्वारा इस क्लिष्ट विषय को रोचकता से समझाया है। ग्रंथ १६ कलाओं में विभक्त है। दशावतार-वर्णनोपरांत कथा इस प्रकार आरंभ हुई है—

हिमालय के दक्षिण प्रदेश की सुरम्य भूमि का अधिपति कोई जीवसेन राजा था। सुमति उसकी पटरानी थी। उसके पुत्र मनसेन का पाणिग्रहण संकल्पा और विकल्पा नाम की दो रूपसंपन्ना, सद्गुणशीला युवतियों के साथ हुआ था। इन सब का पारस्परिक प्रेम अप्रतिम था। एक दिन उक्त राजा ने शिकार खेलने के विचार से अपने साथियों समेत किसी वन में पहुँचकर एक हिरन का पीछा किया। हिरन उसे बहुत दूर एक भयानक वन में ले गया। उसके सब साथी बिछुड़ गए। आगे बढ़कर उसको विष्णुशर्मा नामक एक ऋषि का आश्रम मिला। वहाँ पहुँचकर उसने ऋषि से धर्मोपदेश सुनने की इच्छा प्रकट की। ऋषि ने उसे आत्मज्ञान सुनाना आरंभ किया, कर्म और भक्ति का भेद बतलाया, भक्ति और ज्ञान का अंतर समझाया। षट्दर्शन और बौद्ध, जैन तथा नास्तिक आदि मतों की एकता बताई। ईश्वर और जीव पर भिन्न भिन्न विचार प्रकट किए। तत्त्वादिनिरूपण के अनंतर मोह को तिरोहित कर ज्ञान-चक्षुद्वारा निज स्वरूप जानने का विधान बताया। अंत में वृंदावन का वर्णन किया। कृष्ण की बाललीला की बातें भी सुनाईं तथा विशुद्ध भक्ति का प्राधान्य स्थापित किया। इस उपदेश से राजा अत्यंत चमत्कृत हुआ और आनंदपूर्वक अपनी राजधानी को लौटा। घर आकर उसने यही उपदेश अपनी स्त्रियों तथा माता-पिता को भी सुनाया जिससे सबको आत्मज्ञान द्वारा शांति प्राप्त हुई। यही ग्रंथ का संक्षिप्त सार है।

यह ग्रंथ एक प्रकार से भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक विचारावली का विश्वकोष है। नीचे ग्रंथकार की कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

दोहा

कला दूसरी मे बरनी, नृप को सहित समाज।
मृगया हित घन बन गयो, कुंवर मिले रिपिराज ॥१॥

चौपाई

काया नगरी परमसुहाई। ताकी छवि कछु बरनि न जाई ॥
हिमगिरि के दच्छिण दिशि माहीं। करम बसात विरंचि बसांही ॥२॥
बसतु बरण विप्रादिक चारी। सकल देवता से नरनारी ॥
सब विधि करि नगरी अस सुंदर। जिहिं लपि लाजत पुरी पुरंदर ॥३॥

× × × ×

सुमति नाम जाकी पटरानी। अति सुंदर सु परै न बपानी ॥
भयो मनसेन पुत्र इक जाको। अति अद्‍भुत प्रिय दरसन ताकौ ॥१६॥

× × × ×

ब्याहुत भयो ताहि द्वै नारी। सुरकन्या इक नागकुमारी ॥

× × × ×

तिनके संग रमत भयो जहाँ। नदी पुलिन बन उपवन तहाँ ॥
अस आसक्त भयो तिनि माहीं। अहो और कछु जानत नाहीं ॥२१॥

× × × ×

नरगजराज जग कानन गहत तामें,
अनिसै अगाध सरवर सोइ गेह है।
कंचन किलोल काम कथन कमल फूल,
फूले ही रहत कोच कामिनि सनेह है ॥
कपट सिवाल जाल पूरि परिवार ग्राह,
तृष्णा ही तरंग तुंग तरल अछेह है।
विषय तृषित होइ बूढ़ि के मगन भये,
तासौं तिन काढन को 'गंग' गुरु मेह है ॥

जीमन महाराज की माँ एक वैष्णव कवयित्री थीं। गोकुल के बालकृष्ण-मंदिर के गुसाइयों के वंश में एक जीमनजी महाराज हुए। अनुसंधान से पता चला है कि उनका शरीरपात हुए ४० वर्ष के लगभग हुए होंगे। इन्हीं की माता का रचा हुआ 'बनयात्रा' नामक ग्रंथ इस खोज में मिला है। इसमें रचनाकाल और लिपिकाल नहीं दिया है। इनकी भाषा में गुजराती का पुट स्पष्ट दिखाई देता है। ग्रंथ खोज में नवीन है। इसमें ब्रज के भिन्न भिन्न स्थानों, गोकुल, मथुरा, गोवर्द्धन, कामवन, बरसाना, नंदगाँव, मांठ और वृंदावन आदि की महिमा और पवित्रता का वर्णन किया गया है। इनका जीवनवृत्त तथा समय आदि कुछ भी ज्ञात न हो सका। नीचे इनकी कविताओं से कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

प्रथम श्री वल्लभ प्रभुजी ने जाणु रे। श्रीगुरु देवता, चरण चित्त आणु रे॥
ब्रज भोमिना चरी वखाण। चालो वन जात्रा नो सुख लीजे रे॥
श्री गुसाईं जी किधों विचार रे। बनयात्रा करवी निरधार रे॥
छे ब्रज धामनि लीला अपार। श्री विट्ठल प्रभु परम दयाल रे॥
सयन आरती करी तत्काल रे। साथे लीधाँ श्री वल्लभ लाल॥
संवत सोल्हे सें नी साल रे। भांद्रवा वदि द्वादसी सार रे॥
चालो उतरया श्री यमुना पार रे। ... ... ॥

× × × ×

हाथ जोर श्री मथुरा जी मा किरियारे। बहु आनंद रमा भरिया रे॥
हवे कारज सर्वे सरियाँ। जे कोई निसदिन मुख थी गाए रे॥
बनयात्रा नो फल तेने थाए रे॥

ते श्री महाप्रभुजी ने सुहाए। सदा मन श्रीगोकुल मा रहिए रे॥
श्री महाप्रभु जी ना गुण नित गैए रे।

श्री विट्ठलनाथ चरण चित्त लैये। श्रीवल्लभ श्री विट्ठल प्रभु पूरी आस रे॥
राख्या चरण कमल याँ पास रे। दास मागेछे श्री गोकुल वास रे॥
चलो वनयात्रा नो सुख लीजे रे॥

नवीन कवि एक दूसरे नवीन कवि से, जो जोधपुर-नरेश जसवंतसिंह (राज्यकाल १६३५ ई०–१६७८ ई० तक) के आश्रित और नेह-निधान के रचयिता (सन् १६७३ ई० के लगभग वर्तमान) थे, सर्वथा भिन्न हैं। इनका एक ग्रंथ 'सुधासागर' वा 'सुधारस' नाम का मिला है, जिसकी दो प्रतियों के विवरण लिए गए हैं। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १८६५=१८३८ ई० है और लिपिकाल प्रथम प्रति में संवत् १६१० वि०=१८५३ ई० दिया है तथा दूसरी प्रति में, जो अपूर्ण है, सं० १८६६ वि०=१८३८ ई०। लेखक का असली नाम गोपाल सिंह था। ये जाति के कायस्थ और जयपुर के ईश कवि के शिष्य थे—

श्री गुरु ईश प्रवीन कृपा करि दीन को छाप नवीन की दीनी

गुरु की आज्ञा से ही इन्होंने अपना उपनाम 'नवीन' रखा था। ये नाभा राज्य के मालवेंद्र महाराज जसवंतसिंह तथा उनके पुत्र देवेंद्र के आश्रित थे और कुछ दिन तक ग्वालियर में भी रहे थे। इनका 'सुधासागर' बृहद् ग्रंथ एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति है, जिसमें शृंगार, व्रजरसरीति, रामसमाज वर्णन, नीति और भक्ति, दानलीला (इस लीला में अनेक कवियों के नाम श्लिष्ट पदों से व्यक्त किए गए हैं), गोपियों और कृष्ण के प्रश्नोत्तर, विविध जानवरों तथा पक्षियों की लड़ाइयों का वर्णन और नवरस आदि अनेक विषयों पर की गई रचनाओं का संग्रह है। विवरणकर्ता के कहने के अनुसार 'गोपियों और कृष्ण के प्रश्नोत्तर' में नवीन की ही रचना है। इसमें २६६ दोहे, २२६५ सवैये तथा कवित्त, ३५ छप्पय, ३ कुंडलियाँ, १० बरवै, और ४ चौपाइयाँ हैं और कुल २५७ कवियों की कविताएँ हैं। ग्रंथ-निर्माणकाल का दोहा यह है—

प्रभु सिधि कवि रस तत्त्व गिन, संवत् सर अवरेपि।
अर्जुन सुक्ला पचमी, सोम सुधासर लेपि॥

इससे ग्रंथ का निर्माणकाल फाल्गुन शुक्ला पंचमी चंद्रवार संवत् १८९५ वि० = १८३८ ई० निकलता है। नीचे इस ग्रंथ में से उदाहरण के लिये कुछ छंद दिए जाते हैं।

मंगलाचरण

दोहा

जुगल चरन बंदन करा, सब देवन समुदाय।
ज्यों हाथी के खोज में सब के। पोज समाय॥
प्रेम मगन विहरै विपन राधा नंदकिसोर।
दोऊन के मुखचंद्र के दोउन नैन चकोर॥

—नवीन

और खेल खेले सो तो खेलिहो बचा की साढ़,
कहाँ लौं सखीन उपहासन कौ पेलैागा।
कौतिक नवीन बीन लावै तू सुजान नित,
मसके भुजाम कंध सोन अब झेलैागी॥
छतियाँ भुवावै पीठ ढोडी दे गुदी में नीठ,
छोड़न कहत ढीठ कैसे पर हेलौंगी।
जाँघन मैं दैकैं कटि मीचनी बचौ न देया,
तो संग कन्हैया आँखमीचनौ न खेलैागी॥

× × × ×

स्याम की प्रभासिनी तू काम की अभासिनी तू
नेह रंग चासिनी तू आनंद विकासिनी॥
कोटि अघनासिनी तू रस की निवासिनी तू
मौज की मवासिनी तू केलिकलहासिनी॥
जमुना अपार जस पुंजन नवीन नित
कुंजन के कंज तट सुमन सुवासिनी॥
सत्रसुघरासिनी तू प्रेम की प्रकासिनी तू
पासनी प्रिया की वृंदाविपिनविलासिनी॥

मंगल उमंग ब्रजभूमि श्रीवृंदावन मंगल धूम पौर पौरन छ्ई रहै।
व्रज को निकुंजन अलीन पुंज गुंजन नवीन नित मगल की रचना भई रहै।
मंगल रसिकजन मंडल सखीनहू मे यमुना किनारे धुनि मगल नई रहै।
मोहन मुकुट मोद मगल सदाई माँग ललित लड़ैतीजू की मंगल मई रहै॥

लालजी रंगखान नाम के एक नवीन मुसलमान कवि का पता इस त्रिवर्षी में चला है, जिसके बनाए हुए एक अपूर्ण नाम के ग्रंथ 'सुधा०' के विवरण लिए गए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ग्रंथ के प्रारंभ के पत्रों के लुप्त हो जाने के कारण विवरणकार को ग्रंथ का पूरा नाम मालूम न हो सका इसलिये पत्रों के सिरों पर ग्रंथ का जो आधा नाम लिखा रहता है वही दे दिया है।

इस कवि ने जयपुरनरेश सवाई महाराजा महेंद्रप्रतापसिंह को अपना आश्रयदाता बताया है, जैसा कि नीचे के उद्धरण से स्पष्ट है—

महेंद्र प्रतापसिंह कहै रंगपान ऐसे
नीति रीति रावरी सी आप में वपाने हैं।
× × × ×
कूरम सवाई माधोसिंह के प्रतापसिंह
अति ही प्रवीनो पाचों भाव ही उमंग है॥

उक्त महाराज बड़े साहित्यानुरागी थे। उनके आश्रय मे श्रंतराय, पद्माकर और रामनारायण (रसरासि) नाम के कवि रहते थे। वे स्वयं भी एक अच्छे कवि थे। व्रजनिधि-ग्रंथावली के अनुसार उनका जन्मकाल पौष वदि दोज संभवत् १८२१ वि० = १७६४ ई० है। वे पंद्रह वर्ष की अवस्था (संभवतः १८३६ वि० = १७७९ ई०) में राजगद्दी पर बैठे थे और संवत् १८६० वि० = १८०३ ई० में परलोकवासी हुए।

ग्रंथ के अंत में काल-संबंधी एक दोहा दिया है जो इस प्रकार है—

सवत एकै आठ सत चौके बादी जानि।
मास असाढ जु दोजे वदि वासर रवि पहिचानि॥

यदि बादी का अर्थ बाद कर देना याने निकाल देना लिया जाय तो समय संवत् १८००-४=१७९६ वि०=१७३९ ई० निकलता है; और यदि सत को सात और चौके को चार मानें तो संवत् १८७४ वि०=१८१७ ई० होता है। किंतु ये दोनों ही संवत् ग्रंथकार के आश्रयदाता के जीवनकाल से मेल नहीं खाते। अतएव इनमें से कोई भी रचनाकाल नहीं माना जा सकता। हाँ, केवल सं० १८७४ वि० लिपिकाल हो सकता है, किंतु विवरण की प्रारंभिक खानापुरी करते हुए विवरणकार ने लिपिकाल संवत् १८४७ वि० दिया है। यह किस आधार पर दिया है, कुछ मालूम नहीं होता। अतएव लिपि काल का विषय भी संदिग्ध ही रह जाता है।

लेखक ने एक दोहा अपने विषय में भी लिखा है जिससे ज्ञात होता है कि इनका वास्तविक नाम लालजी था, और ये ललन भी कहलाते थे। मुसलमान होने की सूचना देने के लिये इन्होंने अपने नाम के आगे 'रंगखान' जोड़ा था—

असल नाम है लालजी ललन अरुन पुनि येहु।
मुसलमान के जानिबे रंगखान वहि देहु॥

नीचे उनकी कविता के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

छाप छित राधी जित तित कौं कदंबन कें, कलित कालिंदी कूल फल फूल आम हैं।
पुंज गुंज भौंर भौंर सौरभ समीर सीरी, रंगपान सुप वे स्वरूप रूप धाम है॥
तरुन तपन तन तेरो सुकुमार अति, घरीक बिरमिकैं निवारिए जू घाम है।
लसत ललाम छाम परम आराम कै यो, बिघना अराम रच्यौ मानौ काम धाम है॥

× × × ×

सावन के आवन वसावन विरह व्याधि, अति ही रिसावन हैं पचवान तिरछें।
भेज्यो ना सँदेस इत उत वो ग्रँदेस यह, कहावे हमेस परदेस सबसे थिरछें॥
रंगपान कुंजन में केकी कूक हूक लूक, कोयल कुहूक करै करेजे की किरछें।
दादुर दरेरन दबावै देह दामिनि ये, पपीहा पी पुकारे जी जारे लोन मिरछें॥

× × × ×

सुजस के आगे चंद कालमा तैं जानियत, तेज आगे भासकर सांझ पहिचानिए।
सिंधुरन आगे सैल अचल ही ते जानियत, हय आगे पौन परसे ते उर मानिए॥
कर आगे सुर तर जड़ ही जानियत, बैन आगे सुधापान कीये चित आनिए।
भूपन के भूप हो अनूप परताप रूप, रंगपान गवरे यौं बरन बखानिए॥

ज्ञात लेखकों में से जिनके नए ग्रंथ प्रकाश में आए हैं, अलबेली अली, आलम, गंगाबाई या बिट्ठल-गिरधरन, दास, परशुराम, बनारसी मुनिमानजी और हजारीदास मुख्य हैं।

अलबेली अली रचित तीन ग्रंथों, 'अलबेली अली ग्रंथावली' 'गुसाईं जी का मंगल' और 'विनय कुंडलिया' के विवरण लिए गए हैं। पहले में 'प्रियाजी को मंगल', 'राधा अष्टक' और 'साँझ' नाम के तीन छोटे छोटे ग्रंथ संगृहीत हैं जिनमें राधाजी के स्वरूप-शृंगार और स्तवन संबंधो गीतों का चयन है। दूसरे में ग्रंथकार ने अपने गुरु वंशीअली के संबंध के प्रेम तथा शृंगारपूर्ण बधाई के गीतों का संग्रह किया है। और तीसरे में युगल मूर्ति का ध्यान तथा प्रार्थना है। अंतिम ग्रंथ इनका ही रचा हुआ है, इसमें संदेह है। कई कुंडलियों में इनके नाम की छाप देखकर ही अन्वेषक ने उसे इनका रचा हुआ मान लिया है। साथ ही ऐसा मानने के विरोध में कोई प्रमाण भी नहीं है।

विनोदकारों ने लिखा है—"इनकी कविता भक्तमाल में है, और ३०० पद गोविंद गिल्लाभाई के पुस्तकालय में हैं। रसमंजरी में भी इनके कवित्त हैं।" (दे० मि० वि० नं०१ ³⁄₂ २१)। परंतु अब तक इनका स्वतंत्र ग्रंथ न तो शोध ही में मिला था और न हिंदी-साहित्य के किसी इतिहास-ग्रंथ में ही ऐसे किसी ग्रंथ का उल्लेख हुआ है। इन ग्रंथों में रचना-काल और लिपिकाल नहीं दिया गया है। परंतु इनके गुरु वंशीअली का रचनाकाल सन् १७२३ ई० के लगभग माना गया है (दे० खो० रिपोर्ट १९१२-१४ ई० सं० १६ और मिश्रबंधुविनोद सं० ६८८)। संभवत: यही समय इनकी रचना का भी होगा। ये कवि स्त्री थे या पुरुष? यह निश्चयपूर्वक कहना तो कठिन है, परंतु रचना

को देखते हुए इनके सखी संप्रदाय के पुरुष कवि होने की ही संभावना होती है। ऐसा भी जान पड़ता है कि अलबेली अली शिष्य-परंपरा में बहुत पीछे न होकर स्वयं वंशीअली से ही दीक्षित उनके समकालीन थे। ये स्वयं लिखते हैं—

जब ते वंशीअलि पद पाए,
श्री वृंदावन कुंज केलि कल लूटत सुख मनभाए।
रूप सुधा मादिक पद पीवे डोलत घूम घुमाए॥
अलबेली अलि सबते निज कर स्यामाजू अपनाए॥

अर्थात्—जब से मैंने वंशीअली के चरण प्राप्त किए (उनका शिष्य हुआ) तभी से मुझको वृंदावन के कुंजों में कल-केलि लूटने को मिली, आदि।

इनकी कविता अत्यंत सरस एवं भावपूर्ण है। यहाँ नमूने के लिये कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

नेह मनेह सनी अंगीया रँग या सारी मन भावै।
"सखी जानि के अपनो हमको वह अँतरौटा पहिरावै॥
नरम सु जाको गरी मानै हम चित मोद बढ़ावै।
जय श्री प्रिय प्रेम परिपूरन लोकहि मनहिं बढ़ावै॥
बाल खुलै पर सूहो फैंटा तूरा अजब सुहावै।
डोरी लगै दुपट्टे की लपटन लटकनि मन भावै॥
मिहि डोरी सो ठुमकी दै दै आली गुड़ी उड़ावै।
जै श्री वंशीअली खैंचन हूँ लाल मनहि खैंचन आवै॥

—ग्रंथावली से।

श्री वंशीअलि प्रान हमारे।
हृदयकमल सम्पुट कर राखूँ, अँखियन के वर तारे॥
चरन-सरोज सुगति मति मेरी निरधन अनुसारे।
अलबेली बलि अलि मन मधुकर ह्वै पीवत रस सुख भारे॥

श्रीवंशीअलि के बलि जाऊँ।
जाकी चरन सरन कृपा ते श्री वृंदावनधन पाऊँ॥
नव नागरि अलिकुल चूड़ामनि रहसि दुलराऊँ॥
अलबेली अलि हिय कौ गहनो प्रेम जराइ जराऊँ॥

जय जय श्री वंशीअलि गुन गावै।
श्री वृंदावन अचल बसे दिन श्रीराधा पन पावै॥
नवल कुँवरि नव लाड़ गहेली नव नव भाँति लड़ावै।
अलबेली अलि रूप-माधुरी पीवत और पियावै॥

—गुसाईं जी के मंगल से।

व्रजनागरि चूड़ामनि सुखसागर रस रास।
राखो निज पद-पिंजरे मम मन हंस हुलास॥
मम मन हंस हुलास नित बढ़ै दिन दिन अतिभारी।
रहै सदा चित चोर लपत ज्यों चातक वारी॥
कामी के मन काम दाम ज्यों रंकहि भावै।
नवल कुँवर पद प्रीति सु अलबेली अलि पावै॥
जागत नैनन में रहो सोवत सपने माँहि।
चलत फिरत इक छिन कभूँ अंतर परिहै नाँहि॥
अंतर परिहै नाँहि निरखि तुव वदन किशोरी।
प्रेम छके दिन रैन रहैं दृग चंदचकोरी॥

—विनय कुंडलिया से।

आलम नाम के दो कवि हुए हैं—एक सुप्रसिद्ध शेख रँगरेजिन का प्रेमी आलम, जो मुगल सम्राट् अकबर के समय में हुआ और जिसने माधवानल कामकंदला और स्याममनेही या रुक्मिणी ब्याहलो नामक ग्रंथों की रचना की। दूसरा आलम औरंगजेब के द्वितीय पुत्र मुअज्जम के आश्रित था, जिसकी रचना का एक उदाहरण सरोजकार ने अपने ग्रंथ में दिया है। इस त्रिवर्षी में इसी दूसरे आलम के बनाए हुए 'सुदामाचरित्र' के विवरण लिए गए हैं। यह खड़ी बोली में लिखा गया है और इसमें अरबी तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग भी काफी हुआ

है। नीचे हम इनकी सरोजवाली कविता तथा 'सुदामाचरित्र' से कुछ उद्धरण देते हैं, जिससे तुलना करने में सरलता होगी।

१—सरोज में दी हुई कविता

जानत औलि किताबनि को जे निसाफ के माने कहे हैं ते चीन्हें।
पालत हौ इत आलम को उत नीकें रहीम के नाम को लीन्हें॥
मोजमशाह तुम्हैं करता करिवे को दिलीपति हैं बर दीन्हे।
काबिल हैं ते रहैं कितहूँ कहूँ काबिल होत हैं काबिल कीन्हें॥

२—सुदामाचरित्र से उद्धृत कविता

ओंकार है अलप निरंजन कैसा कृष्ण गोवर्धनधारी।
नादर सबके कादर सिर पै सुंदर तन घनश्याम मुरारी॥
सूरति खूब अजायब मूरति आलम के महबूब बिहारी।
जगमग जग है जमाल जगत में हिलमिल दिल की जय बलिहारी॥
सत सुनाम अस बहुत बंदगी जो इसको नीके कर जाने।
ज्यों ज्यों याद करे वह बंदा त्यों त्यों वह नीके कर जाने॥
देपो कर्म कियो बामन ने जो कछु दिया सो मन में आने।
ऐसे कौन बिना गिरिधारी जो गरीब के दुप को भाने॥

× × × ×

केते रतन पारखी परखे जेवर कितिक सुनार गढ़त हैं।
केते बाजीगर और नचुआ केते नचुआ नाच करत हैं॥
केते बाजार चहुँ खंड दीसे केतिक अखारन मल्ल लरत हैं।
केते जमींदार हैं ठाढ़े अपनी अपनी अरज करत हैं॥

दोहा

गदागीर रवम सुखन सुदामा, श्रीकृष्णचद्र को मार।
आलम में प्रगटत भए सब राजन सिरदार॥

सरोज और सुदामाचरित्र दोनों ही की रचना में विदेशी शब्दों का प्राय: एक सा व्यवहार है। आलम की प्रवृत्ति अपनी छाप को बहुधा श्लिष्ट पद के रूप में रखने की है। दोनों स्थानों की कविता समान

है। इन दोनों उदाहरणों में जो थोड़ा सा अंतर दिखाई देता है, उसका कारण छंद की एवं भाषा की विभिन्नता है। सरोज के उदाहरण का झुकाव ब्रजभाषा की ओर और सुदामाचरित्र के छंदों का खड़ी बोली की ओर है, परंतु सुदामाचरित्र में भी आगे चलकर ब्रजभाषा का पुट आ गया है, जैसा दोहे के ऊपरवाले छंद से प्रकट है। इस आलम का समय १६९६ ई० के लगभग माना गया है। प्रस्तुत ग्रंथ का रचनाकाल अज्ञात है। लिपिकाल सन् १८१९ ई० है।

गंगाबाई या विट्ठल गिरिधरन रचित पदों के एक संग्रह के विवरण इस त्रिवर्षी में पहली ही बार लिए गए हैं। रचना-काल इस संग्रह में नहीं दिया गया है, किंतु लिपिकाल १७९३ ई० है। गंगाबाई का जन्म क्षत्रिय-कुल में हुआ था। ये महावन में रहती थीं। सुप्रसिद्ध वैष्णवाचार्य गुसाईं विट्ठलनाथजी इनके गुरु थे। वैष्णवों की वार्ताओं में इनका नाम आया है। इनकी कविता सजीव और मर्मस्पर्शिनी है। पदों के संग्रहों में ऐसे बहुत से पद मिलते हैं जिनमें दो नामों—विट्ठल और विट्ठल-गिरिधरन—की छाप पाई जाती है। ये दोनों पृथक् पृथक् कवि हैं। जिन गीतों में विट्ठल गिरिधरन की छाप है वे सभी गंगाबाई के रचे हुए हैं।

इनका रचनाकाल, स्वामी विट्ठलनाथ की शिष्या होने के कारण, संवत् १६०७ वि० (१५५० ई०) के लगभग होना निश्चित है; क्योंकि स्वामीजी इस समय में वर्तमान थे (दे० खोज रिपोर्ट १९०५ ई० संख्या ६१; सन् १९०६-०८ ई० संख्या २०० और सन् १९०९-११ ई० संख्या ३२)। नीचे इनके कुछ पद नमूने के लिये दिए जाते हैं—

रानी जी सुख पायो सुत जाय।
बड़े गोप बधून की रानी हँसि हँसि लागत पाय॥
बैठी महरि गोद लिये ढोटा आछी सेज बिछाय।
बोलि लिये ब्रजराज सबनि मिलि यह सुख देखो आय॥
जेई जेई बदन बदी तुम हम सों ते सब देहु चुकाय।

तातै लेहु चौगुनो हम पै कहत जाइ मुसकाय ॥
हम तो बहुत भये सुख पायो चिरजीवो दोउ भाई ।
'श्री विट्ठल गिरिधरन' खिलानो ये बाबा तुम माई ॥

× × × ×

लाल तुम पकरी कैसी बान ।
जब ही हम आवत दधि बेचन तब हीं रोकत आन ॥
मन आनद कहत मुँह की सी नँदनदन सो बात ।
घूँघट की ओझल ह्वै देखत मन मोहन करि घात ॥
हँसि हँसि लाल गह्यो तब अँचरा बदन दही जु चखाइ ।
'श्री विट्ठल गिरिधरन' लाल नै खाइ के दियो लुटाइ ॥

× × × ×

राग गंधार

जो सुख नैनन आज लह्यो ।
सो सुख मो पै मोरी सजनी नाहिन जात कह्यो ॥
हौं सखियन सग श्री वृंदावन बेचन जात दह्यो ।
नंदकुमार सिलोने ढोटा आँचर धाइ गह्यो ॥
बड़े नैन विसाल सखी री मो तन नैकु चह्यौ ।
मृदु मुसकाइ बानी हँसिही कुँवार कह्यो ॥
व्याकुल भई धीर नहिं आयो आनँद उँमगि बह्यो ।
'श्री विट्ठल गिरधरन' छबीलो मम उर पैठि रह्यो ॥

दास का बनाया हुआ 'रघुनाथ नाटक' नामक ग्रंथ इस त्रिवर्षी में नवीन मिला है, किंतु दुर्भाग्यवश वह खंडित है। फलस्वरूप कवि के संबंध में उससे कुछ भी ज्ञात नहीं होता और न उसके रचनाकाल एवं लिपिकाल का पता चलता है। सुप्रसिद्ध भिखारीदास उपनाम 'दास' से प्रस्तुत दास अभिन्न जान पड़ते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो दास की रचनाशैली इस 'रघुनाथ नाटक' की रचनाशैली से मिलती है, दूसरे दास की रचनाओं में जिस प्रकार प्रायः श्रीपति इत्यादि उनके पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं के पद के पद लिए गए

देखे जाते हैं उसी प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में भी महाकवि देव के सुप्रसिद्ध—

एक ओर विजन डुलावति है चतुरनारि—

आदि छंद की पूरी छाया मौजूद है। नीचे उदाहरण-स्वरूप उनकी कविता में से कुछ छंद लिखे जाते हैं—

आजु री देखु समेत समाज कियो रितुराज सुहावनो साजु री।
साजु री भूषण भूरि सिंगार भयो मनभावतो तेरोइ काजु री॥
काजु री जानि यही जिय में कि येलावन फागु मिलो रघुराजु री।
राजु री वारों तिहूँपुर को जो भयो यह औसर होरी को आजु री॥
गुंजते भँवर विराग भरे सुर पूरि रहे नव कुंज के पुंज ते।
पुंज ते आसे मो देपहि सो छवि काम सवारे वसंत के सुंज ते॥
सुंजते फूले गुलाल गुलाब निवारी औ कुंद पलास के गुंज ते।
गुंजते कोकिला औ पग राते महागज माते ज्यो पिय गुंज ते॥

× × × ×

अबन भयो अंबर दिगंबर सहित शिव
मानो लै गुलाल ही को भसम चढायो है।
लता द्रुम वेलि भई विद्रुम फल उड़त
रंग सिंधु सरितानु मानो कुसुम भायो है॥
धवलागिरि नीलागिरि नीलागिरि कैलास औ,
सुमेर विंध्याचल आदि मानो गेरु लै बनायो है।
मानसर हंस भए असुन उड़ि उड़ि चले
कागऊ भुसंड मानो कलस करायो है॥

× × × ×

गाम ओर जानुकी कृपानिधान के विराजै,
धरे भुजा अस देपै नृत्य सुपकारी है।
भरत लपन सत्रुहन पवावइ पान
चँवर डुलावै गावै तन को सँभारी है॥

अतर अबीर औ गुलाल छूटै चहुँ दिसि,
देषे सुर कौतुक विमान चढि भारी है।
विष विप देषि कै सुवाँग रीझि रीझि हँसै,
दास यह आसर की जात बलिहारी है॥

'दास' नाम की छाप केवल ग्रंथ के अंत में दी गई है। सभवत: नाटक का ग्रंथ होने के कारण उसमें कई भद्दी भूलें हो गई हैं, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों पर ध्यान देने से पता चलता है।

परशुराम के रचे हुए १३ ग्रंथों के विवरण प्रस्तुत खोज में पहली ही बार लिए गए हैं। इनमें से चार ग्रंथ 'तिथिलीला', 'वारलीला', 'बावनी लीला' और 'विप्रमतीसी' विषय और नाम-साम्य के विचार से कबीर के कहे जानेवाले इन्हीं नामो के ग्रंथों से बहुत कुछ मिलत जुलते हैं। इनमें भी अंतिम ग्रंथ तो बहुत कुछ मिलता है।

'तिथिलीला' में कबीर और परशुराम दोनों ही ने अमावस से लेकर पूर्णिमा तक सतोचित विचारों को प्रकट किया है। कबीर कहते हैं, "कबीर मावस मन मे गरब न करना। गुरु प्रताप दूतर तरना॥ पडिवा प्रीति पीव सूं लागो। मंसा मिटया तब सक्या भागो॥" परशुराम का कथन है, "मावस मैं तैं दोऊ डारी। मन मंगल अंतर लै सारी॥ पडिवा परमतंत ल्यौ लाई। मन क्र पकरि प्रेम रस पाई।" कबीर ने मावस में गर्व या अहं भाव को मिटाया है। परशुराम ने भी "मैं" और "तूं" का बाध कर इसी भाव को सम्मुख रखा है। पडिवा को कबीर मन पर शासन करके पीव से प्रीति स्थिर करते हैं और परशुराम भी मन को वश में करके परमतत्व रूपी प्रियतम से ही लौ लगाते हैं। 'बार' ग्रंथ में कबीर लिखते हैं, 'कबीर बार बार हरि का गुन गाऊँ। गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ। सोमवार ससि अमृत झरै। पीवत वेगि तबै निसतरै।" इसी प्रकार परशुराम अपनी बार-लीला' में कहते हैं, "बार बार निज राम सँभारूँ। रतन जनम भ्रमवाद न हारूँ॥ सोमसुरति करि सीवल बारा। देष सकल व्यापक व्योहारा॥ मान विसरि जाकौ निस्तारा। समदृष्टि होइ सुमरि अपारा।" दोनों

ही कवि नाम का सुमिरन करते हैं। कबीर सोमवार को जो अमृत झरता है, उसे शीघ्र पीने पर निस्तार होना कहते हैं, और परशुराम सोम को सुगति का शीतल वार कहकर समदृष्टि होकर उसको (नाम को) न बिसारने ही में निस्तार बतलाते हैं। 'बावनी' में कबीर ने उल्लेख किया है, "बावन अच्छर लोक त्रिय, सब कछु इनहीं माहिं। ये सब षिरि षिरि जाहिंगे, सो अषिर इनही में नाहिं॥ तुरक तरीकत जानिए, हिंदू वेद पुरान। मन समझन के कारनै, कछु एक पढ़ोये ग्यान॥" और परशुराम लिखते हैं, "श्रीगुरु दीपक उर धरैं, तब होय प्रकट प्रकास। अच्छर परचै प्रेम करि, ज्यौं सकल तिमिरि को नास॥ सत संगति सँग अनुसरै, रहैं सदा निरधार। बावन पढ़ै बनाय करि, वदि सोइ आकार॥" अर्थात् कबीर इन बावन अक्षरों को लोकत्रय कहकर सब कुछ इन्हीं में बताते हैं। इसी प्रकार परशुराम भी इनको सकल तिमिर का हर्त्ता कहकर उससे 'परचौ' करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार इन ग्रंथों में अनेक स्थलों पर भावसाम्य है। परंतु कबीर के नाम से 'विप्रमतीसी' नाम का जो ग्रंथ मिलता है वह परशुराम की 'विप्रमतीसी' से सर्वथा अभिन्न है।

विप्रमतीसी का मिलान

कबीर	परशुराम
सुनहु सबन मिलि विप्रमतीसी।	सबको सुणियो विप्रमतीसी।
हरि बिन बूड़े नाव भरीसी॥	हरि बिन बूड़े नाव भरीसी॥
ब्राह्मण होके ब्रह्म न जाने।	बामण ह्वै पणि ब्रह्म न जाणै।
घर मह जगत परिग्रह आनै॥	घर मे जगत पतिग्रह आणै॥
जे सिरजा तेहि नहिं पहिचाने।	जिन सिरजे ताकू न पिछाणै।
कर्म भर्म लै बैठि बखानै॥	करम भरम कू बैठि बखाणै॥
ग्रहण अमावस सायर दूजा।	ग्रहण अमावस थावर दूजा।
स्वस्तिक पात प्रयोजन पूजा॥	सूत गया तब प्रोजन पूजा॥
प्रेत कनक मुख अंतर वासा।	प्रेत कनक मुख अंतरियासा।

आहुति सत्य होम कै आशा ॥	सतो अऊत होम की आसा ॥
उत्तम कुल कलि मोहि कहावै ।	कुल उत्तम कलि माहि कहावै ।
फिरि फिरि मध्यम कर्म करावै ॥	फिर फिर मधम कर्म कमावै ॥
× × ×	× × ×
हंस देह तजि न्यारा होई ।	हंस देह तजि नयरा होइ ।
ताकी जाति कहो धूँ कोई ॥	ताकर जाति कहऊँ दहुँ कोई ॥
श्वेत श्याम की राता पियरा ।	× × ×
अवर्ण वर्ण की ताता सियरा ॥	स्याह सुपेद कि राता पीला ।
हिन्दू तुरक की बूढ़ा बारा ।	अवरण वरण कि ताता सीला ॥
नारि पुरुष मिलि करहु विचारा ॥	अगम अगोचर कहत न आवै ।
कहिये काहि कहा नहिं माना ।	अपणै अपणै सहज समावै ॥
दास कबीर सोई पै जाना ॥	समझि न परै कही को मानै ।
	परसादास होइ सोइ जानै ॥

ऊपर के उद्धरणों पर ध्यान देने से स्पष्ट विदित होता है कि थोड़े से हेर-फेर के साथ दोनों ग्रंथ एक ही हैं। अतएव इनका रचयिता भी एक ही होना चाहिए। दोनों ग्रंथकारों ने अपना अपना नाम भी दे दिया है जिससे स्पष्ट है कि दोनों ही उस पर अपना अधिकार प्रकट करते हैं। परशुराम का रचनाकाल ज्ञात नहीं है। वे कबीर से पहले के हैं या पीछे के, यह भी ज्ञात नहीं। इसलिये पूर्ववर्ती और परवर्ती संबंध से भी इस विषय में कोई निर्णय नहीं हो सकता। परंतु इतना निश्चय है कि औरों की भी कुछ रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हैं। कबीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचना स्वामी सुखानंद और बखना जी के नाम से मिलती है। कबीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरों के नाम से चल पड़ेगी, यह कम संभव है। अधिक संभव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगों की रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हों और उनके कर्ताओं को लोग भूल गए हों।

परशुराम के ग्रंथों में न तो निर्माणकाल दिया है और न लिपि-काल ही, जीवन-वृत्त भी इनका अज्ञात है। अनुसंधान से ऐसा विदित

होता है कि ये निंबार्क संप्रदाय के थे। इनके कुछ ग्रंथों के विवरण पहले भी लिए जा चुके हैं जिनके अनुसार ये श्रीभट्ट और हरिव्यास-देव जी के शिष्य थे और संवत् १६६० वि० या सन् १६०३ ई० में उत्पन्न हुए थे (दे० खोज रिपोर्ट सन् १९०० ई०, नं० ७५ और दे० अप्रकाशित खोज रिपोर्ट सन् १९३२-३४ ई०)। प्रस्तुत खोज में मिले हुए 'निज रूप लीला' मे भी इन्होंने हरिव्यासदेव का नामोल्लेख किया है—

हरि सुमिरण निर्मल निर्वाण। जा घट बसै सत्ति सोइ प्राण॥
परसराम प्रभुविण सब काँच। श्री हरिव्यास देव हरि साँच॥

इनके जितने ग्रंथ इस शोध में मिले हैं उनकी भाषा राजस्थानीपन लिए हुए है। इसके दो कारण हो सकते हैं, या तो लेखक ही राजस्थानी था या लिपिकार वहाँ का रहनेवाला हो।

ये निर्गुणवादी और सगुणवादी, दोनों विचार-परंपराओं से प्रभावित हुए जान पड़ते हैं। इन्होंने कबीर की तरह निर्गुण ब्रह्म पर भी कविताएँ की हैं और कृष्णभक्तों की तरह सगुणोपासना पर भी कही हैं। इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं।

निर्गुण भक्तिकाव्य

अवधू उलटी रामकहाणी।
उलस्या नीर पवन कू सोपै यह गति विरलै जाणी॥ टेक॥
पाँचू उलटि एक घरि आया तब सर पीवण लागा।
सुरही सिंघ एक सँग देष्या दानी कूँ सर लागा॥ १॥
मिरगहि उलटि पारधि वेध्या झीवर मछि वसेपा।
उलट्या पावक नार बुझावै सगिम जारी सुवा देष्या॥ २॥
नीचै वरष ऊँच कूँ चढीया बाज बटेरा दाब्या।
एसा अपणगत हुआ तमासा छावै साथा सोई छाव्या॥ ३॥
ऐसी कथैं कहै सब कोई जा घर तै सा सूरा।
कहि परसा तब चौंकि पहुँता का जस मेत अकूरा॥ ४॥

अवधू उलट्यो मेर चढ़यो मन मेरा सुनि जोति धुनि लागी ।
अणभै सबद बजावै बिणकर सोई सुरता अनुरागी ।। टेक ।।
चढ़ि असमान अषाड़ा देषै सोइ बंदिय बड़भागी ।
घर बाहर डर कछू नाही सोइ निरभै बैरागी ।। १ ।।
रहै अकलप कलपतर सो मिलि कलपि मरै नहिं सोई ।
निहचल रहै सदा सोई परसा आवागमण न होई ।। २ ।। ६४ ।।

× × × ×

सगुण भक्तिकाव्य

राग सारंग

कान्हर फेरि कहै। जु कही तब तोकूं मेरी सूं सरै ।
सोवत जागो जसोदा उठी सुन सुत गवद ऊँसरै ।। टेक ।।
लछमण बाण धनुष दै मेरे मोहि जुद्ध को हूंस रे ।
सीया साल के सहै सदादुष करिहूँ असुर बिधौंस रे ।। १ ।।
प्रगटी आई जुद्ध बिया बल सुमन सिंधु सारूं सरै ।
परसराम प्रभु उमगि उठे हरि लीने हाथि हथू सरै ।। २ ।। १ ।।

राग गौड़ी

मनमोहन मगल सुप सजनी निरषि निरषि सुष पाऊं ।
अति सुंदर सुषसिंधु स्याम घण हूँ तासू मन लाऊ ।। टेक ।।
निमषन भजूं तजू निहचै धरि हरि अपभुवन वसाऊं ।
जाको दरस परस अति दुर्ल्लभ हूँ ताकू सिर नाऊं ।। १ ।।
तन मन धन दातार कलपतरु हूँ ताको जस गाऊं ।
अति निर्मलनि देषि भगतिफल मोहि भावै वलि जाऊं ।। २ ।।
प्रभु सों प्रेम नेम निहचै सर्व सदै भलो मनाऊ ।।
और उपाय सकल सुष परिहरि हरि सुष माहि समाऊं ।। ३ ।।
सेऊ चरण शरण रहि हित करि मन हरि मनहि मिलाऊं ।
लज्या लोक वेद की परसा परिहरि दूरि दुराऊं ।। ४ ।।

× × × ×

कबीर की तरह इन्होंने भी हिंदू मुसलमानों के ऐक्य-विषयक कविताएँ की हैं, जिससे पता चलता है कि अन्य कृष्णभक्त कवियों की तरह ये देशसुधार के संबंध में सर्वथा मौन नहीं रहे। उदाहरण—

राग गौड़ी

भाई रे का हिंदू का मुसलमान जो राम रहीम न जाणा रे।
हारि गये नर जनम वादि जो हरि हिरदै न समाणा रे॥
जठरा अगनि जरत जिन राख्यो गरभ संकट गँवाणा रे।
तिहि और तिन तज्यौ न तोकूं तें काहे सु भुलाणा रे॥ १॥
भाड़े बहुत कुम्हारा एकैं जिनि यह जगत घड़ाणा रे।
यह न समझि जिन किनहु सिरजे सो साहिब न पिछाणा रे॥ २॥
भाई रे हक हलालनि आदर दोऊ हरषि हराम कमाणा रे।
भिस्ति गई दुरि हाथ न आइहै जग सो मनमाना रे॥ ३॥
पंथ अनेक नयर उरधर ज्यौ सब का एक विकाणा रे।
परसराम व्यापक प्रभु बपु धरि हरि सबकौ सुरताणा रे॥ ४॥

नीचे उनके शेष ९ ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय देकर उनसे कुछ उद्धरण दिए जाते हैं।

(१) 'नाथलीला' में महात्माओं और दिव्य व्यक्तियों के नाथांत नाम गिनाए गए हैं, जिनमे से कुछ नाथपंथी भी हैं—

भगति भंडारो जानि के, आइ मिले सब नाथ।
परसराम प्रसिद्ध नाम सोइ, भेंटे भरि भरि बाथ॥
परसा परम समाधि में, आय मिले बहु नाथ।
दिव्यनाथ ए सनि करि तू, सुमिरि सुमगल साथ॥
श्रीबद्रीनाथ अनाथ के नाथा। मथुरानाथ भये ब्रजनाथा।
गोकुलनाथ गोवर्धननाथा। नारानाथ वृंदावननाथा॥
काशीनाथ अजोध्यानाथा। सीतानाथ रति रघुनाथा।

× × × ×

अनंत नाथ अचलेसुर नाथा। नेमनाथ श्रीगोरषनाथा ॥
सोमनाथ सुंदर सुषनाथा। भावनाथ भुवनेस्वरनाथा ॥

× × × ×

सर्वनाथ को नाथ हरि, परसराम भजि सोइ।
मनवंछित फल पाइये, फिरि आवागमन न होइ ॥

(२) 'पदावली' में उपदेश, ब्रजलीला तथा भगवान् की अनन्य भक्ति का वर्णन है—

गोविंद मैं वंदीजन तेरा।
प्रात समै उठि मोहन गाऊँ तौ मन मानै मेरा ॥ टेक ॥
कर्तम करम भरम कुल करणी ताकी नाहिं न आसा।
करूँ पुकार द्वार सिर नाऊँ गाऊँ ब्रह्म विधाता ॥
परसराम जन करत बीनती सुणि प्रभु अविगत नाथा ॥

(३) 'रोगरघनामलीलानिधि' में परम तत्त्व का विवेचन किया गया है—

ओंकार अपार उरि उतरे अतर पोय। अतरजामी परसराम व्यापक सब मे सोय ॥
वै तारक वै तत्त्व सब वे पालक प्रतिपाल। वारविणगर विसासु है इतवत सोई आल ॥

× × × × ×

एक अकेला एक रस, एक भाय एक तार। एकाएकी एकही, एक सकल इक सार ॥

× × × × ×

हरि अगणित नाम अनंत के, गाए जे गाए गये। अत न आवै परसराम और अमित योंही रहे ॥

(४) 'सांचनिषेधलीला' में बिना ईश्वर-चिंतन के अन्य सभी कृत्य-कर्मों की व्यर्थता का वर्णन—

ईसुर अण ईसुर सब ईसुर। जो जाण्यो हरि ईश्वर को ईश्वर ॥
ब्रह्मा अण ब्रह्मा सब ब्रह्मा। जो जाण्यो हरि ब्रह्मा को ब्रह्मा ॥
राजा अण राजा सब राजा। जो जाण्यो हरि राजा को राजा ॥
मगल अण मगल सब मगल। जो जाण्यो हरि मगल को मंगल ॥

हरि मंगल मंगल सदा, मंगलनिधि मंगलचार।
परसराम मंगल सकल, हरिमंगल हरण विकार॥

(५) 'हरिलीला' में हरि की लीला का दार्शनिक विवेचन है—

हरि औतारन कौ हरि आगर। हरि निज नांव नाव कौ सागर॥
हरि सागर में सकल पसारा। निर्गुण गुण जाकौ व्यौहारा॥
हरि व्यौहार विचारें कोई। तौ हरि सहज समावै सोई॥
सोइ भागवत भगत अधिकारी। हरि कीरति लागै जेहि प्यारी॥
× × × × ×
हरि है अजपा जाप हरि जापा। हरि है तहाँ पुन्नि नहिं पापा॥
पाप पुन्य हरि कूं नहीं परसै। परसा प्रेम रूप जन दरसै॥
दरस परस जन परसराम, हरि अम्रत भरि पीव।
ता हरि कूं जिनि वीसरे, अब होइ रहौ हरिजीव॥

(६) 'लीलासमझनी' में विश्व का प्रपंच रूप दिखाया गया है।

राग गौड़

कैसी कठिन ठगौरी थारी। देख्यौ चरित महा छल भारी॥
बड़ आरंभ जै औसर साध्या। ज्यौं नलनी सूवा गहि बाध्या॥
छूटि न सकै अकल कललाई। निर्गुण गुण में सब उरझाई॥
उरझि उरझि कोई लहै न पारा। भुरकी लागि बह्यौ संसारा॥
बहि गये वनजि माहि समाया। अविगत नाथ न दीपक पाया॥
दीपक छाड़ि अध्याहै धावै। वस्तु अगह क्यौं गह्यो आवै॥
गह्यो वस्तु न आइये, वाणी जब कियां विचारि।
अंध अचेतन आसवसि, चाले रतन विसारि॥
× × × ×

(७) 'नचत्रलीला' में नचत्रों का दार्शनिक विवेचन है—

चित्रा चिताहरण सबूरी। चित्त गयो चारों दिस पूरी॥
चालि लियो चित चढ्यो चितारें। हरि की चरचा चार विचारें॥
सोइ चेतन चित्त की चतुराई। जु चरित्र बिसारि चितारै लाई॥

ज्यों चात्रिग चितवत चित दीने। त्यौं चिह्न धरैं सति चौरे चीन्हे॥
ज्यों चंद चरित चंदोर पमारी। पै चित चकोर कै प्रीति सुन्यारी॥
चाहि अगनि ताकूं नहिं जारें। जिनि कीनूं चक्र चक्रधर सारें॥

× × × ×

(८) 'निजरूपलीला' मे परमात्मा के स्वरूप का विवेचन है—

मन क्रमं वचन कहतु हौं तोही। हरि समान समृथ नहिं कोई॥
हरि भगति हेत वपु धरि औतारे। हरि परम पवित्र पतित उद्धारे॥
असरण सरण सत्ति हरि नाऊँ। हरि दीन बंधु ताकी वलि जाऊँ॥
हरि निज रूप निरतर आही। गावे सुणे परम पद ताही॥
निज लीला सुमिरण जो करै। तो पुनरपि जनमि न सो वपु धरै॥

× × × ×

हरि सुमिरण निर्मल निर्वाण। जा घट बसै सत्ति सोइ प्राण॥
परसराम प्रभु विण सब कौंच। श्री हरिव्यासदेव हरि साँच॥
जाकै हिरदै हरि बसैं, हरि आरत रतिवंत।
परसराम असरणसरण, सत्ति भगत भगवत॥

(९) 'निर्वाण' में संसार के त्याग और भगवद्भक्ति का उपदेश है—

जौ मन विषय विकार न जाही। तौ स्वारथ स्वाग धर्‌या सुप नाहीं॥
नाटक चेटक स्वाग कहाए। हरि विण सकल काल छलि पाए॥
मत्र जंत्र पढ़ि औषद मूला। उद्र उपाइ करै जग भूला॥
कर्म करत हरि चीत न आया। पाय सकल ब्रह्म की माया॥
पाये माया ब्रह्म की, कर्म भर्म के जीव।
भज्यो न केवल परसराम, सोधि सकल वर सीव॥

× × × ×

कोई जाणै नम हरि भजन की बांधि लई जिन टेक।
मनसा वाचा परसराम प्रेरक सबको एक॥

बनारसी के चार ग्रंथों 'वेदांत-अष्टावक', 'ज्ञानपचीसी', 'शिवपचीसी' और 'वैराग्यपचीसी' के विवरण इस खोज में लिए गए हैं। इनके कई ग्रंथ पहले भी सूचना में आ चुके हैं (दे० त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट सन् १९०० ई० की संख्या १०४, १०५, १०६, १३२)। 'वेदांत-अष्टावक' में वेदांतसंबंधी कुछ तत्वों के निरूपण और आत्मज्ञान का विषय विवर्णित हुआ है। यह संस्कृत से अनुवाद हुआ जान पड़ता है। 'ज्ञानपचीसी' में माया-मोह के त्याग और आत्मानुभव का वर्णन है, 'शिवपचीसी' में शिव के नाम तथा स्वरूप का दार्शनिक विवेचन है और 'वैराग्यपचीसी' में संसार की निस्सारता दिखाकर उससे उपराम करने की शिक्षा है। निर्माणकाल केवल 'वैराग्यपचीसी' में दिया है जो संवत् १७५० वि० की रचना है—

> एक सात पंचास के संवत्सर सुपकार।
> पौष शुक्ल तिथि धरम की जै जै बृहस्पतिवार॥

इन सबका लिपिकाल संवत् १८८० वि० इस आधार पर माना गया है कि ये चारों ग्रंथ अनुक्रम से एक अन्य ग्रंथ 'सुंदर-विलास' के साथ एक ही जिल्द में हैं और एक ही व्यक्ति के द्वारा लिखे गए हैं। 'सुंदर-विलास' का लिपिकाल संवत् १८८० वि० है, अतः इनका भी निश्चयपूर्वक यही लिपिकाल होना चाहिए।

रचयिता का नाम केवल 'ज्ञानपचीसी' और 'शिवपचीसी' में आया है, बाकी दो ग्रंथों में नहीं। किंतु 'वेदांतअष्टावक' का यह दोहा—

> ज्ञानप्रकासहि कह्यो प्रभु मुक्त किहि विधि जानि।
> पुनि वैराग्यहि सो कह्यो तत्त्व लह्यो सर्व ज्ञानि॥ १॥

स्पष्ट बतलाता है कि 'ज्ञानप्रकास' और 'वैराग्य' गुरु द्वारा कथन किए गए हैं। ये 'ज्ञानप्रकास' और 'वैराग्य' सिवा 'ज्ञानपचीसी' और 'वैराग्यपचीसी' के अन्य ग्रंथ नहीं हो सकते। और क्योंकि 'ज्ञानपचीसी' का लेखक बनारसी है इसलिये 'वैराग्यपचीसी' का

लेखक भी वही हो सकता है। इस तरह इन चारों ग्रंथों को बनारसी-कृत मान लेना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

'ज्ञानपचीसी' और 'शिवपचीसी' में **स्याद्वाद** और **पुद्गल** जैसे शब्दों के प्रयोग से रचयिता के जैन होने का प्रमाण मिलता है; क्योंकि ये शब्द जैनशास्त्रों में ही अधिकतर प्रयुक्त होते हैं—

> ज्ञानदीप की सिषा संवारै। स्याद्वाद घंटा झणकारै।
> आगम अध्यातम चँवर ढुलावै। व्यापक धूप सरूप जगावै॥
>
> —शिवपचीसी।

> सुरनर त्रिजग जोनि में नरकनि गोद भमंत।
> महामोह की नींद में सोवै काल अनंत॥
> जहाँ पवन नहीं संचरै तहाँ न जल कल्लोल।
> त्यौं सब परिग्रह त्याग तैं मनसा होय अडोल॥
> ज्यों बूटी संजोग तैं पारा मूर्छित होय।
> त्यौं पुदगल सौं तुम मिलै आतम सक्त समोय॥
>
> —ज्ञानपचीसी।

ऐसा ज्ञान पड़ता है कि वैराग्य के उदय होने पर ये वेदांत की ओर अधिक झुक गए। वैसे भी उच्च स्तर में सब भारतीय दर्शन प्रायः एक ही हो जाते हैं।

मुनिमान जी बीकानेर के रहनेवाले एक जैन लेखक थे। इनका रचा हुआ 'कवि प्रमोद रस' नामक एक अपूर्ण वैद्यक ग्रंथ पहले भी खोज में मिल चुका है, जिसका रचनाकाल संवत् १७४६ वि० या सन् १६८६ ई० है (दे० खो० रिपो० सन् १९२०-२२ ई० सं० १०१)।

इस त्रिवर्षी में उनका इसी विषय पर रचा हुआ 'कवि विनोद-नाथ भाषा निदान चिकित्सा' नामक नवीन ग्रंथ प्रकाश में आया है। यह संवत् १७४५ वि० या सन् १६८८ ई० में रचा गया था और संवत् १८७६ वि० या सन् १८१९ ई० में लिपिबद्ध हुआ। रचनाकाल का दोहा यह है—

संवत् सत्रह से समै, पैंताले वैशाष ।
शुक्र पक्ष पाँचीस दिनै, सोमवार वैमाष ॥

अर्थात् १७४५ वि० की वैशाख सुदी ५ सोमवार को उक्त ग्रंथ बना। इन्होंने इस ग्रंथ में अपने गुरु का परिचय इस प्रकार दिया है—

भट्टारक जिनिचंद्र गुरु, सब गछ को सरदार ।
खरतर गछ महि मानिलौं, सब जन को सुपकार ॥
जाकौ गछ वासी प्रगट, वाचक सुम्मति मेर ।
ताकौ शिष्य मुनिमान जी, वासी बीकानेर ॥
कियौ ग्रंथ लाहौर में, उपजी बुधि की वृद्धि ।
जो नर राषै कंठ में, सो होवै परसिद्ध ॥

इससे प्रकट है कि वे बीकानेर की खरतर गच्छ के प्रधान भट्टारक जिनचंद्र के शिष्य श्री सुम्मति मेरु के शिष्य, जैन मतावलंबी थे। उनका कहना है कि उन्होंने सर्वसाधारण के लिये संस्कृत समझ सकना कठिन जानकर इस ग्रंथ को भाषा में लिखा है, जिससे सब समझ सकें।

संस्कृत अरथ न जानई, सकत न पूरी होइ ।
ताकै बुद्धि परकास कौ भाषा कीनी टोइ ॥

इसमें चिकित्सा के चार चरण, नाड़ी, रोगज्ञान, रोगलक्षण और रोग-चिकित्सा का वर्णन है। इसके आगे चूर्ण प्रकरण, गुटिका प्रकरण, अवलेह प्रकरण तथा रसायन प्रकरण सहित कुल पाँच प्रकरण हैं। इस ग्रंथ का लाहौर में निर्माण हुआ है।

प्रारंभ में निम्नलिखित कवित्त वंदना-स्वरूप लिखा है—

उदि (त) उदोत जगमग रह्यो चित्र भानु
ऐसेई प्रताप आदि ऋषभ कहति हैं ।
ताको प्रतिबिंब देषि भगवान् रूप लेषि
ताहि नमो पाय पेषि मंगल चहति है ॥
ऐसी करौ दया सोंई ग्रंथ करौं टोहि टोहि
धरौ ध्यान तंत्र तोहि उमग गहति है ।

बीचन विघन कोऊ अच्छर सरल दोऊ
नर पढ़ै जोऊ सोऊ सुप को लहति है ॥

इसमें जैन तीर्थंकर आदिनाथ और ऋषभनाथ का नाम आया है।

हजारीदास के रचे हुए 'त्रिकांडबोध' और 'शून्यविलास' नामक ग्रंथ इस त्रिवर्षी में पहली ही बार प्रकाश में आए हैं। पहले ग्रंथ का निर्माणकाल संदिग्ध और दूसरे का अज्ञात है। लिपिकाल दोनों का क्रम से १९४० वि० (१८८३ ई०) और १९८८ वि० (१९३१ ई०) है। पहले ग्रंथ में कर्म, उपासना और ज्ञान का वर्णन तीन भागों में हुआ है, और दूसरे में शून्य की महत्ता का वर्णन है जिसमें शून्य को ही समस्त सृष्टि का आधार माना गया है।

हजारीदास के विषय में यह कहा जाता है कि ये जाति के चौहान क्षत्रिय थे। इनके गुरु गजाधरसिंह और ये एक ही फौज में नौकर थे। वहाँ से पेंशन लेकर दोनों बाराबंकी जिला के भूलामई नामक गाँव में रहने लगे। हजारीदास का दूसरा नाम संतदास भी है। संतदास नाम से बनाए हुए उनके कुछ ग्रंथ पहले भी मिले हैं (खो० रि० सन् १९०९-११ ई० सं० २८१)।

इनके बनाए हुए ६० ग्रंथ कहे जाते हैं। 'त्रिकांडबोध' के रचनाकाल का दोहा यहाँ दिया जाता है—

संवत् दिक श्रुति बान सत, तिथि हरि माधो मास।
सुक्ल पच्छ दिनकर देवस, पूरन ग्रंथ विलास॥

यदि नियमानुसार गति लें तो सं० ७५४४ होते हैं, जो स्पष्ट अशुद्ध है। यदि वक्र गति न लें तो ४४५७ या १४५७ हो सकते हैं। किंतु विवरणकर्ता ने इसके विरुद्ध रचनाकाल सं० १८६९ वि० (१८१२ ई०) माना है। परंतु किस आधार पर, यह प्रकट नहीं किया। अतएव रचनाकाल संदिग्ध ही है।

इनके दोनों ग्रंथों से कविता के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

सुद्ध होय हिय कर्म करि, भक्ति करै परकास।
लहै मुक्ति पद ग्यान ते, बरनत संतादास॥

भानु ग्यान हरि चपभजन, कर्म मुकुर जेहि पास।
सो देपै निज रूप को, वरनत **संतादास**॥
कर्म उभय निषिपापजुत, भक्ति जथा भिनसार।
ग्यान भानु सम मानिये, **संता** कहत विचार॥
विमल कर्म करि देह ते, मन ते सुमिरे नाम।
लपै ज्ञान ते रूप निज, **संता** आठौ जाम॥

—त्रिकाडबोध

जड़ चेतन दोउ सुन्य में, उपजि उपजि खपि जाहिं।
सुन्य न उपजै नहिं खपै, मूरख खंडत ताहि॥
× × × ×

छपै

प्रथमै **ब्रह्मज्ञान** दूसरे कहिय **रसायन**। देवकथा त्रै चतुर वेद ज्योतिष पंचायन॥
षष्ट व्याकरण सप्त धनुद्धर जलतर अष्टक। नौ **संगीत** विचारि दसौ विद्या करि नाटक॥
अश्वरूढ़ दशएक कोक द्वादस भनि त्रै दस। **चौर** चतुरदश तथा **चातुरी** पंद्रह कह्यिम॥
पंद्रह विद्या यह जगत् और शेष सब हैं कला। कँहि **दासहजारी** नाम बिनु जान सबै यह भ्रम जला॥

ग्रंथकार सत्यनामी साधु थे। इन्होंने त्रिकांड बोध के आदि में सत्यनामी संप्रदाय के संस्थापक जगजीवनदास की वंदना की है—

सुमिरि सच्चिदानंदघन, जगजीवन सुपकंद।
सतगुरु पूरन ब्रह्म सोइ, भनत नेति जेहि छंद॥
× × × ×
संता जगजीवन विना, जीवन को फल कौन।
विन पति की पतनी तथा जथा मनुप निन भौन॥

इस खोज में 'मदनाष्टक' की एक प्रति मिली है जिससे उसके रचयिता के संबंध में एक नवीन समस्या खड़ी हो गई है। 'मदनाष्टक'

अब्दुल रहीम खानखाना की रचना कही जाती है। परंतु इस बार खोज में प्राप्त एक हस्तलेख के अनुसार यह **पठानी-मिश्र** की रचना ठहरती है। संभव है कि रहीम को अत्यंत धर्म-परायण होने तथा हिंदू देवताओं में श्रद्धा रखने के कारण—जैसा कि उसकी हिंदी और संस्कृत रचनाओं से ज्ञात होता है—पठानी मिश्र या मुसलमान ब्राह्मण कहा गया हो; परंतु, यह भी असंभव नहीं कि इसका रचयिता कोई भिन्न व्यक्ति ही हो जो ब्राह्मण से मुसलमान होने के कारण पठानी मिश्र कहा जाता हो और जिसने रहीम की सेवा में रहकर अपने स्वामी के नाम से उक्त ग्रंथ की रचना की हो।

नीचे विवरण के साथ दिए गए परिशिष्टों की सूची दी जाती है, जो स्थानाभाव से पत्रिका में नहीं दिए जा सकते।

परिशिष्ट १—ग्रंथकारों पर टिप्पणियाँ।

" २—ग्रंथों के विवरणपत्र (उद्धरण, विषय, लिपि और कहाँ वर्तमान हैं आदि विवरण)।

" ३—उन रचनाओं के विवरणपत्र (उद्धरण, विषय, लिपि और कहाँ वर्तमान हैं आदि विवरण) जिनके लेखक अज्ञात हैं।

" ४—(अ) परिशिष्ट १ में आए हुए उन कवियों की नामावली जो आज तक अज्ञात थे।

(ब) परिशिष्ट १ में आए हुए उन कवियों की नामावली जो पहले से ज्ञात थे, परंतु जिनके इस खोज में मिले हुए ग्रंथ नवीन हैं।

(स) काव्य-संग्रहों में आए हुए उन कवियों की नामावली जिनका पता आज तक न था।

हस्तलिखित ग्रंथों की सूची

जो

मथुरा जिले से सन् १९३५-३६-३७ ई० की खोज में सभा
के लिये प्राप्त हुए हैं—

(१) परशुराम ग्रंथावली—(ले० परशुराम); (२) १—सुंदर-विलास—(स्वामी सुंदरदास) २—गोपालपटल । ३—वेदांत अष्टावक्र—(बनारसी) । ४—ज्ञानपचीसी—(बनारसी) । ५—शिवपचीसी—(बनारसी) । ६—वैराग्यपच्चीसी—(बनारसी) । ७—आत्मविचार । ८—ज्ञानसमुद्र—(स्वामी सुंदरदास) । (३) विक्रमबत्तीसचरित्र ; (४) १—रामजन्म । २—बन्दीस्तुति । (५) नासिकेतोपाख्यान—(नंददास) । (६) १—भभरगीत । २—व्यास की वाणी—(व्यास) । ३—वृंदावनसत । ४—गीतगोविंद । ५—अष्टपदी । ६—ज्योतिषग्रंथ । (७) सुखदेवकृत वेदांतग्रंथ । (८) मूर्त्तिपूजाविधि । (९) बालचिकित्सा । (१०) पाँसा केवली । (११) सुंदरकांड—(तुलसीदास) । (१२) शनिश्चर की कथा । (१३) १—सुंदरशृंगार—(सुंदरदास) । २—बारामासी—(सुंदरदास) । (१४) १—प्रबोधचंद्रोदय नाटक (महाराज जसवंतसिंह) २—सिद्धांतबोध—(महाराज जसवंतसिंह) (१५) अमरवैद्यक । (१६) स्यामसगाई । (१७) कर्मविपाक । (१८) रघुवंश । (१९) तत्त्वबोध । (२०) बृहज्जातक । (२१) चावरी । (२२) बिल्वमंगल । (२३) मूलरामायण । (२४) घटकर्परकाव्य । (२५) तंत्र-मंत्र । (२६) हयग्रीवपंजर । (२७) गुणसागर । (२८) पद्मकोश । (२९) चमत्कार-चिंतामणि । (३०) गोपालरहस्य सहस्रनाम । (३१) राजाधिराज कवच । (३२) षडांग । (३३) रुद्रयामले अकारादिप्रश्न । (३४) शिवतांडव । (३५) भूतभैरव महामंत्र । (३६) रेखागणित । (३७) शनिश्चरमंत्र । (३८) बटुकभैरवस्तोत्र । (३९) विष्णुपंजरस्तोत्र । (४०) विष्णुसहस्रनाम । (४१) अनंतचौदसी व्रत । (४२) महाविद्यास्तोत्र । (४३) कुशकंडिका । (४४) गीता । (४५) धर्म-युधिष्ठिर-संवाद ।

(४६) पार्थिवेश्वर चिंतामणि मंत्र। (४७) बुद्धिदीपिका। (४८) पंचमुखी हनुमान कवच। (४९) अल्लोपनिषद्। (५०) कैवल्योपनिषद्। (५१) प्रेमामृतभागवताष्टक। (५२) राधाविनोद काव्य। (५३) नित्य-नाथकृत सिद्धांतमंत्रसार। (५४) रघु० पो। (५५) कार्तवीर्य्य-स्तोत्र। (५६) कार्तवीर्यार्जुन कवच। (५७) १—भागवत अष्टमो-ध्याय तथा एकादशोध्याय। २—भावपंचाध्यायी—(नंददास)। ३—गीतामाहात्म्य। ४—गीतामहिमा। ५—गंगाष्टक। ६—अम्बिकास्तोत्र। ७—भवानीष्टक। (५८) १—उषाचरित्र। २—रामरक्षा। ३—ककारामायण। (५९) दत्तलालकृत बाराखड़ी—(दत्तलाल)। (६०) १—ग्रंथचिंतावणबोध—(सूरदास कृत)। २—कक्कावत्तीसी। ३—चौरासीबोल। ४—नुगरीसुगरी को पद। ५—बारामासी। ६—पदरागवधावा। (६१) १—सुदामाजी की बाराखड़ी। २—राधामंगल। ३—जानकीमंगल। ४—ग्वालिनीझगरो। ५—दानलीला। ६—लेपौ। ७—किंवत। ८—रामचंद्र की बारा-मासी। (६२) १—भ्रमरगीत। २—पद। ३—ऊपाचरित्र। (६३) १—स्वरोदय। २—रामकवचब्रह्मयामले। ३—सवैया बनारसीकृत। ४—संस्कृत रचना। (६४) १—विष्णुसहस्रनाम। २—ब्रह्मजिज्ञासा। ३—स्वरोदय। ४—विष्णुपंजरस्तोत्र। (६५) १—विष्णुसहस्रनाम। २—ध्यानमंजरी—(अग्रदास)। ३—सुदामा-बाराखड़ी। ४—भगवद्गीतामाला। ५—सप्तश्लोकी भागवत। (६६) कृष्णमंगल। (६७) भिक्षुकगीत। (६८) १—गुरुप्रताप। २—समधिन को मिलबो खेलबो। ३—भ्रमरगीत। ४—जोगलीला—(उदय)। (६९) १—रासपंचाध्यायी—(नंददास)। २—रसमुक्तावली। ३—वृंदावनशत। ४—वैरागशत। ५—शीघ्रबोध। ६—पद। (७०) १—कोकसार—(आनंद)। २—नखशिख। ३—दामोदरलीला। (७१) कवित्तावली—(देवीदास)। (७२) स्वरोदय—(मोहनदास)। (७३) रसपीयूष—(सोमनाथकृत)। (७४) जगन्नाथमहात्म्य। (७५) हरिभक्तिप्रकाश—(गंगाराम पुरोहित 'गंग')। (७६) मधुमालती। (७७)

पृथ्वीराज रासो

[लेखक—साहित्यवाचस्पति रायबहादुर श्यामसुंदरदास, बी० ए०]

इस ग्रंथ के संबंध में बहुत वाद-विवाद चल रहा है, पर अभी तक कोई निश्चित सिद्धांत नहीं स्थिर हुआ है। रायबहादुर महा-महोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा तो इसको १६-१७वीं शताब्दी की रचना मानते हैं और 'पृथ्वीराज-विजय' में चंद का कोई उल्लेख न मिलने से उसके व्यक्तित्व में भी संदेह करते हैं। यदि 'पृथ्वीराजविजय' की अखंडित प्रति मिल गई होती तो इस उल्लेख की बात को प्रामाणिकता का आधार, पूर्णतया नहीं तो अंशतः अवश्य, माना जाता। पर दुर्भाग्य से उसकी खंडित प्रति के ही प्राप्त होने का सौभाग्य अब तक प्राप्त हुआ है।

इधर एक नई स्थिति उपस्थित हो गई है जो पृथ्वीराज रासो की वर्तमान लब्ध प्रतियों के विषय में एक जटिल प्रश्न उपस्थित करती है। मुनि जिनविजय जी ने अपने संपादित 'पुरातन प्रबंध संग्रह' (सिंघी जैन ग्रंथमाला, पुष्प २) में पृथ्वीराज और जयचंद विषयक प्रबंधों में चार ऐसे छंदों को दिया है जिन्हें वे चंद-रचित बताते हैं और इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि "चंद कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित एवं राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिये देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

उन चार छंदों में तीन का रूपांतर तो काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो में लग गया है। चौथे का पता अभी तक नहीं लगा है। वे चारों छंद ये हैं—

(१) मूल

इक्कु बाणु पहु वीसु जु पइँ कइँबासह मुक्कओ,
उर भिंतरी खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउँ भंमइ सूमेसर नदण।
एहु सु गडिदाहिमओ खणइ खुद्दइ सइँभरि वणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
न जाणउं चंदबलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह।

—पृष्ठ, ८६, पद्यांक (२७५)

रूपांतर

एक बान पहुमी नरेस कैमासह मुक्यौ।
उर उप्पर थरहर्यो बीर कष्पतर चुक्यौ॥
बियो बान संधान हन्यौ सोमेसर नदन।
गाढौ करि निग्रह्यौ षनिव गड्यौ संभरि धन॥
थल छोरि न जाइ अभागरौ गाड्यौ गुन गहि श्रागरौ।
इम जंपै चंदवरद्दिया कहा निघट्टै इय प्रलौ॥

—रासो, पृष्ठ १४६६, पद्य २३६।

(२) मूल

अगहु म गहिदाहिमओ रिपुराय खयं करु,
कूडु मंत्रु ममठवओ एहु जंबूय (प ?) मिलि जग्गरु।
सहनामा सिक्खवउ जइ सिक्खिविउ बुज्झइ,
जंपइ चंदबलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ।
पहु पहुविराय सइंभरि धनी सयँभरि सउणइ संभिरिसि,
कइँबास विआस विसट्ठ विणु मच्छि बंधिबद्धओ मरिसि॥

—पृष्ठ वही, पद्यांक (२७६)

रूपांतर

अगह मगह दाहिमौ देव रिपुराइ षयंकर।
कूर मंत जिन करौ मिले जंबू वै जंगर॥
मो सहनामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै।

अप्पै चंद विरद्द वियौ कोइ एह न बुज्झै ॥
प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इह संभलि संभारि रिस ।
कैमास बलिष्ठ बसीठ बिन म्लेच्छ बध बंध्यौ मरिस ॥

—रासो, पृष्ठ २१८२, पद्य ४७६ ।

(३) मूल

त्रिण्हि लक्ख तुषार सबल पाषरिअइँ जसु हय,
चऊदसय मयमत्त दंति गज्जंति महामय,
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर,
ल्हूसडु अरु बलु यान संख कु जाणइ ताह पर ।
छत्तीस लक्ख नराहिवइ विहि विनिडिओ हो किम भयउ,
जइचंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूउ कि घरि गयउ ॥

—पृष्ठ ८८, पद्यांक २८७ ।

रूपांतर

असिय लष्य तोषार सजउ पष्पर सायद्दल ।
सहस हस्ति चवसट्ठि गरुअ गज्जंत महाबल ॥
पंच कोटि पाइक्क सुफर पारक्क धनुद्धर ।
जुध जुधान बार बीर तोन बंधन सद्धनभर ॥
छत्तीस सहस रन नाइबौ विही निम्मान ऐसो कियौ ।
जै चंद राइ कवि चंद कहि उदधि बुड्डि कै घर लियौ ॥

—रासो, पृष्ठ २५०२, पद्य २१६ ।

(४) मूल

जइतचदु चक्कवइ दवे तुह दूसह पयाणउ ।
धरणि धसविउद्धसइ पडइ रायह भंगाणओ ।
सेसुमणिहिं संकियउ मुक्कु हय खरिसिरि खंडिओ ।
तुट्टओ सोहर धवलु धूलि जसुचियतणि मंडिओ ।
उच्छहरिउ रेणु जसग्गिगय सुकवि ब (ज)ल्हु सचउ चवइ ।
वग्ग इंदु बिंदु भुयजु अलि सहस नयण किण परि मिलइ ॥

—पृ० ८८-८९ ।

अब प्रश्न यह उठता है कि कौन किसका रूपांतर है। क्या आधुनिक रासो का अपभ्रंश में अनुवाद हुआ था अथवा असली रासो अपभ्रंश में रचा गया था, पीछे से उसका अनुवाद प्रचलित भाषा में हुआ और अनेक लेखकों तथा कवियों की कृपा से, उसका रूप और का और हो गया तथा क्षेपकों की भरमार हो गई। यदि पूर्ण रासो अपभ्रंश में मिल जाता तो यह जटिल प्रश्न सहज ही में हल हो जाता। राजपुताने के विद्वानों तथा जैन संग्रहालयों को इस ओर दत्तचित्त होना चाहिए।

—

रागमाला

(संगीतशास्त्र का १६वीं शताब्दी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ)

[लेखक—श्री नारायण शास्त्री आठले]

संगीतशास्त्र पर भारतीयों ने बहुतेरे ग्रंथ लिखे हैं; परंच उनमें से बहुत थोड़े ही आज तक प्रकाशित हुए हैं। आनंदाश्रम ग्रंथावली, पूना ने ई० स० १८९७ में पं० निःशंक शार्ङ्गदेव विरचित संगीतरत्नाकर नामक बृहत् सटीक ग्रंथ दो भागों में छापकर प्रकाशित किया है। इसके द्वितीय भाग के पंचम परिशिष्ट में इस विषय के १०४ ग्रंथों की सूची रचयिता के नाम-सहित दी हुई है। इसमें प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'रागमाला-रत्नमाला, कर्त्ता—क्षेमकरणः' दिया है। इसी की संस्कृत प्रस्तावना के आरंभ में "सत्स्वप्यनेकेषु संगीतग्रंथेषु कतिपया एव मुद्रणद्वारा प्रकाशिताः सन्ति। मुद्रणार्हा बहवो ग्रंथा वर्तन्ते" यह स्पष्ट लिखा है।

प्रस्तुत ग्रंथ प्राच्यग्रंथ-संग्रहालय उज्जयिनी में गत वर्ष पं० हरिशास्त्री फलमकर के अन्य ग्रंथों के साथ लिया गया। इसमें केवल ११५ श्लोक हैं और इसकी पत्र-संख्या २१ है। कपड़े से तैयार किए मोटे कागज पर बड़े अक्षरों में लिखा होने से पढ़ने में आसान है। प्रथम पत्र के बीचोबीच "अथ रागमालोत्पत्तिप्रारंभः ॥ पत्रें ॥ ॥ पु० महिपत यादव सांकुर कराचे असे ॥ २१ ॥" यह ग्रंथनाम और लिपिकर्त्ता के नाम सहित पाया जाता है। अंत में लेखक ने अपना समयोल्लेख इस प्रकार किया है—"॥ शके ॥१७५१॥ संवत् ॥१८८६॥ शार्वरी नामाब्दे ॥ वैसाख कृष्ण ॥१०॥ दशमी ॥गुरुवासरे॥ तद्दिने इदं पुस्तकं समाप्तं ॥ ॥६॥ ॥स्वार्थं परोपकारार्थं स्वयं लिखितं ॥ ॥ श्रीमल्लारिमार्तंड-

कामुखलिंगार्पणमस्तु ॥ श्री ॥" इससे मालूम होगा कि यह प्रति ११० वर्ष प्राचीन है। लेखक ने प्रतिलिपि करते समय या तो स्वयं अशुद्ध लिखा हो अथवा जिस पुस्तक पर से प्रतिलिपि की वह अशुद्ध हो। क्योंकि समस्त ग्रंथ में जगह जगह गलतियाँ पाई जाती हैं। ग्रंथ-रचना की समाप्ति का समय ई० स० १५७० है। आफ्रेक्ट महोदय ने इसका परिचय अपने कॅटेलोगस कॅटेलोगरम, भाग १, पृष्ठ ४९८ पर देते हुए बीकानेर-स्थित महाराजा लायब्रेरी में भी इस पुस्तक का होना लिखा है तथा इस नाम की दो अन्य पुस्तकें कर्णाटक-निवासी पुंडरीक विट्ठल और पं० जीवराज दीक्षित की बनाई हुई होना भी बताया है। इनमें से पुंडरीक विट्ठल कृत रागमाला का समय ई० स० १५७६ है। (दे० Poona Orientalist Oct. 1938. page, 164) इससे यह ज्ञात होता है कि क्षेमकर्ण और पुंडरीक विट्ठल समकालीन थे।

क्षेमकर्ण ने इस ग्रंथ के रचने का कारण प्रथम श्लोक के चतुर्थ चरण में इस तरह दिया है—"रचयति सुखसिद्ध्यै जाटवाभूपतेर्द्विजः" इससे 'जाटवा भूपति के सुखसिद्धि हेतु ग्रंथरचना करता हूँ' यह अर्थ निकलता है। इसी प्रकार अंतिम ११२-१३ श्लोकों में अपने आश्रयदाता राजाओं का रसपूर्ण वर्णन करते हुए तथा श्लोक ११४ में अपने पिता महेश पाठक का निर्देश करके ग्रंथसमाप्ति-समय भी दिया है। अतः इन श्लोकांशों का यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा।

> प्राचीरेण सम(सुमु)द्रित परिखया सवेष्टित दुर्गम
> लोकेशोथमचचीकर (त्रि) निजभुजैर्दुर्गेहरीयाह्वय ॥
> तस्याधो नगरी विभाति विपुला स्रोतस्विनी सन्निधौ
> तत्राभूत्प्रबलायुराहितिभुजा शास्ता नृपो शूरवा ॥
> तस्यामस्ति नरेंद्रवदितपदस्तस्यात्मजो वीरजो
> तत्सूनुः खलु जाटलेंद्रनृपति शूरो दृढ. सगरे ॥
>
> × × × ×
>
> तद्भूपस्य पुरोहितेन सुधिया श्रीक्षेमकर्णेन वै
> वशे तस्य महेशपाठकसुतेनैषा नवैवाधुना ॥
> शाके बाहुनवाब्धि द्र (१४९२) सहिते पक्षे समासीकृता
> • ँ श्राव ासि प— ——जे श्रीग — । ग ॥ ११४ ॥

अंत के ११४ वें श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ यह है कि 'यह शुभ रागमाला नामक पुस्तक शालिवाहन शक १४-९२ के श्रावण शुक्ल प्रतिपदा तिथि मंगलवार के दिन समाप्त किया।' इस शक में ७८ जोड़ने से ई० स० १५७० आता है जो कि ऊपर दिया जा चुका है। अतः इसमें संदेह नहीं कि आफ्रेक्ट महोदय ने यह सन् इसी ग्रंथ से उद्धृत करके अपनी सूची में समाविष्ट किया।

ग्रंथकार ने इसके तीन खंड किए हैं :—(१) राग और उनका परिवार, (२) स्वरूप और (३) उत्पत्ति। राग ६ हैं। इनमें से हर एक को ५ स्त्रियाँ और पुत्र हैं। इन सबकी संख्या कुल मिलाकर ७८ होती है। दिए हुए रागों के नाम प्रचलित नामों से कुछ भिन्न मालूम होते हैं। अतः नीचे कोष्ठक में उद्धृत किए हैं।

क्रमांक	रागनाम	रागिनी (स्त्रियाँ)	पुत्र
१	भैरव	बंगाली, भैरवी, बेलावली, पुण्यकी, स्नेहा	बंगाल, पचम, मधु, हर्ष, देशाख, ललित, वेलावल, माधव
२	मालकौशिक	गुंडग्री, गांधारी, श्रीहटी, आंध्रेली, घनाश्री	मारु, मेवाड, बर्बल, मिष्टाग, चंद्रकाश, भ्रमर, पोषर, नंदन
३	हिंदोल	तैलंगी, देवगिरी, वासंती, सिंधुरी, आभारी	मंगल, चंद्रबिंब, शुभ्राग, आनंद, विभास, वर्द्धन, वसंत, विनोद
४	दीपक	कामोदि, पटमंजरी, टोडि, गुजरी, काछेली	कमल, कुसुम, राम, कुतल, कलिंग, बहुल, चंपक, हेमाल
५	श्री	वैराडी, कर्णाटी, गौडि, सावेरी, रामगरी, सैंधवी	सिंधु, मालव, गौड, गंभीर, गुणसागर, विगड, कल्याण, कुंभ, तोगड (भगड)
६	मेघ	मल्लारि, सोरठी, सुहवि, आसावरी, कौकणी	नट, कानर, सारंग, केदार, गुंड, गुंडमल्लार, जालंधर, शंकर

दूसरे खंड में रागों का स्वरूप वर्णन करते हुए कतिपय रागों के आलापने का समय भी दिया है। इसके अनंतर तीसरे खंड में प्रत्येक राग किस तरह उत्पन्न हुआ इसका यथामति वर्णन करके पश्चात् गायकों को चेतावनी देते हुए लिखा है कि "निर्दिष्ट समय पर ही राग गाना चाहिए, एक में दूसरे को न मिलाना चाहिए। इसके विपरीत कार्य करने से महान् आपत्ति उठानी पड़ती है।" इस आशय का श्लोकांश यह है—

युक्ता गायति यो नरोऽनवरतं रागेऽन्यदीया वधू-
मन्यस्मिन्खलु चान्यदीयतनयं कालेऽप्यनुक्ते तथा॥
प्रायो याति भयानकं स निरयं × × ×

इससे यह साफ प्रतीत होता है कि अच्छे गायक प्राय: बताए हुए समय के प्रतिकूल किसी भी राग का गान नहीं करते हैं। इस पुस्तक में दिए गए नगरी, राजा तथा रागों की उत्पत्ति इत्यादि विषयों पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परंतु विस्तार-भय से यहाँ इतना ही।

अजयदेव और सोमल्लदेवी की मुद्राएँ

[लेखक—श्री दशरथ शर्मा, एम० ए०]

इस वर्ष की पत्रिका के प्रथम अंक में श्री दुर्गाप्रसादजी ने भारतीय मुद्राओं पर एक सुंदर निबंध लिखा है। उसमें बारहवें चित्र की मुद्रा राजा जयचंद की और इक्कीसवें की किसी सोमलदेव की मानी गई है। परंतु वस्तुतः बारहवीं मुद्रा शाकंभरीश्वर राजा अजयदेव की और इक्कीसवीं उनकी रानी सोमल्लदेवी की है। प्रिंसेप ने भी बारहवीं मुद्रा को कन्नौज के राजा जयचंद की ही मुद्रा मानने की भूल की थी; और परवर्ती कई लेखकों ने उनकी इसी भूल को बार बार दुहराया है। परंतु गुरुवर श्री गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने टॉड राजस्थान का हिंदी अनुवाद करते समय ही यह निश्चय कर लिया था कि ये मुद्राएँ वस्तुतः अजमेर के संस्थापक महाराजा अजयदेव की हैं। 'पृथ्वीराजविजय', महाकाव्य के पंचम सर्ग में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि अजयदेव ने चाँदी के सिक्के चलाए थे—

स दुर्वर्णमयैर्भूमिं रूपकैः पर्य्यपूरयत्।
ता सुवर्णमयैस्तत्र कविवर्गस्त्वपूरयत्॥
कीर्तिं स वर्तमानाना भटैर्जह्रे जयप्रियैः।
अतीतानागताना तु रूपकैरजयप्रियैः॥

यहाँ दुर्वर्ण शब्द श्लिष्ट है। अजयदेव के रूपक दुर्वर्णमय थे क्योंकि वे दुर्वर्ण अर्थात् चाँदी के बने थे और उन पर अक्षर अधिक सुंदर नहीं थे। दूसरे श्लोक से ज्ञात होता है कि ये रूपक 'अजयप्रिय' नाम से प्रसिद्ध थे, और राजा अजयदेव ने संभवतः पुराने राजाओं के सिक्कों को गलाकर उनके स्थान में इन्हीं को प्रचलित कर दिया था। गुजरात

में इसी प्रकार वीसलप्रिय नामक मुद्राएँ प्रचलित थीं। अजयदेव द्वारा प्रचारित इन मुद्राओं का वर्णन कई शिलालेखों में भी मिलता है। विक्रम-संवत् १२२८ के धोड़गाँव के शिलालेख से मालूम पड़ता है कि इन्हें भी कलदार रुपयों की तरह खूब बजा बजाकर और परख परखकर लिया जाता था। ठीक शब्द ये हैं—"विजेसुत चाहडेन आत्मीय-पितृपितामहोपार्जि´ गृहं मूल्ये प्रदत्तं। तत्रैव गृहोत्पन्ने सुस्वरः सुपरीचितहट्टव्यवहारिकतत्कालवर्तमानरौप्यमयीश्रीअजयदेवमुद्राङ्कित द्राम १६ षोडश गृहीतं"। इसी प्रकार विक्रम संवत् १२२५ के एक शिलालेख में भी इनका नाम दिया गया है। कन्नौज के राजा जयचंद्र जयच्चंद्रादि नाम से प्रसिद्ध थे, परंतु उनका अजयदेव नाम तो अब तक देखने में नहीं आया है।

सोमल्लदेवी चौहानराज अजयदेव की ही रानी थी। पृथ्वीराज-विजय महाकाव्य से प्रकट है कि इसने भी मुद्राएँ चलाई थीं :—

सोमलेखा प्रियाप्यस्य प्रत्यहं रूपकैर्नवैः।
कृतैरपि न सस्पर्श कलङ्केन समाश्रदन्॥

यहाँ रानी का नाम सोमलेखा दिया गया है। परंतु विक्रम संवत् १२२६ के बिजोल्यावाले शिलालेख में अजयदेव को 'सोमल्लदेवी-पति' लिखा है। इसलिये यह सिद्ध है कि सोमल्लदेवी और सोमलेखा एक ही थीं, और महाराज अजयदेव ने उसके नाम से भी सिक्के चलवाए थे। इक्कीसवें चित्रवाली मुद्रा इसी सोमल्लदेवी की है। सोमल्लदेवी के सिक्के प्रायः उन्हीं स्थानों में मिले हैं जो किसी समय चौहान साम्राज्य के अंतर्गत थे *।

———

* इस विषय पर और अधिक विवेचन के लिये 'इंडियन-एंटीक्वेरी' का सन् १९१२, सितंबर मास का अंक देखें।

चयन

दक्षिणभारत-हिंदीप्रचारक-सम्मेलन के सभापति का अभिभाषण

दक्षिणभारत-हिंदी-प्रचारक सम्मेलन, मद्रास के ११वें अधिवेशन के सभापति-पद से पंडित रामनारायण मिश्र ने २१ दिसंबर १९४० ई० को जो महत्त्वपूर्ण अभिभाषण दिया उसके मुख्य अंश यहाँ उद्धृत हैं—

हिंदी का कार्यक्षेत्र चार हिस्सों में बाँटा जा सकता है :

पहला वह क्षेत्र है जहाँ की मातृभाषा हिंदी है; जैसे संयुक्त-प्रांत, बिहार, मध्यप्रदेश, राजपूताना, मध्यभारत और पूर्वी पंजाब* । इस क्षेत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ बड़े बड़े कवि, संत और सुलेखक हुए हैं, जिन्होंने हिंदी को अलंकृत किया है।

साथ ही यहाँ हिंदी-साहित्य का गौरवपूर्ण भांडार छिपा पड़ा है जिसकी ओर यदि ध्यान न दिया गया तो वह नष्ट हो जायगा और भारत के अमूल्य साहित्यिक धन को हम खो बैठेंगे। नागरी-प्रचारिणी सभा ने वर्षों से हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का विभाग खोल रखा है। जो ग्रंथ मिले हैं, उनमें से बहुतों को प्रकाशित भी किया है।

हिंदी का दूसरा कार्यक्षेत्र वह है जहाँ की भाषा की शब्दावली में संस्कृत के शब्द पाए जाते हैं और जहाँ की लिपि देवनागरी या ही

---

* पंजाब अहिंदी प्रांत नहीं कहा जा सकता। पूर्वी पंजाब (लुधियाना, अंबाला, रोहतक, हिसार, करनाल और पानीपत), मध्य पंजाब (काँगड़ा, होशियारपुर, जालंधर, मालवा) और पंजाब के पहाड़ी हिस्से (चंबा, मंडी, सुकेत, कुल्लू, रामपुर, बुशहर, बिलासपुर, सोलन आदि) ये सब तो हिंदी के गढ़ हैं। इनके अतिरिक्त अन्य स्थानों में ठेठ पंजाबी बोली जाती है। पंजाबी भी हिंदी ही है। [यह पादटिप्पणी पंडितजी ने बाद में जोड़ दी है।—सं०।]

रूपांतर है; जैसे गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल। गुजरात के संबंध में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्वामी दयानंद सरस्वती और महात्मा गांधी ने गुजरात में पैदा होने पर भी हिंदी को व्यापक बनाने की जितनी चेष्टा की है उसके लिये हम लोग सदा उनके अनुगृहीत रहेंगे। महाराष्ट्र के भी हम ऋणी हैं जिसने हिंदी को प्रोत्साहन दिया और अपनाया। बंगाल पहले तो हिंदी की ओर झुका था। राजा राममोहन राय ने हिंदी में पुस्तकें लिखी थीं। बाबू शारदाचरण मित्र ने एक-लिपि-विस्तार-परिषद् खोली थी और बाबू नवीनचंद्र राय ने पंजाब में हिंदी का प्रचार किया था। इधर बंगाली विद्वानों ने हिंदी की ओर कुछ कम ध्यान दिया है। उनको अपनी मधुर भाषा पर स्वाभाविक अभिमान है, पर हिंदी के राष्ट्रभाषा बनने से किसी प्रांत की भाषा दब नहीं जायगी। यह आशंका निराधार है; क्योंकि राष्ट्रभाषा का प्रयोग तो अंतःप्रांतीय व्यवहार के लिये किया जायगा और यथार्थ में बंगाल में भी किया ही जाता है। मुझे स्वयं पूर्वी बंगाल, उड़ीसा और असम का अनुभव है। वहाँ हिंदी से साधारण काम अच्छी तरह चल जाता है। संतोष की बात है कि सर मन्मथनाथ मुकर्जी और डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने इन दिनों हिंदू सभा के अधिवेशनों में इस बात को स्वीकार किया है कि हिंदी ही राष्ट्रभाषा-पद को प्राप्त कर सकती है।

हिंदी का तीसरा क्षेत्र वह है जहाँ की भाषा और लिपि हिंदी से बिलकुल ही भिन्न है, जैसे मद्रास प्रांत। आपके प्रांत में हिंदी *स्वच्छ राष्ट्रीय भाषा होने का रूप धारण करती है। यहाँ पहुँचकर उसे* आपके ऐसे उत्साही, कार्यकुशल और देशभक्त प्रचारक मिल गए हैं। आपके प्रांत की भाषाएँ बड़ी प्राचीन, संपन्न और उन्नत हैं। हिंदी उन्हें अपने उच्च आसन से उतारने नहीं आई है और ऐसा वह कर भी नहीं सकती। वह तो भावों और विचारों के आदान-प्रदान के लिये आई है। वह यहाँ व्यवहार में सुविधा देना चाहती है। जहाँ वह अपना साहित्य आपके सामने रखती है वहाँ वह इसके लिये भी उत्सुक

है कि आप अपनी तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नडी भाषाओं के उत्तम साहित्य का रसास्वादन उसे कराएँ। शेक्सपियर और उमर खैयाम का अनुवाद तो हम हिंदी में पाते हैं, पर खेद की बात है कि आपके सुकवियों और संतों की ललित एवं उत्कृष्ट रचनाओं के अनुवाद से हिंदी वंचित है। इस कमी को पूरा करने का इधर प्रयत्न आरंभ हो गया है। आपके ये कवि और संत उसी संस्कृति के पोषक थे जिसके पुजारी हम आपकी ही तरह हैं।

सुनने में आया है, पर इस बात पर विश्वास नहीं होता, कि इस प्रांत के कुछ भाइयों की ऐसी धारणा है कि हिंदी का उत्तर भारत से आकर राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होना उत्तर का दक्षिण पर नया आक्रमण ही है, जैसा कि कहा जाता है कि प्राचीन आर्यों ने किया था। राष्ट्र के एकीकरण के पवित्र आयोजन के अंदर जिन्हें आक्रमण की गंध आती है उनके संबंध में क्या कहा जाय। ऐसे लोग अंतः-प्रांतीयता का स्वप्न भी नहीं देख सकते।

और हिंदी का चौथा क्षेत्र भारतवर्ष से बाहर है जहाँ भारतीय लोग अपना देश छोड़कर बस गए हैं; जैसे लंका, ब्रह्मदेश, सिंगापुर, मारिशस, फिजी, ट्रिनिडाड आदि। इस चौथे कार्यक्षेत्र की ओर अभी हमारा ध्यान नहीं गया है। पर इस ओर हमारी असावधानी घातक हो रही है। नागरीप्रचारिणी सभा के एक उत्साही सभासद ने लंका में कुछ पाठशालाएँ खोली थीं। उनमें प्रवासी हिंदुस्तानियों के अतिरिक्त बौद्ध भिक्षुओं ने भी हिंदी पढ़ना शुरू कर दिया था। पर धनाभाव के कारण काम बंद हो गया। हमारे एक दूसरे सभासद ने फारस की खाड़ी के एक टापू मस्कत और मत्रा में नागरीप्रचारिणी सभा खोली है। हमारे पास अनेक स्थानों से बुलाहट के पत्र चले आ रहे हैं। कई उपनिवेशों में हिंदी के पुस्तकालय खुले हैं। ये सब बातें प्रमाणित कर रही हैं कि वहाँ के भारतीयों को अपनी देश-भाषा से प्रेम है, पर इन उपनिवेशों की ओर हमारे नेताओं का ध्यान अब तक नहीं गया। कई प्रमुख हिंदी-भक्तों और दानवीरों का इस

विषय की श्रोर सभा ने ध्यान दिलाया, पर कुछ फल न निकला। क्या ही अच्छा हो यदि एक बेर महात्मा गांधी इस श्रोर ध्यान दे दें। उपनिवेशों की अवस्था का ज्ञान उनसे अधिक हमारे देश में किसी को नहीं है। उनके ध्यान देते ही जादू का सा असर होगा। बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्र हो जायँगी और इस काम के लिये धन जन की कमी न रह जायगी। पर जब तक इस महान् कार्य के लिये महात्मा जी का आशीर्वाद नहीं प्राप्त होता, क्या तब तक यह काम रुका रहेगा?

× × × ×

आपने अपने एक वार्षिक विवरण में लिखा है कि लिपि के झगड़ों ने आपके मार्ग में कुछ बाधा नहीं डाली। झगड़े दो ही रूप धारण करते हैं—लिपि-संबंधी अथवा भाषा-संबंधी। देवनागरी लिपि पर तो आक्षेप होना ही नहीं चाहिए। उसके संबंध में हजरत ख्वाजा हसन निजामी लिखते हैं—

"हिंदी रस्मउलखत हिंदुस्तान का है जो हमारा मौजूद: 'वतन है और हमारे हिंदू पड़ोसियों और मुल्की भाइयों का रस्मउलखत है। इस वास्ते हमें भी इस रस्मउलखत की तरक्की और हिफाजत में हिस्सा लेना चाहिए।"

जनाब हारूँ खाँ साहब शेरवानी, प्रोफेसर उसमानियाँ कालेज, हैदराबाद और भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

"इसमें किसी किस्म का शुबहा करने की गुंजाइश ही नहीं है कि हिंदी में तो हत्तुल मक़दूर हर तहरीर का मक़सद यही होता है कि पढ़नेवाला वही पढ़े जो लिखनेवाले ने लिखा है।"

आगे चलकर प्रोफेसर साहब ने यहाँ तक कह दिया है कि "मौजूदा रस्मउलखत उर्दू में यह खूबी नहीं पाई जाती है।"

इसलिये, जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, लिपि पर तो झगड़ा होना ही न चाहिए पर हमारे दुर्भाग्य से किसी प्रांत में रोमन और किसी में फारसी लिपि इसके मुकाबिले में खड़ी कर दी जाती है। असम के पहाड़ी हिस्से में कांग्रेसी सरकार ने भी हिंदुस्तानी की शिक्षा

रोमन अक्षरों में देने की आज्ञा दी थी। ईसाई पादरियों की इच्छा पूरी हुई और अब रोमन को हटाना भी एक कठिन समस्या हो गई। कश्मीर में एक कमिटी बैठी थी। उसने सिफारिश की कि प्रारंभिक शिक्षा उर्दू भाषा और फारसी लिपि में दी जाय। उर्दू भाषा तो रह गई, पर वहाँ के महाराज ने देवनागरी को भी रहने दिया। समझ में नहीं आता कि इतनी बात पर वहाँ आंदोलन क्यों खड़ा किया जा रहा है।

झगड़े का दूसरा रूप भाषा-संबंधी है। हमारे सामने 'हिंदुस्तानी' नाम लाकर खड़ा कर दिया गया है। कुछ दिनों तक लोग इसके चक्कर में आ गए थे, पर अब सर तेज बहादुर सप्रू भी, जो 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' (प्रयाग) के कई बरस तक सभापति थे, इस शब्द से दूर भागते हैं और लखनऊ-विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर श्री हबीबुल्ला साहब ने स्पष्ट कह दिया है कि हिंदुस्तानी का इस देश में अस्तित्व ही नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि हिंदुस्तानी के नाम पर विदेशी अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग खुल्लमखुल्ला किया जा रहा है। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आपने भी हिंदुस्तानी रीडर के दूसरे भाग में साधारण बातचीत में गुरु नानक के मुँह से 'खुदा' शब्द कहलाया है, जब कि हम जानते हैं कि जिन बालकों और बालिकाओं के हाथ में यह पुस्तक पड़ेगी वे अपने घर पर 'खुदा' शब्द का प्रयोग कभी न करते होंगे।

× × × ×

अंत:प्रांतीयता के भाव को बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि जो शब्द भिन्न भिन्न प्रांतीय भाषाओं में प्रचलित हों उनके स्थान पर अरबी और फारसी शब्दों को नहीं लाना चाहिए। मैं यह भ्रम दूर कर दूँ कि हम लोग फारसी या अरबी या अँगरेजी के विरोधी हैं। ऐसे जो शब्द आ गए हैं और जिन्हें जनसाधारण समझ लेते हैं उन्हें अवश्य रखना चाहिए। नए आवश्यक शब्दों को भी लेना चाहिए। पर पारिभाषिक शब्दावली में संस्कृत की सहायता के बिना काम नहीं

चलेगा। बहुत से ऐसे शब्द हैं जो पहले से संस्कृत में मौजूद हैं। उन्हें छोड़कर हम अरबी या अँगरेजी के शब्द नहीं लेंगे।

× × × ×

हिंदी को सांप्रदायिकता से दूर रखना है। यह हिंदू और मुसलमान दोनों की बनाई हुई है। यह ठीक है कि हिंदू धर्म के कई सुंदर ग्रंथ हिंदी में हैं, पर यह भी ठीक है कि कई मुसलमानों ने हिंदी में अपने धर्म का गुणगान किया है। हिंदी में एक पुरानी हस्तलिखित पुस्तक मिर्जापुर में एक मुसलमान सज्जन के पास है। दोहे-चौपाइयों में वह मुहम्मद साहब का जीवनचरित है। उसकी भाषा बड़ी ही सुंदर है। उक्त मुसलमान सज्जन नित्य उस पुस्तक का पाठ करते हैं। जायसी, रसखान और रहीम के शुभ नाम से तो लोग परिचित ही हैं। ऐसी अवस्था में सांप्रदायिकता के नाम से हिंदी-उर्दू का झगड़ा खड़ा करना एक प्रकार का देशद्रोह है। हमें आशा है कि दक्षिण भारत इस कलंक से बचा रहेगा।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति का अभिभाषण

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के २६ वें (पूना) अधिवेशन के सभापति श्री संपूर्णानंद का जो महत्त्वपूर्ण अभिभाषण २५ दिसंबर १९४० ई० को अधिवेशन में पढ़ा गया उसके मुख्य अंश यहाँ उद्धृत हैं:—

मैंने अभी पहिले कहा है कि हमारा वाङ्मय-भंडार उत्कृष्ट कोटि के ग्रंथों से भरता जाता है। यह बात सत्य है पर जिस गति से यह बात हो रही है वह संतोषप्रद नहीं है। × × × खेद की बात है कि अभी विज्ञान या दूसरे विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों की माँग नहीं है। दूसरों की तो बात ही न्यारी है, हिंदू विश्वविद्यालय ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया है। नैपाल स्वतंत्र राज्य है और प्राचीन भारतीय संस्कृति का संरक्षक माना जाता है। उसको चाहिए था कि अपनी सीमा में एक विश्वविद्यालय स्थापित करता और राष्ट्रभाषा हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाता। कश्मीर

और बड़ौदा तथा दो एक और राज्य भी ऐसा कर सकते हैं। यदि उनका ध्यान उधर जाय तो उनकी प्रजा में शिक्षा का प्रचार बढ़े, संस्कृति का विकास हो और हिंदी वाङ्मय की वृद्धि और उन्नति हो। मैं समझता हूँ कि यदि हिंदी विद्यापीठ एक पढ़ानेवाला विश्वविद्यालय बन सके और कुछ ऐसे ही और भी विद्यालय खुलें तब भी इस दिशा में कुछ काम हो सकता है। परीक्षाओं की लोकप्रियता तो इस प्रयास की सफलता का सूचक चिह्न है। पर जहाँ माँग की कमी है वहाँ यह भी मानना पड़ेगा कि प्रकाशक अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे हैं। भारत, विशेषतः हिंदू समाज, मे दार्शनिक विषयों के अध्ययन के प्रेमियों की बहुत बड़ी संख्या है परंतु दुःख की बात है कि पाश्चात्य को कौन कहे प्राच्य दर्शनों पर भी अच्छी पुस्तकों का अभाव है। भारतीय गणित और ज्योतिष, धर्मशास्त्र और आचार-शास्त्र, कला और वाङ्मय के संबंध में विदेशी भाषाओं में बड़े सुंदर ग्रंथ मिलते हैं। भारतीय दृष्टि और भारतीय आधारों पर समाजशास्त्र पर पुस्तकों के लिखे जाने की आवश्यकता है। अँगरेजी तथा अन्य यूरोपियन भाषाओं में बच्चों की ज्ञानवृद्धि के लिये जैसी पुस्तकें मिलती हैं वैसी केवल हिंदी जाननेवाले प्रौढ़ों को भी उपलब्ध नहीं हैं। मेरा विश्वास है कि यदि इन विषयों पर अच्छे ग्रंथ प्रकाशित किए जायँ तो उनके लिये ग्राहकों की कमी न रहेगी। केवल कामचलाऊ पुस्तकों को निकालकर प्रकाशक कुछ पैसे भले ही कमा लें पर हिंदी को उनसे कुछ अधिक आशा रखने का अधिकार है।

हमको अपने कवियों की रचना पर उचित अभिमान है। गद्य भले ही बहुत पुराना न हो, पर पद्य-रचना की परंपरा तो सैकड़ों वर्षों से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। उसने समय के साथ अपने रूप में भी परिवर्तन किया है। उसने अस्ताचल पर क्षण भर के लिये टिके हुए भारत के स्वातंत्र्य-सूर्य को अपने सामने डूबते देखा है, आर्य्य और अनार्य्य संस्कृति का संघर्ष उसकी आँखों के सामने हुआ; उसे उन दर्बारों में आश्रय मिला था जहाँ भोग-विलास में डूबकर अपनी

खोई हुई आत्मा की स्मृति भुलाई जाती थी; और आज वह भारत का स्वराज्य आंदोलन तथा पृथ्वी पर नवयुग का प्रसव अपनी आँखों देख रहा है। कवि के कानों में जगती के शोषितों और दलितों का क्रंदन है, उसकी आँखों के सामने एक ओर अपमानित भारत का क्लांत कलेवर और कोटि कोटि नंगों भूखों के कंकाल और दूसरी ओर कारखानों की गगनचुंबी चिमनियाँ और श्रीमानों के नंदनकानन-प्रतिस्पर्धी विलासगृह हैं। उसका हृदय इन बातों से विताड़ित होता है, विचलित होता है। सच्चा कवि इस पृथिवी को छोड़कर भाग नहीं जाता। वह रोता है, पर आँसुओं की झड़ी के पीछे उसे आशा की किरणें भी देख पड़ती हैं। उसकी आँखों के सामने भविष्य का चित्र भी नाच जाता है। वह योगी न सही, पर उसको भी सत्य की अतींद्रिय झलक देख पड़ती है। वह इसलिये कविता कर सकता है कि उसे सत्य का साक्षात्कार हुआ है और सत्य ही सुंदरम् है। जो सच्चा कवि है, कला को जीवन से पृथक् करने की बात नहीं करता। सत्य केवल सुंदर नहीं है, वह शिव भी है; अतः सत्कवि की वाणी में तृषित उत्पीड़ित मानव जाति का संदेश और उपदेश मिलना चाहिए।

मैं आधुनिक कविता को देखता हूँ। मुझे यह भरोसा है कि वह इस युग का प्रतीक बनने का प्रयत्न कर रही है। उसमें निराशा, खोज, शंका, अश्रद्धा, अतृप्ति, संघर्ष, विप्लव, वेदना—ये सब भाव जो आज सहस्र सहस्र भारतीय नर-नारियों को उद्वेलित कर रहे हैं—मिलते हैं पर अभी उसके स्वर में आशा भरी दृढ़ता नहीं है, उसके पास संदेश नहीं है। मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही यह अभाव भी दूर होगा और कवि नवयुग का पथ-प्रदर्शक बनेगा। पर इसके लिये उसको तपस्या करनी पड़ेगी। सत्य बिना आयास के नहीं मिलता। तपस्या के साथ त्याग भी चाहिए। व्यास और वाल्मीकि ने जिस मार्ग को प्रशस्त किया है उस पर त्याग, तपस्या और निर्भयता का ही पाथेय काम देता है। जो ऐसा कर सकता है वही समाज का पथ-प्रदर्शक बन सकता है। उसी की वाणी अमर होगी।

अपने लेखकों से एक निवेदन और करना है। मैं भी उनमें से एक हूँ, इसी नाते ऐसा साहस करता हूँ। वह युग-धर्म पहिचानें। हम कहते हैं और ठीक कहते हैं कि जो साहित्य दर्बारों के दूषित वातावरण में पला था वह स्वयं दूषित था—उसमें जनता के हृदयोच्छ्वासों की ध्वनि नहीं थी। पर यही दोष उस साहित्य में भी है और होगा जिसकी सृष्टि आज के मध्यम वर्ग के कृत्रिम वातावरण में होगी। यह जनता—सच्ची जनता—से बहुत दूर है। इसकी अनुभूतियाँ, इसकी आकांक्षाएँ, जनता की मानस उथल-पुथल की छाया से दूर हैं। दो-चार दिन किसी गाँव में बैठकर ग्रामीण जीवन पर रचना करना, उसकी दयनीयता दिखलाना उसकी हँसी उड़ाना है। दया और भिक्षा के टुकड़ों से ही तो धनिक वर्ग और उसके पीछे चलकर पूँछ हिलानेवाला मध्यम वर्ग दलितों, शोषितों, पीड़ितों को धोखा देना चाहता है, उनकी मूक अशांति को उभरने से रोकना चाहता है। यदि आप उनके साथ तन्मयता प्राप्त करके उनके साथ सह अनुभूति नहीं कर सकते तो उन पर दया दिखलाकर उनका अपमान मत कीजिए। आपको प्रगतिशीलता का यश तो मिलता है पर आप पाप के भागी बनते हैं। हम और आप इसी मध्यम वर्ग से निकले हैं पर जब तक हम अपने अर्ध-सुप्त वर्गभाव को जीत नहीं सकते तब तक हमारी रचना में से खरी मुद्रा की टंकार नहीं निकल सकती।

दो शब्द इस संबंध में और कहना चाहता हूँ। न मैं कवि हूँ, न मैंने काव्य का अध्ययन किया है, अतः जो कुछ कहता हूँ वह यह समझकर कि उसमें कोई अधिकारिता नहीं है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक पद्य-काव्य की धारा के कुछ बहक जाने का डर है। पुराने कवियों की रचनाएँ प्रायः पढ़ी नहीं जातीं। यह भूल जाता है कि उनके द्वारा भी भारतीय आत्मा की ही अभिव्यक्ति हुई थी। रीति-काल और दर्बारी कविता जैसे गाली के शब्द हो गए हैं। उनमें भी कुछ मनोविज्ञान की सामग्री है ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता। पुराने छंद आधुनिक भावों को व्यक्त करने में सर्वथा अक्षम मान लिए गए

हैं। परिणाम यह हुआ कि परंपरा भग्न हो गई है। आजकल की कविता जैसे शून्य में उद्भूत हुई है। इसमें मुझे दो डर देख पड़ते हैं। प्राचीन काल का प्रत्येक कवि तुलसी, सूर या कबीर नहीं हो सका; आज का प्रत्येक कवि प्रसाद, पंत या निराला न हो सकेगा। फलतः जहाँ उस समय भावों की मुक्त धारा रुक गई थी, वहाँ इस समय भी कविता के प्रवाह के कुछ थोड़े से भावों और संस्कृत के दुरूह शब्दों के मरुस्थल में खो जाने की आशंका है। दूसरा डर यह है कि जो कवि इस देश की पुरानी परंपरा से अलग हो गया है वही विदेशी स्रोतों से स्फूर्ति लेता देख पड़ता है। ऐसी उपमाएँ दी जाती हैं जिनका हमारे जीवन से कोई संबंध नहीं है। उर्दू के कवि ने कमल और भ्रमर को छोड़कर ईरान के गुलाब और बुलबुल को अपनाया, जिनको न उसने देखा था न उसके श्रोताओं ने। जिस भारत में मांस खाना कुछ बहुत अच्छी बात नहीं समझी जाती, जो भारत अपने पूर्वजों के पवित्र सोमरस का पान छोड़ चुका था और सुरापान को निंद्य मानता था उसके सामने उन्होंने कबाब और सीख, शराब और साकी का राग अलापा। यह रचना चाहे कितनी ही श्रुति-मधुर हो पर हमारे समाज की आत्मा के अनुकूल न थी; अतः मुट्ठी भर लोगों तक ही रह गई, लोकप्रियता न प्राप्त कर सकी। मैं चाहता हूँ कि हमारे उदीयमान कवि इस बात को न भूलें।

× × × ×

अब मैं उस विषय की ओर आता हूँ जो आज हिंदी के प्रत्येक प्रेमी के हृदय को क्षुब्ध कर रहा है। मैंने आरंभ में ही कहा था कि हिंदी पर चौमुख प्रहार हो रहा है। हम इस प्रहार से डरते नहीं। पिछले सौ डेढ़ सौ वर्षों में हिंदी को राजाश्रय नहीं मिला, उलटे उसे राज्य की उदासीनता और विरोध का सामना करना पड़ा है। आपत्तियों की गोद में वह पली है। हमको विश्वास है कि वह आज की परिस्थिति को भी झेलने में समर्थ होगी। अमर भारती की इस लाड़ली के स्वरों में भारत की राष्ट्रीय आत्मा बोलती है, उसे कोई कुचल नहीं सकता।

फिर भी परिस्थिति को समझ तो लेना ही चाहिए। सरकार की हिंदी और नागरी पर कभी कृपा नहीं रही। जिस लिपि को कोटि कोटि भारतवासी अपनी पवित्र लिपि मानते हैं उसको भारत की मुख्य मुद्रा रुपए पर स्थान नहीं है। आप उसे रुपए के नोट पर न पाएँगे। सरकार का रेडियो विभाग तो हिंदी के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। कहने को तो वह अपने को हिंदी उर्दू से अलग रखकर हिंदुस्तानी को अपनी भाषा मानता है पर उसकी हिंदुस्तानी उर्दू का ही नामांतर है। मैंने शिकायतें सुनी हैं कि टाक्स में संस्कृत के तत्सम शब्दों पर कलम चला दी जाती है। यह हो या न हो, उसकी हिंदुस्तानी के उदाहरण तो हम नित्य ही सुनते हैं। यदि मृग जैसा शब्द भी आ गया तो 'यानी हिरन' कहने की आवश्यकता पड़ती है. पर 'शफ़क़', 'तसव्वुर', 'पेशकश', 'तख़य्युल' जैसे शब्द सरल और सुबोध माने जाते हैं। रेडियो विभाग समझता है कि साधारणतया हिंदू मुसलमानों के घर यही बोली बोली जाती है। रेडियो का 'अनाउंसर' कभी नमस्कार नहीं करता, उसकी संस्कृति में 'आदावअर्ज़' करना ही शिष्टाचार है। संस्कृत शब्दों के शुद्ध उच्चारण न करने की तो शपथ खा ली गई है। नामों तक की दुर्गति कर दी जाती है। आचारिया, विकरमाजीत, इंदर, यह सब तो इनके बाएँ हाथ के खेल हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार ने हिंदी भाषा को बिगाड़ने और जनता में उस संस्कृति का, जिसकी यह भाषा प्रतीक है, विकृत रूप उपस्थित करने के लिये ही इनको नौकर रख छोड़ा है। हिंदू त्योहारों पर अरबी-फारसी शब्दों से लदी ऐसी भाषा में भाषण सुनने में आए हैं कि कुछ कहा नहीं जाता। इन भाषणों को देनेवाले हिंदू भी होते हैं; स्यात् इनका चुनाव ऐसी बोली बोल सकने की योग्यता के ही कारण होता है। हमको इस ओर सतर्क रहना है। जो लोग रेडियो सुनते हैं उनको संगठित होना चाहिए। मुझे यह जानकर हर्ष होता है कि लखनऊ में एक लिसनर्स असोसिएशन स्थापित हुआ है और आकाशवाणी नाम की एक पत्रिका भी निकाली गई है। केंद्रीय व्यवस्थापक सभा के

सदस्यों को सरकार पर दबाव डालना चाहिए और हिंदी पत्रों को भी इस ओर ध्यान देना चाहिए।

मेरे मित्र पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने मेरा ध्यान उस आदेश की ओर आकर्षित किया है जो बुंदेलखंड और युक्तप्रांत में जनगणना करने वालों को दिया गया है। उनसे कहा गया है कि यदि कोई हिंदी या उर्दू को अपनी मातृभाषा बतलाए तो तुम हिंदुस्तानी लिखो। देखने में तो इसमें अकेले हिंदी के विरुद्ध कोई बात नहीं है पर जहाँ पंजाब और हैदराबाद जैसे प्रदेशों में उर्दू बोलने वालों की संख्या लिखी जाय वहाँ ऐसे प्रांतों में जिनकी भाषा हिंदी है हिंदी का नाम न लिखा जाना उर्दू के साथ खुला पक्षपात है। मुझे बतलाया गया है कि यह बात १६२१ से होने लगी है। मैं नहीं कह सकता कि पहिले इसका विरोध किया गया या नहीं। अब समय थोड़ा रह गया है, फिर भी इसके लिये पूरा आंदोलन करना चाहिए।

अब मैं हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के संबंध में कुछ कहना चाहता हूँ। मेरी निज सम्मति से आप अपरिचित नहीं हैं। आप में से बहुतों ने वह पत्र-व्यवहार देखा है, जो पार साल मुझमें और महात्माजी में हुआ था। मेरा अब भी विश्वास है कि मैंने जो सम्मति प्रकट की थी, वह समीचीन है। हमारी भाषा का नाम हिंदी इसे कतिपय मुसलमान लेखकों ने दिया पर हमने इसे अपना लिया। यह नाम हमको प्यारा है, और इसमें सांप्रदायिक या अन्य किसी प्रकार का दोष नहीं है। इसे उर्दू नाम से पुकारने का कोई कारण नहीं है। पृथिवी पर भारत ही तो एक देश नहीं है। दूसरी जगहों में भाषा का नाम देश के नाम पर होता है। फ्रांसीसी, अँगरेजी, जापानी, अरबी, ईरानी—यह सब नाम देशों से संबंध रखते हैं। हिंदी भी ऐसा ही नाम है पर उर्दू में यह बात नहीं है। यह नाम इस देश के नाम से संबंध नहीं रखता। अब यह प्रश्न उठाया जाता है कि राष्ट्रभाषा को न हिंदी कहा जाय, न उर्दू, प्रत्युत हिंदुस्तानी नाम से पुकारा जाय। मैं स्वयं तो उन लोगों में हूँ जो इस बात को

मानने को प्रस्तुत हैं। यदि हिंदुस्तानी कहने भर से काम चल जाय तो यह समझौता बुरा नहीं है। यह देश हिंदुस्तान भी कहलाता ही है पर मुख्य प्रश्न नाम का नहीं, भाषा के स्वरूप का है। विवाद ऊपर से भले ही नाम के लिये किया जाता हो पर उसके भीतर भाषा के स्वरूप का विवाद छिपा है। इस बात को समझकर हमको अपना मत स्पष्ट कर देना है।

हिंदी (या वह हिंदुस्तानी जिसकी मैं कल्पना करता हूँ) जीवित भाषा है और रहेगी। वह मुट्ठी भर पढ़े-लिखों तक ही परिसीमित न रहेगी। उसके द्वारा राष्ट्र के हृदय और मस्तिष्क का अभिव्यंजन होना है। उसको दार्शनिक विचारों, वैज्ञानिक तथ्यों और हृद्गत भावों के व्यक्त करने का साधन बनना है। हमको भारत के बाहर से आए हुए शब्दों का प्रयोग करने में कोई लज्जा नहीं है। अरबी, फारसी के सैकड़ों शब्द बोले जाते हैं, लिखे जाते हैं। यह बात आज से नहीं, चंद बरदाई और पृथ्वीराज के समय से चली आ रही है। सूर, तुलसी, कबीर, रहीम सबने ही ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। अँगरेजी के शब्दों को भी हमने अपनाया है। योगी को सुषुम्ना नाड़ी में प्राण ले जाने पर जिस दिव्य ज्योति की अनुभूति होती है, उसका वर्णन करते हुए आज से दो सौ वर्ष पहिले चरणदास जी ने लिखा था "सुखमना सेज पर लंप दमकै"। पर ये सब शब्द चाहे जहाँ से आए हों हमारे हैं। आगें भी जो ऐसे शब्द आते जायँगे वे हमारे होंगे। हम उनको हठात् कृत्रिम प्रकार से नहीं लेंगे। वे आप भाषा में अपने बल से मिल जायँगे। पर उनके आ जाने पर भी भाषा हिंदी ही है और रहेगी। जिस प्रकार पचा हुआ भोजन शरीर का अविभाज्य अंग हो जाता है उसी प्रकार वे हिंदी के अंग हैं और होंगे। उनकी पृथक् सत्ता चली जायगी। जीवित भाषाएँ ऐसा ही करती हैं। हम संस्कृत के शब्दों को भी इसी प्रकार अपनाते हैं, उनको हिंदी शब्द बना लेते हैं। इसका बड़ा प्रमाण यह है कि वे हिंदी में आने पर संस्कृत के व्याकरण को छोड़ देते हैं, हिंदी-

व्याकरण के अधीन हो जाते हैं। राजा का बहुवचन राजानः, भुवन का भुवनानि, स्त्री का स्त्रियः नहीं किया जाता। कोई लेखक ऐसे प्रयोग करने का दुस्साहस नहीं करता। संस्कृत व्याकरण के विरुद्ध होते हुए भी 'अंतर्राष्ट्रीय' हिंदी में व्यवहृत है। मैंने शुद्ध रूप चलाना चाहा पर सफल न हुआ। पर शुद्ध उर्दू लेखक सुलतान का बहुवचन सलातीन, मुल्क का मुमालिक, खातून का खवातीन लिखता है। ये शब्द अपना विदेशीपन नहीं छोड़ते और इन्हीं विदेशीपन के अभिमान से भरे हुए शब्दों में ही उर्दू का उर्दूपन है; अन्यथा क्रिया, सर्वनाम, उपसर्ग, अव्यय—वे सब शब्द जो भाषा के प्राण हैं—हिंदी उर्दू में एक ही हैं। हम ऐसी कृत्रिम भाषा को, जो जनता मे फैल ही नहीं सकती, हिंदी या हिंदुस्तानी नहीं मान सकते। वह हमारे किसी काम की न होगी। मैं फिर कहता हूँ कि हमको अरबी फारसी के शब्दों से चिढ़ नहीं है। गुजराती, मराठी, बँगला सब में ऐसे शब्द हैं। ऐसे बहुत से घराने हैं, जिनके यहाँ पूजा-पाठ में, विवाहादि उत्सवों में, अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग होता है। बिना बनावट के उनके मुँह से ऐसे शब्द निकल जाते हैं। यह नहीं हो सकता कि आज एकाएक एक वेदपाठी ब्राह्मण और एक हाफिज की भाषा में पूर्णतया साम्य हो। पर जो स्वाभाविक वैषम्य होगा उससे हमारी कोई हानि नहीं होती। हम तो कृत्रिम भाषा के, जिसमें व्यर्थ अरबी फारसी शब्द ठूँसे जाते हैं, विरुद्ध हैं। मेरा तो यह विश्वास है कि यदि हमारी भाषा में स्वाभाविक प्रकार से एक ही अर्थ के द्योतक दो-तीन शब्द—एक संस्कृत का, एक अरबी या फारसी का—आ जाय तो उससे भाषा का भंडार भरता है और वाङ्मय में सुंदरता आती है। अँगरेजी को लीजिए। एक ही अर्थ में क्वेरी, क्वेश्चन, इंटरोगेशन, इंटरपेलेशन जैसे शब्द आते हैं। इनमें क्रमशः थोड़ा सा सूक्ष्म प्रयोग-भेद हो गया है। ऐसा हमारे यहाँ भी क्यों न हो? एक अर्थ में बार-बार एक ही शब्द क्यों प्रयुक्त हो?

पर इसके साथ ही एक और बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए। हम प्रचलित शब्दों को निकालना नहीं चाहते। जो नए शब्द स्वाभा-

विक रूप से पूर्णतया हमारे बनकर आ जायँगे-हम उनको भी अपनायँगे। जो वर्ताव तुर्कों ने अरबों के साथ किया, हम उसका अनुकरण नहीं करना चाहते। परन्तु यह भी निश्चित है कि हमारी भाषा में अधिकतर स्वदेशी अर्थात् संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द रहेंगे। यदि इस भाषा को राष्ट्रभाषा कहना है, यदि इसको सीमाप्रांत ही नहीं वरन् बंगाल और गुजरात, महाराष्ट्र और मलाबार में भी बरता जाना है तो न केवल वाङ्मय, प्रत्युत साधारण बोलचाल और लिखावट में भी इस सिद्धांत को मान लेना होगा। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

बार बार यह कहा जाता है कि कम से कम युक्तप्रांत की तो मातृभाषा उर्दू है। मैं ऐसा नहीं मान सकता। हमारे सामने कुछ हिंदू मूर्तियाँ खड़ी कर दी जाती हैं और उनके मुँह से यह कहला दिया जाता है कि उनके घरों की भाषा उर्दू है। होगी। हमारे लिये यह हिंदू-मुसलमान का प्रश्न नहीं है। हमने कबीर, जायसी, रहीम, रसखान या मीर और अजमेरी को साहित्यकार और हिंदीप्रेमी की दृष्टि से देखा—उनके धार्मिक विचारों से हमसे कोई सरोकार नहीं। पर सरकारी अदालतों के चारों ओर मँडरानेवाले मुट्ठी भर व्यक्तियों की सम्मति प्रामाणिक नहीं हो सकती। युक्तप्रांत में और लोग भी रहते हैं। जहाँ दिल्ली और लखनऊ 'अरबी मरकज' हैं, वहाँ मथुरा, आगरा, प्रयाग और काशी भी साहित्यिक केंद्र हैं।

पर प्रत्यक्ष रूप से उर्दू, या अप्रत्यक्ष रूप से कृत्रिम असार्वजनीन हिंदुस्तानी के नाम पर हिंदी का विरोध करनेवाले तर्क से बहुत दूर हैं। हैदराबाद की भाषा इसलिये उर्दू है कि वहाँ का राजवंश मुस्लिम है और कश्मीर की भाषा इसलिये उर्दू है कि वहाँ की प्रजा में अधिक संख्या मुसलमानों की है। पंजाब में उर्दू इसलिये पढ़ानी चाहिए कि वहाँ ५५ प्रतिशत मुसलमान हैं और बिहार में इसलिये पढ़ानी चाहिए कि वहाँ मुसलमान १२ प्रतिशत भी नहीं हैं। यह भाषा का नहीं सांप्रदायिकता का प्रश्न है। हम सबको इस बात का अनुभव है कि किसी भाषण में जहाँ कोई संस्कृत का तत्सम शब्द आया

वहीं उर्दू के हामी बोल उठते हैं कि साहब, आसान हिंदुस्तानी बोलिए, हम इस ज़ुबान को नहीं समझते परंतु हिंदी-प्रेमी क्लिष्ट अरबी फारसी शब्दों की बौछार को प्रायः चुपचाप सह लेते हैं। हिंदुस्तानी नामधारी उर्दू के समर्थकों का द्वेषभाव कहाँ तक जा सकता है, उसका एक उदाहरण देता हूँ। अभी थोड़े दिन हुए राष्ट्रपति अबुलकलाम आजाद को प्रयाग-विश्वविद्यालय के छात्रों की ओर से एक मानपत्र दिया गया। उस पर उर्दू के समर्थकों के मुखपत्र 'हमारी ज़ुबान' ने एक लंबी व्यंगमयी टिप्पणी लिखी। उसने उन शब्दों को रेखांकित किया जो उसकी सम्मति में हिंदुस्तानी में न आने चाहिएँ। यह कहना अनावश्यक है कि ये सब शब्द संस्कृत से आए हुए थे। यह बात तो कुछ समझ में आती है। यह भी कुछ कुछ समझ में आता है कि इन लोगों की दृष्टि में अरबी, फारसी से निकले हुए दुरूह शब्द सरल और सुबोध हैं। पर विचित्र बात यह है कि मानपत्र का अँगरेजी का कोई शब्द भी रेखांकित नहीं है। यह द्वेषभाव की मर्यादा है। जिस हिंदुस्तानी में अँगरेजी को स्थान हो, पर संस्कृत के शब्द छाँट छाँटकर निकाल दिए जानेवाले हों, वह कदापि इस देश की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती।

× × ×

मैं समझता हूँ कि अब इस संबंध में मुझे कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। मैंने ऊपर जो कुछ कहा है, वह मेरी निजी सम्मति है, परंतु राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में कोई विचारशील और निष्पक्ष व्यक्ति कोई दूसरा मत नहीं रख सकता। मुझे इस बात का हर्ष है कि श्री बा० ग० खेर, श्री राजगोपालाचारी, श्री शरत्चंद्र बोस जैसे लोकनायकों ने मेरे मत का समर्थन किया था। अवश्य ही यह साहमत्य मूल सिद्धांत के साथ था, ब्योरे की बातों को तो समय ही निश्चित करेगा। स्वयं महात्माजी ने उस समय जो लिखा था, उसे आप भूले न होंगे—"आपने लिखा है वह सब मुझे मान्य है। कांग्रेस ने भाषा का नामसंस्करण किया है, और कोई कैद रखा नहीं है"।

मैं फिर कहता हूँ, हमको हिंदी नाम प्यारा है, हम इसे छोड़ना नहीं चाहते। फिर भी यदि केवल इतनी ही बात होती तो हम हिंदुस्तानी नाम को सहर्ष मान लेते। पर यहाँ तो प्रश्न भाषा के स्वरूप का है और इस संबंध में हम अपना मत स्पष्ट कर देना चाहते हैं। भाषा भाव और संस्कृति का प्रतीक होती है। हम भारतीय संस्कृति का—उस संस्कृति का, जिसको हिंदू और मुसलमान दोनों ने मिलकर बनाया है, जिसकी धारा ऋग्वेद काल के पहिले से अजस्ररूपेण चली आ रही है, और उस भाषा को—जिसको हिंदू और मुसलमान लेखकों ने मिलकर पुष्ट किया है, जो देववाणी, पाली और प्राकृत की उत्तराधिकारिणी है, जिसकी जड़ों को अनेक वाग्धाराओं ने सिंचित किया है—कुछ प्रमत्त संप्रदायवादियों और उनकी भोली-भाली कठपुतलियों के हाथों नष्ट न होने देंगे। हिंदी ने ऐसे बहुत से आघातों को झेला है। अब भी झेल जायगी, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है।

हिंदी को किसी भी प्रांतीय भाषा से प्रतिस्पर्धा नहीं है। मेरा तो विश्वास है कि प्रांतीय भाषाओं की उन्नति हिंदी की उन्नति में सहायक होगी। इतना ही नहीं, मेरा तो ऐसा विचार है कि व्रजभाषा, अवधी, बुंदेलखंडी, पूर्वी, मैथिली आदि बोलियों की वृद्धि भी हिंदी की उन्नति में साधक होगी।

मैंने ऊपर बार बार राष्ट्रभाषा शब्द का प्रयोग किया है, मेरा तात्पर्य स्पष्ट है। यों तो बोलचाल और लिखने की भाषा में कुछ अंतर होता ही है, पर मैं राष्ट्रभाषा, साहित्य की भाषा और बोलचाल की भाषा—ऐसी तीन भाषाओं की कल्पना नहीं करता। भाषा तो एक ही है और रहेगी।

भाषा के साथ ही दो शब्द लिपि के संबंध में कहना है। आजकल लिपि के सुधार का प्रश्न उपस्थित हो गया है। मैं भी समझता हूँ कि कुछ परिशोधन की आवश्यकता है, परंतु ऐसा न होना चाहिए कि केवल छापे की सुविधा के नाम पर हमारी पुरानी परंपरा से नाता तोड़कर एक नए प्रकार की ही लिपि का निर्माण कर डालें। देवनागरी

लिपि भारत के सभी कोनों में न्यूनाधिक प्रचलित है और बिना प्रबल कारणों के उसमें यों ही परिवर्तन न करने चाहिएँ।

× × × ×

एक बात और। मैं चाहता हूँ कि सरकारी कागजों की पूरी छानबीन करके एक प्रामाणिक पुस्तक इस विषय पर निकाली जाय कि जिस समय फारसी सरकारी भाषा के पद से हटी उस समय जो सरकारी आज्ञाएँ निकलीं उनकी किसने और किस प्रकार अवहेलना की और वर्त्तमान उर्दू के समुदय में फोर्टविलियम का कहाँ तक हाथ रहा है।

—कृ।

समीक्षा

मारवाड़ का इतिहास, प्रथम भाग—लेखक श्री विश्वेश्वर-नाथ रेऊ; प्रकाशक आर्क्यालाजिकल डिपार्टमेंट जोधपुर; मूल्य ५)।

हमारे देश के इतिहास में राजपूतों का इतिहास बहुत महत्त्व रखता है। १२वीं सदी के अंतिम वर्षों में मुसलमानों के जो आक्रमण हुए उनका प्रभाव यह हुआ कि राजपूत शासक, जो पहिले प्रायः संपूर्ण भारत के स्वामी थे, सिमटते सिमटते केवल राजपूताना की मरुभूमि तथा मध्य-भारत के पहाड़ी तथा जंगली प्रदेशों के स्वामी रह गए। इस प्रकार १३वीं सदी से राजपूताना मुसलमानी राजसत्ता के विकास में बाधक हुआ और इस कारण विशेष महत्त्व प्राप्त करने लगा। प्रायः सभी सशक्त मुसमान शासकों ने राजपूताने को अपने अधीन करना अपना कर्तव्य समझा, परंतु उनको इस उद्देश्य में कभी भी स्थायी सफलता प्राप्त नहीं हुई। राजपूताने के दो राजवंशों ने, विशेष रूप से, समूचे राजपूताने पर उनका अधिकार होने में लगातार बाधा डाली। वे हैं मेवाड़-उदयपुर और मारवाड़*-जोधपुर। मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ की नाके की स्थिति के कारण उस पर कई बार आक्रमण हुए। दिल्ली और गुजरात के रास्ते में पड़ने के कारण तथा राजपूताने की रियासतों में प्रायः सर्व-श्रेष्ठ होने के कारण इसको जीतने की इच्छा दिल्ली के सम्राटों के हृदय में होना स्वाभाविक ही थी। मारवाड़ के राठौड़, मेवाड़ के सीसोदियों

---

* भौगोलिक मारवाड़ प्रदेश में इस समय जोधपुर, बीकानेर तथा किशनगढ़ रियासतें सम्मिलित हैं। यहाँ पर मारवाड़-जोधपुर से उस राठौड़ घराने का अर्थ समझना चाहिए जो कन्नौज से आकर मारवाड़ में बसा और जिसके एक नरपति जोधा ने आगे चलकर जोधपुर नगर बसाया जो उस रियासत की राजधानी का और बाद में उसका ही नाम हो गया।

के बाद सर्वप्रसिद्ध रहे हैं। वरन् राणा साँगा की मृत्यु के पश्चात् महाराणा प्रताप के काल तक तो ये उनसे भी बढ़ गए थे।

अस्तु, मारवाड़ के इतिहास का हमारे देश, विशेषतः राजपूताने, के इतिहास में बड़ा महत्त्व है। रेऊजी ने इस इतिहास को लिखकर भारतीय इतिहास की काफी सेवा की है। उन्होंने इस इतिहास को तैयार करने में तत्कालीन फारसी इतिहासों, ख्यातों, ताम्रपत्रों, शिलालेखों, साधारण पत्रों तथा प्रशस्तियों के अतिरिक्त अर्वाचीन इतिहासों, प्रचलित कथाओं और कहावतों तथा ऐतिहासिक समाचारपत्रों में निकले लेखों और सरकारी रिपोर्टों आदि का यथासाध्य उपयोग किया है। पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर दी गई टिप्पणियाँ इसके सहज प्रमाण हैं। उन्होंने कुछ अल्पज्ञात कालों पर प्रकाश डालने का भी सफल प्रयत्न किया है। कुछ विवादास्पद विषयों पर भी उन्होंने अच्छी दृष्टि डाली है। कहीं कहीं पर उन्होंने कुछ रोचक कहानियाँ टिप्पणियों में दे दी हैं जो लगातार हार-जीत के रूखे वर्णन के बीच बीच बहुत ही भली मालूम होती हैं।

किंतु संभवतः कठिनाइयों की विषमता तथा प्रकाशन की शीघ्रता के कारण इस पुस्तक में इतिहास के बहुत से अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक अंगों पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया। यह कहा जा सकता है कि इसमें केवल मारवाड़-जोधपुर के राजाओं के राजनैतिक जीवन का उल्लेख है—यदि उनकी शासन-प्रणाली को उनके राजनैतिक जीवन का आवश्यक अंग न माना जाय। पिछली सदी के आरंभ में ही इतिहास अपनी संकुचित परिभाषा को बहुत पीछे छोड़ चुका है। आज से १५० वर्ष पहिले ही यह निश्चय हो चुका है कि किसी राज्य के इतिहास में उसके राजाओं के राज्य-काल की घटनाओं, उनके पुत्रों की सूचियों तथा दान दिए हुए गाँवों के उल्लेख या बनवाए हुए तालाब-मंदिर आदि की चर्चा के अतिरिक्त उनकी शासन-प्रणाली, प्रजा की आर्थिक दशा, उसका व्यावसायिक जीवन, सामाजिक तथा धार्मिक संगठन और उसके

साहित्य तथा कला का वर्णन अधिक महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान सदी में तो उस पुस्तक को जिसमें देशवासियों के जीवन के पहलुओं पर कुछ प्रकाश न डाला गया हो, इतिहास कहना इतिहास का अपमान करना है। आशा है, पुस्तक के अगले संस्करण में रेऊजी इस ओर ध्यान देंगे।

इस पुस्तक में छोटे छोटे स्थानों का उल्लेख प्रायः सभी स्थानों पर है। यद्यपि कहीं कहीं पर उन स्थानों की दिशा और दूरी की ओर संकेत किया गया है, फिर भी उनकी स्थिति का ठीक ठीक पता चलना कठिन होता है। अतः एक बड़े आकार के मारवाड़ और राजपूताना के नक्शे की बड़ी आवश्यकता है। मारवाड़-नरेशों में से कम से कम कुछ के अधिकृत प्रदेश भी दूसरे नक्शों पर दिखाना आवश्यक है। इनका अभाव पुस्तक की उपयोगिता पर प्रभाव डालता है।

पुस्तक में जो चित्र दिए गए हैं उनके विषय में यदि काल, निर्माता और प्राप्तिस्थान का उल्लेख होता तो अच्छा होता।

यत्र तत्र इसमें दरबारी इतिहास के दोष आ गए हैं। मालदेव तथा हुमायूँ का संबंध और जसवंतसिंह तथा दारा का संबंध दिखाने में मारवाड़-नरेशों का पक्ष लिया गया है। रविचंद्र सेन और महाराणा प्रताप की तुलना में भी इसी का आभास मिलता है। मोटा राजा उदयसिंह तथा कल्याणमल आदि के मुगल सम्राटों से विवाह संबंध भी शायद इसी कारण स्थान नहीं पा सके हैं।

पुस्तक का नाम मारवाड़ का इतिहास होते हुए भी इसमें न तो कहीं यही कहा गया है कि इसमें मारवाड़ एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है और न बीकानेर तथा किशनगढ़ का इतिहास ही दिया गया है। पुस्तक को पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि मारवाड़ वह लघुतम से लेकर महत्तम प्रदेश है जो किसी समय वर्तमान जोधपुरनरेश के पूर्वपुरुषों के अधिकार में था। इसी कारण संभवतः मल्लिनाथ और जगमाल की रावों में गिनती नहीं की गई।

यद्यपि यह स्पष्ट है कि यह पुस्तक बड़े श्रम और छानबीन का फल है तो भी अपने वर्तमान स्वरूप में यह इस नाम के योग्य नहीं जो इस पर अंकित है। आशा है, अगले संस्करण में यह यथेष्ट पूर्ण बनाई जायगी।

—अवधविहारी पांडेय।

हिल्लोल—लेखक श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'; प्रकाशक शांति-सदन, हिंदूविश्वविद्यालय, काशी; मूल्य १)।

शब्दों में विभिन्न प्रयोगों के हेर-फेर से स्वतंत्र अर्थ उत्पन्न करने की सहज शक्ति होती है। छायावाद के नाम पर होनेवाली अधिकांश कविताओं में आजकल संघटित पद-समुदाय का यही चमत्कारी उलट-फेर दृष्टिगत होता है। किंतु इस वाच्य-वाचक-रचना-प्रपंच में जहाँ आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति रसमयी अर्थभूमि पर अपनी अभिव्यंजना करे वहीं कवित्व का भाव मानना चाहिए। अनूठा से अनूठा वाग्विकल्प अथवा वक्र अर्थ-विन्यास कवित्व नहीं हो सकता, जब तक वह संवेदनात्मकता से हृदय को स्पर्श न करे। काव्योद्गीतों के इस उत्पादन-प्राचुर्य में प्रस्तुत संग्रह की सच्ची अनुभूतिवाली कुछ रचनाओं के ऊर्ज अंश इसके अपवाद हैं। उनमें कवित्व लाभ हुआ है।

'हिल्लोल' की सुलघु भूमिका आचार्यवर श्री केशवप्रसाद मिश्र ने लिखकर नए कवि के उत्साह-संवर्द्धन के साथ साथ साहित्यिक दृष्टि से पुस्तक का मूल्य भी बढ़ा दिया है।

'सुमन' का यह प्रथम उन्मेष है। रचनाएँ सरल हैं और भाव-पूर्ण भी। अतीत के प्रति इनमें बड़ा आग्रह है। अभिव्यंजना का जहाँ भी दाह-संवलित कसक और व्यथा की अनुभूतियों से तादात्म्य हो सका है, वहाँ रचना में भाव-समर्पकत्व का गुण आ ही गया है। जीवन के प्रकृत क्षेत्र में अंतर्गूढ़ घनी पीड़ाओं का हाहाकार लेकर आनेवाला साहसी काव्यकार जीवन से समझौता करने में भी यत्नवान् है, यही उसकी कृतियों की विशेषता है।

हम अपनी असफलताओं से ही कर लेते अपना परिचय।
हम दीवानों का क्या परिचय !!

जीवन के प्रति जो दृष्टि है वह भी पूर्णता की ओर प्रेरित करनेवाली भावना से भरी है—

इसका कहीं नहीं इति अथ है,
जीवन अमर साधना-पथ है।

इस भाँति विषमतावाही संसार में 'अधीर हृदय' और 'प्राण में पीर' लेकर आनेवाले का स्वागत होना चाहिए।

आज के युग में कवि 'दीवाने हैं' कह देने मात्र से वह शब्दार्थ-शासन-ज्ञान, काव्यशिष्टता की मर्यादा और उसके परंपरागत शील के तिरस्करण का निर्व्याज पराक्रमी या अधिकारी नहीं हो सकता। 'कुछ भले बुरे का ज्ञान' भले ही न हो, पर भाषा और प्रयोगों की संघटना तथा संस्कार का ध्यान न रखना बड़े साहस का काम तो है ही, साथ ही कवि को प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग भी। वर्ण्य विषय के अनुरूप भाषा न होने से पद पके हुए चावल में पड़ी कंकड़ी के सदृश गड़ने लगते हैं। 'वह प्रेम पूरित जाम है', 'युग युग जोड़ी आबाद रहे' ऐसे प्रयोग हमें तो 'बादशाह दशरथ' और 'बेगम कौसल्या' से कम कर्णपीड़क नहीं लगते। अपनी भाषा को 'आम फ़हम' बनाने के अभिप्राय से उसमें उर्दू शब्दों का अकारण, यत्र तत्र अनुप्रवेश कर सुकवि 'सुमन' ने 'रेशम की अँगिया में सूत की बखिया' सी की है।

पुस्तक में सुंदरता के साथ साथ कुछ बेढंगे और विलक्षण प्रयोग भी हैं। 'संपुट भरना', 'गोदी पर', 'आर्द्रित होना' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। शब्दों के कुछ विकृत, अशोभन प्रयोग भी हुए हैं—जैसे 'यूँ', 'छुपे हैं', 'रस्ते', 'बयन', 'अंतरतर', 'आगी' इत्यादि। आशा है भविष्य में इन पर कवि-कर्तव्य समझकर ध्यान दिया जायगा।

'हा प्रसाद' और निरालाजी की 'अपना सँवार सितार लो' वाली कविता के अनुकरण पर 'मुझको न सुख ससार दो' के गीत

सुंदर हैं। इनकी भावनाओं में अन्विति की कमी होने पर भी इनमें आत्म-निर्भरता, आशा और विकास की प्रेरणा का पुट है। यह शुभ लक्षण है।

इस प्रथम उन्मेष से हम 'सुमन' के सुंदर विकास की आशा करते हैं।

—रा० ना० शा०।

प्रभुमति के दोहे—लेखक और प्रकाशक श्री प्रभुदयाल अग्रवाल, श्रीकृष्ण व्यापारी पाठशाला, हापुड़, मेरठ ; मूल्य १)।

लगभग दो सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने हिसाब के प्रायः सभी नियमों के लाने का प्रयत्न किया है, जिससे व्यापार में सरलता हो। प्रयत्न श्लाघ्य है; परंतु यदि थोड़ी हो बातों को, जो प्रायः काम में आती हैं, विशेष विस्तार से समझाकर उन पर अधिक उदाहरण दिए गए होते तो पाठक विशेष लाभ उठा सकते थे। बातें बहुत लिखी हैं, पर अभ्यास के साधन कम हैं। अंत में ऐसी प्रश्नावलियाँ होनी चाहिए थीं जिससे विद्यार्थियों को अभ्यास करने का अवसर मिलता। समझाने में भी लेखक महोदय अपने भावों को पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर सके हैं। सवैया तक पहाड़ा दिया है। उपयोगी तो है, परंतु अभ्यास में कम देखा जाता है। ढौंचा, पौंचा भी आजकल कम ही चालू हैं। बहुत से सिक्के ऐसे दिए हैं, जिनके नाम भी आजकल नहीं सुनने में आते; जैसे अति कच्ची और कच्चो दमड़ी। दमड़ी का नाम दुकड़े की जगह रखा गया है। पैसे में आठ दमड़ियाँ होती है और दुकड़े चार, पर लेखक ने धेले में दो दमड़ियाँ बताई हैं। इससे पाठक संदेह में पड़ सकते हैं। मौखिक प्रश्न एक प्रकार के एक साथ रखना अच्छा होता है।

पुस्तक से विद्यार्थी कम लाभ उठा सकते हैं, परंतु बड़े लोगों के लिये यह बहुत उपयोगी है। भाषा में उर्दू शब्दों का अधिक

प्रयोग है। पद्य के प्रयोग का प्रयास यथेष्ट सफल नहीं कहा जा सकता।

—जीवनदास।

साहित्य-संदेश का उपन्यास-अंक—अक्तूबर-नवंबर, १६४०; संपादक सर्वश्री गुलाबराय, एम० ए०, महेंद्र और गोपालप्रसाद व्यास; प्रकाशक साहित्य-संदेश कार्यालय, आगरा; मूल्य १)।

उपन्यास आज की वस्तु नहीं है। प्राचीन महाकाव्य, नाटक, तथा कथा-आख्यायिका में आधुनिक उपन्यास के तत्त्व वर्तमान हैं। पर उस युग के परवर्ती साहित्यकारों की इस ओर से उदासीनता के कारण हमारे साहित्य की कथा-धारा एक लंबे युग तक अंतर्वाहिनी बनी रही। आधुनिक युग में यद्यपि साहित्यकारों ने नवीन विचारधाराओं और नूतन भावव्यंजनाओं की ओर प्रवृत्त होकर हमारे साहित्य के विविध अंगों को वर्तमान रूप में परिपुष्ट किया है; तथापि हमारे वर्तमान साहित्य का सबसे समृद्ध अंग कथा-प्रबंध ही हो रहा है।

प्रस्तुत उपन्यास-अंक में मुख्यतः आधुनिक उपन्यासों एवं उपन्यास-लेखकों की मीमांसाएँ हैं। प्राचीन कथा-साहित्य एवं भारतेंदु-प्रवर्तित गद्य-साहित्य के प्रथम उत्थान के उपन्यासों के संबंध में भी एक एक लेख हैं। अन्य लेखों में वर्तमान उपन्यास-कारों द्वारा प्रतिपादित मतों का विवेचन, उनके चरित्र-चित्रों का विश्लेषण एवं उनके द्वारा गृहीत समस्याओं का यथोचित निदर्शन हुआ है। अन्य भाषा के उपन्यासों के संबंध में भी उपयोगी लेख हैं। विदेशी भाषाओं में अँगरेजी को छोड़कर हिंदी के उपन्यासों पर सबसे अधिक प्रभाव रूसी उपन्यासों का पड़ा है। यद्यपि यत्र तत्र प्रसंगवश तत्संबंधी कुछ चर्चा हो पड़ी है, तथापि स्वतंत्र सामग्री का अभाव है। अंत में 'हिंदी के प्रमुख उपन्यासकार—परिचय और उनके अपने अनुभव' इस शीर्षक से कुछ उपन्यासकारों के पत्र उद्धृत किए गए हैं। इनमें

से कुछ में इतिवृत्तात्मक सामग्री अधिक है, पर अधिकांश आत्म-व्याख्यात्मक एवं अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी हैं।

कुल मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास-अंक यथार्थतः उपादेय है-'साहित्य-संदेश' का यह प्रयत्न श्लाघ्य है, इसके संपादक हमारी बधाई के पात्र हैं।

आकाशवाणी—'रेडियो संबंधी स्वतंत्र पाक्षिक पत्रिका', भाग १—अंक १ (१५ नवंबर, १९४०); संपादक श्री जगदंबाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' और श्री गोपाललाल खन्ना, एम० ए०; आकाशवाणी-कार्यालय, अमीनाबाद, लखनऊ से प्राप्य; मूल्य १।।) वार्षिक अथवा एक अंक का -); छपाई आदि अच्छी।

रेडियो का प्रचार हमारे देश मे उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। इसके प्रचार में भारत-सरकार का प्रधान उद्देश्य जनता का ज्ञानवर्धन और मनोरंजन है, जिसकी पूर्ति के लिये लोकवाणी को मान्यता देना अनिवार्यतः आवश्यक है। पर या तो सरकार को पता नहीं है कि लोकवाणी का निरादर करके वह जनता में असंतोष और क्षोभ उत्तरोत्तर बढ़ा रही है या सब जानते, समझते हुए भी उसे अपनी वर्तमान नीति में सुधार करना अभीष्ट नहीं है। रेडियो विभाग की इस पक्षपातपूर्ण नीति को दूर कराने और रेडियो-जैसी लोकोपयोगी वस्तु को जनता की इच्छा के अनुरूप संचालित कराने का ध्येय लेकर 'आकाश-वाणी' का जन्म हुआ है।

इस अंक में रेडियो संबंधी भिन्न भिन्न विषयों पर कतिपय गंभीर और व्यंगात्मक उपयोगी लेख तथा टिप्पणियाँ हैं। उपयुक्त कार्यक्रम के लिये जो प्रोत्साहन एवं अपरिमार्जित रुचि के, अशिष्ट और संस्कृति-विरोधी कार्यक्रम के लिये जो चेतावनी दी गई है उस पर रेडियो-अधिकारियों को समुचित ध्यान देना चाहिए। बिना ऐसा किए उन्हें जनता की सहानुभूति प्राप्त न होगी। अंत में दिल्ली और लखनऊ के स्टेशनों का पाक्षिक कार्यक्रम दे देने से पत्रिका की उपयोगिता और बढ़ गई है। 'आकाशवाणी' समय से आई है, हिंदी प्रेमी जनता को चाहिए कि वह इसे उत्साह से अपनाए।

—म० वा०।

समीक्षार्थ प्राप्त

अनोखी कहानियाँ—लेखक और प्रकाशक श्री मक्खनलाल दम्माणी; कोट गेट, बीकानेर, मूल्य ॥)।

अपराधी—लेखक श्री पृथ्वीनाथसिंह; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ॥)।

अष्टछापपदावली—लेखक श्री सोमनाथ गुप्त; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य २)।

आशावती उपाख्यान—अनु० श्री महेंद्रकुमार सरकार; प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर; मूल्य ॥)।

आहुति—लेखक श्रीहरिकृष्ण प्रेमी; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ॥=)।

उराबकरम डंडो—लेखक श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर; प्रकाशक पुस्तक भंडार, लहेरियासराय; मूल्य ?

उराव बेंजाडंडी—लेखक श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर; प्रकाशक पुस्तक भंडार, लहेरियासराय; मूल्य ?

एलबम या शब्दचित्रावली—श्री सत्यजीवन वर्मा 'श्री भारतीय'; प्रकाशक 'लेखक' कार्यालय, शारदा प्रेस, प्रयाग; मूल्य ॥=)।

क० ख० ग०—लेखक श्री विद्याभास्कर शुक्ल; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ।-)।

कबीरदास—लेखक श्री नरोत्तमदास स्वामी; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य १।)।

कमला—लेखक श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक सूरी ब्रदर्स, गनपत रोड, लाहौर; मूल्य ॥।)।

कुंडलीसंग्रह—लेखक श्री सूर्यनारायण व्यास; प्रकाशक मोहन प्रिंटिंग प्रेस, माधवनगर, उज्जैन; मूल्य ॥।)।

गुड़गुड़ी—लेखक श्री व्यथितहृदय; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ।)।

चार उपन्यास—अनु० श्री इलाचंद्र जोशी; प्रकाशक रामनारायण लाल, इलाहाबाद; मूल्य ॥)।

जंगल की कहानियाँ—लेखक श्री व्यथितहृदय; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ।=)।

जादू का पिटारा—लेखक श्री विद्याभास्कर शुक्ल; प्रकाशक हिंदी भवन लाहौर; मूल्य ।)।

तुलसीदास—लेखक श्री नरोत्तमदास स्वामी; प्रकाशक हिंदी-भवन, लाहौर; मूल्य ॥।)।

दिव्यजीवन प्रवेशिका—प्रकाशक हिंदी दिव्यजीवन ग्रंथमाला, पो० सिलाव, पटना; मूल्य ?

दुविधा—लेखक श्री पृथ्वीनाथसिंह; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ॥)।

द्वापर की राज्यक्रांति—लेखक श्री किशोरीदास वाजपेयी; प्रकाशक हिमालय एजेंसी, कनखल; मूल्य ॥=)।

निबंधमंजरी—लेखक श्री मीनाराम रंगा; प्रकाशक श्री मक्खन-लाल दम्माणी कोटगेट, बीकानेर; मूल्य १)।

पंखुड़ियाँ—लेखक श्री पृथ्वीनाथ सिंह; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य १)।

प्रजातंत्र—लेखक श्री बा० रा० मोडक, अनु० श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मूल्य १॥)।

प्रतापप्रतिज्ञा—लेखक श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ॥≡)।

प्रतिशोध—लेखक श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य १)।

प्रेमयोग—प्रकाशक हिंदी दिव्य जीवन ग्रंथमाला, पो० सिलाव, पटना; मूल्य ?

फुलवारी—लेखक श्री देवचंद्र विशारद; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य =)।

फूलों की डाली—लेखक श्री देवचंद्र विशारद; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ।=)।

बाल खिलौना—लेखक श्री विद्याभास्कर शुक्ल; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ।)।

बाल महाभारत—लेखक श्री विद्याभास्कर शुक्ल; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ॥=)।

बाल रामायण—लेखक श्री विद्याभास्कर शुक्ल; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ।≡)।

बुलबुल—लेखक श्री जोतिनप्रसाद; प्रकाशक ग्रंथमाला-कार्यालय, बाँकीपुर; मूल्य ॥=)।

बुलबुल—लेखक श्री व्यथितहृदय; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ।)।

भारत की वीर नारियाँ—लेखक श्री व्यथितहृदय; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ॥।)।

भ्रमरगीत—संपादक श्री दानविहारीलाल शर्मा; प्रकाशक व्रज-साहित्य ग्रंथमाला, वृंदावन; मूल्य =)।

मनोहर कहानियाँ—लेखक और प्रकाशक श्री मक्खनलाल दम्माणी; कोटगेट, बीकानेर; मूल्य ।=)।

मालव का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास—लेखक श्री सूर्यनारायण व्यास; प्रकाशक मोहन प्रिंटिंग प्रेस, माधवनगर उज्जैन; मूल्य ॥)।

मीरापदावली—लेखिका श्री विष्णुकुमारी श्रीवास्तव; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ॥≡)।

युंडा गेना दुरंग—लेखक श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर; प्रकाशक पुस्तक भंडार, लहेरियासराय। मूल्य ?

रक्षाबंधन—लेखक श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ॥=)।

ला डिक्शनरी—संपादक श्री पी० डी० श्रीवास्तव; प्रकाशक शिवदयाल श्रीवास्तव बी० ए०, एल-एल० बी०, पाटंकर बाजार, लश्कर, मोरार; मूल्य ५) ।

लेखनी उठाने के पूर्व या लेखकबंधु—लेखक श्री सत्यजीवन वर्मा 'श्री भारतीय'; प्रकाशक लेखक कार्यालय, शारदा प्रेस, प्रयाग; मूल्य १॥) ।

विचित्र अनुभव अर्थात् सरस कहानियाँ—लेखक श्री सत्यजीवन वर्मा 'श्री भारतीय';प्रकाशक लेखक कार्यालय, शारदा प्रेस, प्रयाग; मूल्य ॥≈) ।

विभूतिमती व्रजभाषा—लेखक श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'; प्रकाशक व्रजसाहित्य मंडल, वृंदावन, मूल्य ≈) ।

विमान—लेखक श्री गिरिधरलाल शर्मा; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मूल्य १॥) ।

विश्व पर हिंदुत्व का प्रभाव—लेखक श्री विश्वनाथ शास्त्री; प्रकाशक अखिल भारतीय हिंदू महासभा, २ चर्च लेन, कलकत्ता; मूल्य १) ।

शिवकवच—प्रकाशक हिंदी दिव्यजीवन ग्रंथमाला, पो० सिलाव, पटना । मू० ?

शिवसाधना—लेखक श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य १।) ।

संकीर्तन महिमा—प्रकाशक हिंदी दिव्यजीवन ग्रंथमाला, पो० सिलाव, पटना । मू० ?

संक्षिप्त रामायण—संपादक और प्रकाशक श्री राजाबहादुर पंचम सिंह, पहाड़गढ़, ग्वालियर । मू० ?

सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य—प्रकाशक हिंदी दिव्यजीवन ग्रंथमाला, पो० सिलाव, पटना । मू० ?

सदाचार : शिष्टाचार—लेखक श्री भाईदयाल जैन; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य ।≈) ।

साधनमार्ग—लेखक श्री भगवानदास; प्रकाशक हिंदी दिव्यजीवन ग्रंथमाला, पो० सिलाव, पटना । मू० ?

सुकविसमीचा—लेखक श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य २)।

सूरदास—लेखक श्री नरोत्तमदास स्वामी; प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर; मूल्य १)।

स्वास्थ्यप्रकाश भाग १—लेखक श्री जगेश्वरदयाल वैश्य; प्रकाशक श्री मक्खनलाल दम्माणी, कोटगेट, बीकानेर; मूल्य ।)॥।

स्वास्थ्यप्रकाश भाग २—लेखक श्री जगेश्वरदयाल वैश्य; प्रकाशक श्री मक्खनलाल दम्माणी, कोटगेट, बीकानेर; मूल्य ।-)।

स्वास्थ्यप्रकाश भाग ३—लेखक श्री जगेश्वरदयाल वैश्य; प्रकाशक श्री मक्खनलाल दम्माणी, कोटगेट, बीकानेर; मूल्य ॥)।

स्वास्थ्यप्रकाश भाग ४—लेखक श्री जगेश्वरदयाल वैश्य; प्रकाशक श्री मक्खनलाल दम्माणी कोटगेट, बीकानेर; मूल्य ॥)॥।

हमारी नाट्यपरंपरा—लेखक श्री दिनेशनारायण उपाध्याय; प्रकाशक रामनारायणलाल बुक्सेलर, प्रयाग; मूल्य १)।

——

विविध

बहुमूल्य प्राचीन ग्रंथ-संपत्ति अमेरिका गई

अमेरिका के लाइब्रेरी आव कांग्रेस (कांग्रेस पुस्तकालय) ने गत वर्ष भारत के प्राचीन ग्रंथों के संग्रह के लिये डा० होरेस आइ० पोलमन को यहाँ भेजा था। कलकत्ता पहुँचकर डा० पोलमन ने एक पत्र-प्रतिनिधि को बताया था कि यहाँ खोज में जितने भी ग्रंथ खरीदे जा सकेंगे, मैं खरीदूँगा और शेष के फोटो लूँगा; धन का कोई प्रश्न मेरे सामने नहीं है। सुतरां संस्कृत, प्राकृत, हिंदी और अन्य देशभाषाओं के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के कई संग्रह वे हस्तगत करने में सफल हुए हैं।

डा० पोलमन ने सितंबर १९४० के 'साइंस ऐंड कल्चर' में प्रकाशित 'अमेरिका और भारतीय अध्ययन' शीर्षक अपने लेख में बताया है कि उनके संग्रहों में बहुतेरे ऐसे हस्तलिखित ग्रंथ हैं जो अभी तक किसी ग्रंथ-सूची में उल्लिखित नहीं हैं। उन्होंने कहा है कि इन ग्रंथों की सूची अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी की पत्रिका के एक अतिरिक्त अंक में प्रकाशित होगी। कुछ महत्व के ग्रंथ, जिनका उन्होंने उल्लेख किया है, ये हैं: *रामगोविंदकृत व्यवस्थासारसंग्रह*, *गोविंदानंद*-कृत दायसार, मधुसूदनवाचस्पतिकृत अशौचसंक्षेप, कपालभृत्कृत कृषि-पद्धति, श्रीदत्तोपाध्यायकृत आचारादर्श, रघुनंदनकृत तिथितत्व, नारायण-भट्टकृत रुद्रकलशस्नानविधि, महेश्वरतीर्थकृत टीकासहित रामायण और यासशिक्षा।

इस सूचना के लिये हम नवंबर १९४० के 'इंडियन पी० ई० एन०' के ऋणी हैं।

इतनी और प्राचीन ग्रंथ-संपत्ति से हम वंचित हो रहे। अवश्य लाइब्रेरी आव कांग्रेस की कृपा से फोटो द्वारा इसके उपयोग की हम आशा कर सकते हैं। हमारी प्राचीन ग्रंथ-संपत्ति के प्रति ऐसे उत्साह के लिये हमें अमेरिका के उक्त पुस्तकालय को धन्यवाद देना चाहिए—और अपने को ?

पृथ्वीराजरासो संबंधी शोध

पृथ्वीराजरासो संबंधी शोध में एक अर्धशताब्दी बीत गई है। ऐतिहासिक बृहत्काव्य, हिंदी के प्रथम महाकाव्य की मान्यता से पृथ्वीराजरासो अनेक अधिकारी विद्वानों के द्वारा सर्वथा जाली रचना के रूप में अवमानित हुआ है। परंतु इसके संबंध में यथेष्ट शोध नहीं हुआ है, अतः यथार्थ निर्णय नहीं हुआ है। ऐसा परंपरागत काव्य सर्वथा जाली रचना हो, यह असंभाव्य सी बात है।

हाल में इस ग्रंथ के संबंध में दो ऐसे अनुसंधान हुए हैं जो इसके मौलिक स्वरूप के विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण विचार उपस्थित करते हैं। पहला अनुसंधान, जो दूसरे का एक प्रकार से प्रेरक हुआ है, मुनि जिनविजय जी द्वारा, प्रायः चार वर्ष पूर्व अपने संपादित 'पुरातन प्रबंध संग्रह' (सिंघी जैन ग्रंथमाला, पुष्प २) के पृथ्वीराज और जयचंद विषयक प्रबंधों में, चार देश्य प्राकृत भाषा के पद्यों की उपलब्धि है। उक्त संग्रह की प्रस्तावना में इस संबंध में (पृष्ठ ८-१० पर) मुनि जी ने लिखा है :

हम यहाँ पर एक बात पर विद्वानों का लक्ष्य आकर्षित करना चाहते हैं और वह यह है कि इस संग्रहगत पृथ्वीराज और जयचद विषयक प्रबंधों में हमें यह ज्ञात हो रहा है कि चंदकवि रचित पृथ्वीराजरासो नामक हिंदी के सुप्रसिद्ध महाकाव्य के कर्तृत्व और काल के विषय में जो कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि यह ग्रंथ समूचा ही बनावटी है और १७वीं सदी के आसपास में बना हुआ है, यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो ३-४ प्राकृतभाषारूप

(८६, ८८, ८६ पर) उद्धृत किए हुए मिलते हैं, उनका पता हमने उक्त रासो* में लगाया है और इन ४ पद्यों में से ३ पद्य यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दशः उसमें हमें मिल गए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि चंदकवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिंदू-सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित एवं राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिये देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज-रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई।

हम यहाँ पर पृथ्वीराजरासो में उपलब्ध विकृत रूपवाले इन तीनों पद्यों को प्रस्तुत संग्रह में प्राप्त मूल रूप के साथ साथ उद्धृत करते हैं, जिससे पाठकों को इनकी परिवर्तित भाषा और पाठभिन्नता का प्रत्यक्ष बोध हो सकेगा।

इसके आगे मुनि जी ने उपर्युक्त पद्य उद्धृत किए हैं, जिन्हें इस अंक में रायबहादुर श्यामसुंदरदास जी ने 'पृथ्वीराजरासो' शीर्षक अपने लेख में अवतरित किया है।

पद्यों के बाद मुनिजी ने इस ग्रंथ के शोध के संबंध में जो अपने विचार लिखे हैं, उन्हें कुछ संक्षिप्त रूप में हम यहाँ उद्धृत करते हैं :

हमने इस महाकाव्य ग्रंथ के कुछ प्रकरण, इस दृष्टि से बहुत मनन करके पढ़े तो हमें इसमें कई प्रकार की भाषा और रचनापद्धति का आभास हुआ। भाव और भाषा की दृष्टि से इसमें हमें कई पद्य ऐसे दिखाई दिए जैसे छाछ में मक्खन दिखाई पड़ता है। हमें यह भी अनुभव हुआ कि काशी की नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से जो इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है, वह भाषातत्त्व की दृष्टि से बहुत ही भ्रष्ट है। × × ×

मालूम पड़ता है कि चंद कवि की मूल कृति बहुत ही लोकप्रिय हुई और इसलिये ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों उसमें पीछे से चारण और भाट लोग अनेकानेक नए नए पद्य बनाकर मिलाते गए और उसका कलेवर बढ़ाते गए। कंठानुकंठ प्रचार होते रहने के कारण मूल पद्यों की भाषा में भी बहुत कुछ परिवर्तन

---

* काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित पृथ्वीराजरासो।—सं०।

होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि आज हमें चंद को उस मूल रचना का अस्तित्व ही विलुप्त सा हो गया मालूम दे रहा है। परंतु, यदि कोई पुरातन-भाषाविद् विचक्षण विद्वान् यथेष्ट साधन-सामग्री के साथ पूरा परिश्रम करे तो इस कूड़े-कर्कट के बड़े ढेर में से चंदकवि के उन रत्नरूप असली पद्यों को खोजकर निकाल सकता है और इस तरह हिंदी भाषा के नष्ट-भ्रष्ट इस महाकाव्य का प्रामाणिक पाठोद्धार कर सकता है। नागरीप्रचारिणी सभा का कर्तव्य है कि जिस तरह पूना का भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट महाभारत की संशोधित आवृत्ति तैयार कर प्रकाशित कर रहा है उसी तरह वह भी हिंदी भाषा के महाभारत समझे जाने-वाले इस पृथ्वीराज रासो की एक संपूर्ण संशोधित आवृत्ति प्रकाशित करने का पुण्य करे।

प्रसंगात् मुनिजी ने नागरीप्रचारिणी सभा के पृथ्वीराजरासो के प्रकाशन और उसके कर्तव्य की ओर जो निर्देश किए हैं उनके संबंध में हमें यह कहना है कि सभा ने विद्वानों के शोधकार्य की सुविधा के विचार से ही अपने तत्कालीन साधनों से इस बृहद् ग्रंथ का प्रकाशन किया था और अब इसकी संशोधित आवृत्ति की आवश्यकता वह समझती है। 'यथेष्ट साधन-सामग्री' के योग से संभव है यह 'पुण्य' कार्य भी उसके द्वारा बन पड़े। अस्तु।

इस ग्रंथ के संबंध में दूसरा अनुसंधान बीकानेर की फोर्ट लाइब्रेरी (राजकीय पुस्तकालय) में इसके एक संस्करण की परख है जिसके संबंध में अपने विमर्श श्री दशरथ शर्मा ने इस पत्रिका के वर्ष ४४, अंक ३, पृष्ठ २७५-२८२ पर, 'राजस्थानी' के भाग ३, अंक ३, पृष्ठ १-१५ पर और 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' के ग्रंथ १६, अंक ४, पृष्ठ ७३८-७४९ पर और श्री अगरचंद नाहटा ने 'राजस्थानी' भाग ३, अंक २, पृष्ठ ९-३२ पर दिए हैं। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि रासो का यह संस्करण समय और परिमाण दोनों की दृष्टि से उसके अब तक के उपलब्ध संस्करणों में सबसे प्राचीन और प्रामाणिक है। श्री अगरचंद नाहटा ने लिखा है :

अभी तक रासो के संबंध में जो कुछ लिखा गया है वह नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति के आधार पर ही लिखा गया है। भाषा और ऐतिहासिक

बातों का विश्लेषण भी उसी के आधार पर किया गया है और इस बात में उभय पक्ष के विद्वान् सहमत हैं कि वर्तमान में जो रासो नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है उसमें क्षेपक भाग बहुत अधिक है।

सभा द्वारा प्रकाशित रासो के संस्करण में ६९ समय और लगभग १००००० श्लोक हैं और बीकानेर के उक्त संस्करण में १९ समय और लगभग ४००० श्लोक ही हैं, यद्यपि वह भी क्षेपकों से रहित नहीं है। अनुसंधान में यह पता लगा है कि इस ग्रंथ की "प्रतियाँ जितनी पुरानी हैं उतनी ही छोटी और जितनी नई प्राय: उतनी ही बड़ी हैं। इससे स्पष्ट है कि रासो आरंभ में दीर्घकाय ग्रंथ नहीं था।" और विशेष महत्त्वपूर्ण बात, जिसे श्री दशरथ शर्मा ने अपने लेखों में प्रतिपादित किया है, यह है कि जिन आख्यानों के कारण पृथ्वीराजरासो को कविराजा श्यामलदास, डा० बूलर और डा० गौ० ही० ओझा ने अनैतिहासिक और जाली माना है उनका इस बीकानेरी संस्करण में अभाव है। इससे यह भी प्रतीत हुआ है कि इस ग्रंथ का कोई संस्करण जितना ही प्राचीन है उतना ही ऐतिहासिक दोषों से रहित है। अपने पिछले दो लेखों में श्री दशरथ शर्मा ने १६वीं शती (ई०) के संस्कृत महाकाव्य सुर्जनचरित (?) और प्रसिद्ध फारसी प्रबंध आईन-ए-अकबरी में उपलब्ध पृथ्वीराज संबंधी वर्णनों से, जिनमें बंदी चंद का स्पष्ट उल्लेख मिला है, प्रमाणित किया है कि पृथ्वीराजरासो उस काल में भी प्राचीन और ऐतिहासिक महत्व का ग्रंथ माना जाता था; अत: इसके प्राचीन संस्करणों का निर्माणकाल १६वीं शती से अवश्य ही बहुत पूर्व होगा और उनका "स्वरूप प्राय: ऐसा ही होगा जैसा कि बीकानेरवाले संक्षिप्त संस्करण में मिलता है।"

उपर्युक्त दोनों अनुसंधानों के समन्वय से पृथ्वीराजरासो के मौलिक स्वरूप के विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण विचार उपस्थित होता है। श्री शर्मा ने बताया है कि 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में उद्धृत पद्य "किसी न किसी रूप में रासो के प्राय: सभी संस्करणों में मिलते हैं।" उक्त

संग्रह के सब से पुराने आदर्श का काल संवत् १५२८ है। अतः उसमें उद्धृत रासो के पद्य यह सिद्ध करते हैं कि मूल रासो सं० १५२८ के पूर्व अवश्य विद्यमान था। पद्यों की देश्य प्राकृत या अपभ्रंश भाषा काफी पुरानी, पृथ्वीराज के काल की ही है। मुनि जिनविजय जी ने अपनी प्रस्तावना के तीसरे पृष्ठ पर पृथ्वीराजप्रबंध का रचनाकाल सं० १२९० बताया है। तो जिस रासो से वे पद्य उसमें उद्धृत हैं वह अवश्य इससे और पहले का, अर्थात् विक्रम की १३वीं शती के मध्य का, होगा। पृथ्वीराजप्रबंध के उक्त रचनाकाल को काफी प्रामाणिक न माना जाय तो भी उन पद्यों की भाषा से यह निश्चित होता है कि मूल रासो उक्त काल से बाद का नहीं हो सकता; क्योंकि वह अवश्य ही 'राव जेतसी रो छंद' या पुरानी हिंदी की किसी भी निश्चित काल की रचना से सैकड़ों वर्ष पुराना सिद्ध होता है। "पृथ्वीराजविजय महाकाव्य चौहानों के इतिहास का बहुत अच्छा साधन है, परंतु मूल रासो संभवतः उससे कहीं अधिक संपूर्णांग और ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण पाया जायगा" और सुर्जनचरित महाकाव्य संभवतः संस्कृत में उसका सार माना जायगा। इस प्रकार उक्त अनुसंधानों से यह महत्त्वपूर्ण विचार प्रामाणिकता से उपस्थित होता है कि पृथ्वीराजरासो मूलतः सम्राट् पृथ्वीराज के समय में उसके राजकवि चंद का रचा पृथ्वीराज-यशोवर्णन-विषयक तत्कालीन अपभ्रंश भाषा का, अब से कहीं छोटा, बहुत लोकप्रिय ऐतिहासिक महाकाव्य था जो दीर्घ कंठपरंपरा से अपने विषय और भाषा में धीरे धीरे ऐसा परिवर्द्धित और परिवर्तित हुआ कि अपने वर्तमान रूप में वह बहुत विकृत और व्याहत हो रहा।

अब आवश्यकता यह है और ये महत्त्वपूर्ण अनुसंधान प्रेरणा करते हैं कि पृथ्वीराजरासो के प्राचीन संस्करणों के लिये गहरी खोज की जाय—बीकानेर के उक्त संस्करण का तो यथासंभव शीघ्र आलोचनात्मक संपादन प्रकाशित हो—जिससे उपर्युक्त विचार पुष्ट हो और हिंदी के इस प्रथम महाकाव्य का शोध यथार्थतः निर्णीत हो।

'सभ्यता की समाधि' में योग इंस्टीट्यूट के प्रकाशन

ज्योर्जिया, अमेरिका के ओग्लोथोर्पे विश्वविद्यालय ने मई १९३५ ई० में बीसवीं शती तक की मानवीय सभ्यता की प्रतिनिधि वस्तुओं का संग्रह कर उन्हें ६००० वर्ष बाद की मानवीय संतति के ज्ञानार्थ एक समाधि में सुरक्षित करने का महान् ऐतिहासिक समारंभ उठाया। पाँच वर्षों तक प्रतिनिधि वस्तुओं का संग्रह हुआ। मानवीय इतिहास में श्रेष्ठ मूल्य के ७८३ ग्रंथ समाधि के लिये चुने गए। उनमें बंबई के योग इंस्टीट्यूट के ७ प्रकाशन भी हैं, जिन्हें उसके संस्थापक-प्रधान श्री योगेंद्र ने संपादित किया है। गत २५ मई १९४० ई० को वह सभ्यता की समाधि मुद्रित हो गई। ८११३ ई० तक उसे मुद्रित रहना है। यह सूचना हमें योग इंस्टीट्यूट के मंत्री के द्वारा मिली है।

उक्त सम्मान पर योग इंस्टीट्यूट हमारी बधाई का पात्र है। उसके सुरक्षित ग्रंथों के द्वारा संभवतः उस सुदूर भविष्य में भारत की प्राचीन योगशिक्षा का प्रामाणिक परिचय सुलभ होगा।

'हिंदी'

हिंदी भाषा तथा नागरीलिपि के संरक्षण और प्रसार के उद्देश्य से काशी नागरीप्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में यह मासिक पत्रिका गत मार्गशीर्ष से निकलने लगी है। सभा के सभापति आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में ही हम हिंदी-प्रेमियों से इसके संबंध में अनुरोध करते हैं—

हमारी परंपरागत भाषा को हमारे व्यवहारों से अलग करने का प्रयत्न बहुत दिनों से चल रहा है, पर अपनी स्वाभाविक शक्ति से यह अपना स्थान प्राप्त करती चली आ रही है। इधर जब से हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की चर्चा छिड़ी है तब से इसके विरोधी बड़े प्रचंड वेग से इसकी गति रोकने के अनेक उपाय रचने में लग गए हैं। इस अवसर पर अपनी भाषा की रक्षा का भरपूर उद्योग हमने न किया तो सब दिन के लिये पछताना पड़ेगा। पर हममें से अधिकतर लोगों को यह भी पता नहीं है कि हिंदी को उखाड़ फेंकने के लिये कितने चक्र किन किन रूपों

में कहाँ कहाँ चल रहे हैं। यही देखकर यह 'हिंदी' पत्रिका निकाली गई है। यह इस बात पर बराबर दृष्टि रखेगी कि अनिष्ट की आशंका कहाँ कहाँ से है और समय समय पर अपनी सूचनाओं द्वारा हिंदीप्रेमियों से स्थिति पर विचार करने और आवश्यक उद्योग करने की प्रेरणा करती रहेगी।

हमें पूरा विश्वास है कि समस्त देशभक्त और मातृभाषाप्रेमी सज्जन इस पत्रिका की सहायता हर प्रकार से—धन से, लेख से, आवश्यक बातों की सूचना से, अवसर के अनुकूल परामर्श से—करेंगे और यह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करेगी।

कार्तिक-अंक के चित्र

पत्रिका के गत कार्तिक के अंक में 'काशी-राजघाट की खुदाई', शीर्षक लेख से संलग्न चित्र, 'राजघाट की खुदाई का एक दृश्य' भारत-कला-भवन के सहायक संग्रहाध्यक्ष श्री विजयकृष्ण के सौजन्य से प्रकाशित हुआ है। वह उनके निजी संग्रह के एक फोटो से तैयार हुआ है। हमें खेद है कि यह कृतज्ञता हम यथास्थान न प्रकाशित कर सके।

उस अंक के दूसरे लेख,'राजघाट के खिलौनों का एक अध्ययन', से संलग्न १२ चित्र भारत-कला-भवन में संगृहीत खिलौनों से श्री अंबिकाप्रसाद दुबे के द्वारा तैयार कराए गए हैं।

—कृ।

सभा की प्रगति

पुस्तकालय

कार्तिक में पुस्तकालय के सहायकों की संख्या १०६ थी। ३ नए सहायक बने और ६ सहायकों ने अपने नाम कटा लिए, जिससे माघ के अंत में सहायकों की संख्या ११० रही।

प्रकाशकों से पुस्तकें मँगाने के लिये ६० कार्ड भेजे गए जिनमे से २१ पर सफलता प्राप्त हुई। इनके अतिरिक्त भी कई प्रकाशकों ने अपनी पुस्तकें पुस्तकालय को भेंट कीं।

कार्तिक के अंत में हिंदी विभाग की छपी पुस्तकों की संख्या १५४३२ थीं। १७० नई पुस्तकें प्राप्त हुई। अब छपी पुस्तकों की संख्या १६६०२ है।

इस अवधि में ७२ दिन पुस्तकालय खुला रहा।

हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज

गत कार्तिक मास मे राय साहब ठाकुर शिवकुमार सिंह से सभा ने हस्तलिखित पुस्तकों की खोज के कार्य का निरीक्षण कराया। ठाकुर साहब ने बड़ी लगन और परिश्रम से यह कार्य संपन्न किया जिसके फल-स्वरूप खोज के एक एजेंट पं० बाबूराम वित्थरिया को अलग कर देना पड़ा। उनके स्थान पर श्री महेशचंद्र गर्ग एम० ए० नए एजेंट नियुक्त किए गए हैं। पुस्तकों के विवरण लेने का काम नियमित रूप से हो रहा है।

प्रकाशन

प्रकीर्णक पुस्तकमाला में 'त्रिवेणी' और सूर्यकुमारी-पुस्तकमाला में 'हिंदी गद्य-शैली का विकास' का नया संस्करण छपकर प्रकाशित

हो गया। खेद है कि आर्थिक कठिनाई तथा कागज आदि की महँगी के कारण सभा को इस वर्ष की स्वीकृत कई पुस्तकों का छापना स्थगित कर देना पड़ा। पर जिन मालाओं की स्थायी निधियाँ हैं उनका छापना नहीं बंद किया गया है। बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तक-माला में 'राजरूपक' तथा देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला में 'मोहें जो दड़ो' नाम की पुस्तक छप रही है। राजरूपक डिंगल भाषा का बहुत प्रसिद्ध और उच्च कोटि का ग्रंथ है। इसके संपादक जोधपुर के वयोवृद्ध अनुभवी विद्वान् पं० रामकर्ण जी हैं। 'मोहें जो दड़ो' भी प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति-संबंधी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसके लेखक हैं श्री सतीशचंद्र काला, एम० ए०।

हिंदी व्याकरण का नया संस्करण छापने का निश्चय हो चुका है। संक्षिप्त शब्दसागर का संशोधित और प्रवर्धित संस्करण प्रकाशित होगा। संशोधन तथा नए शब्दों के संग्रह का कार्य श्री रामचंद्र वर्मा कर रहे हैं।

श्री महेंदुलाल गर्ग विज्ञान ग्रंथावली

सरकारी कृषि विभाग के डिप्टी डाइरेक्टर श्री प्यारेलाल गर्ग ने अपने स्वर्गीय पिता श्री महेंदुलाल गर्ग के नाम से उक्त ग्रंथावली प्रकाशित करने के लिये सभा को १०००) देने का निश्चय किया है, जिसमे से १००) वे दे भी चुके हैं। उक्त धन के दाता महोदय कृषि-शास्त्र के शब्दों का संग्रह भी स्वयं तैयार कर रहे हैं। संग्रह तैयार हो जाने पर उस पर विद्वानों की सम्मति भी ली जायगी।

श्रीमती रुक्मिणी तिवारी पुस्तकमाला

सभा के स्वर्गीय सभासद् अजमेर के राय साहब पं० चंद्रिका-प्रसाद तिवारी की सुपुत्री श्रीमती रामदुलारी दुबे ने अपनी स्वर्गीया माता श्रीमती रुक्मिणी तिवारी की स्मृति में, उन्हीं के नाम से, शिशुओं और महिलाओं के लिये उपयोगी एक पुस्तकमाला प्रकाशित करने के निमित्त सभा को कृपा कर २०००) देना स्वीकार किया है, जिसमें से १०००) वे दे चुकी हैं।

को आमंत्रित किया। मिश्रजी ने हिंदी-प्रचार-व्रती होने के नाते उस समय अस्वस्थ रहते हुए भी काशी से मद्रास, हैदराबाद और पंजाब की लंबी यात्रा का कष्ट स्वीकार किया। फिर १ फरवरी को वे जौनपुर जिला हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के १६ वें वार्षिकोत्सव के सभापति हुए। उक्त तीनों उत्सव मिश्रजी के सभापतित्व में खूब सफल रहे और उन संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को नया उत्साह प्राप्त हुआ।

---

१ ज्येष्ठ से ३० माघ १९९७ तक सभा में २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
६ ज्येष्ठ, २४ श्रावण, २१ कार्तिक	युक्तप्रांतीय सरकार	७५०)	पुस्तकालय
११ ज्येष्ठ	श्री सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन	१००)	स्थायी कोष
१३ आषाढ़	श्री घनश्यामदास बिड़ला, बंबई	२५०)	कलाभवन
७ श्रावण	श्री घनश्यामदास पोद्दार, बंबई	१०१)	स्थायी कोष
,,	श्री नंदकिशोर लोहिया, कलकत्ता	१०१)	,,
१७ ,,	श्री भागीरथ कानोड़िया, कलकत्ता	१५०)	कलाभवन
२० ,,	श्री राय कृष्णदास, काशी	५०)	,,
२६ भाद्रपद	श्री पुरुषोत्तमदास हलवासिया, कलकत्ता	४००)	कूप
		१००)	कला-भवन
२७ ,,	श्री मुरारीलाल केडिया, काशी	५०)	,,
५ आश्विन	श्री रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, अजमेर	१००)	स्थायी कोष

उक्त दोनों दाताओं को सभा हृदय से धन्यवाद देती है।

अदालती फार्मों का संग्रह

हिंदी भाषा में सर्वसाधारण के काम में आनेवाले कचहरी के सभी प्रकार के कागजों और फार्मों के एक संग्रह की बड़ी आवश्यकता थी। हर्ष की बात है कि आजमगढ़ के श्री परमेश्वरीलाल गुप्त सभा के लिये इस कार्य का संपादन कर रहे हैं। इस संग्रह से केवल हिंदी जाननेवाली जनता की एक बड़ी कठिनाई दूर हो जायगी।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

पत्रिका के वर्ष ४४ के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ अंक की प्रतियाँ समाप्त हो जाने के कारण सभा ने एक पत्र द्वारा सभासदों से प्रार्थना की थी कि जो सभासद फाइल न रखते हों वे कृपा कर अपनी प्रतियाँ सभा को प्रदान करें, जिससे जिन सभासदों को उनकी आवश्यकता है उन्हें वे दी जा सकें। अभी तक केवल एक ही सभासद ने अपनी प्रतियाँ देने की कृपा की है। सभा पुनः सभासदों से अपनी प्र[illegible] दोहराती है।

रामप्रसाद समादरोत्सव

गत २२ मार्गशीर्ष को प्रयाग विश्वविद्यालय के [illegible] पं० अमरनाथ झा के सभापतित्व में एक उत्सव [illegible] मुगल शैली के एकमात्र प्रतिनिधि चित्रकार काशी[illegible] को ८५०) की थैली उत्सव के सभापति द्वारा [illegible] ओर से भेंट की गई।

प्रचार

गत दिसंबर मास के अंत में मद्रास में [illegible] सभा और जनवरी के आरंभ में पंजाब-प्रांतीय [illegible] के वार्षिक अधिवेशन हुए। द० भा० हिं[illegible] प्रचारक सम्मेलन और पं० प्रा० सा० [illegible] के सभापतित्व के लिये सभा के उपसभापति

को आमंत्रित किया। मिश्रजी ने हिंदी-प्रचार-व्रती होने के नाते उस समय अस्वस्थ रहते हुए भी काशी से मद्रास, हैदराबाद और पंजाब की लंबी यात्रा का कष्ट स्वीकार किया। फिर १ फरवरी को वे जौनपुर जिला हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के १६ वें वार्षिकोत्सव के सभापति हुए। उक्त तीनों उत्सव मिश्रजी के सभापतित्व मे खूब सफल रहे और उन संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को नया उत्साह प्राप्त हुआ।

---

१ ज्येष्ठ से ३० माघ १९९७ तक सभा में २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
९ ज्येष्ठ, २४ श्रावण, २१ कार्तिक	युक्तप्रांतीय सरकार	७५०)	पुस्तकालय
११ ज्येष्ठ	श्री सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन	१००)	स्थायी कोष
१३ आषाढ़	श्री घनश्यामदास बिड़ला, बंबई	२५८)	कलाभवन
७ श्रावण	श्री घनश्यामदास पोद्दार, बंबई	१०१)	स्थायी कोष
,,	श्री नंदकिशोर लोहिया, कलकत्ता	१०१)	,,
१७ ,,	श्री भागीरथ कानोड़िया, कलकत्ता	१५०)	कलाभवन
२० ,,	श्री राय कृष्णदास, काशी	५०)	,,
२६ भाद्रपद	श्री पुरुषोत्तमदास हलवासिया, कलकत्ता	४००)	कूप
		१००)	कला-भवन
२७ ,,	श्री मुरारीलाल केडिया, काशी	५०)	,,
५ आश्विन	श्री रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, अजमेर	१००)	स्थायी कोष

उक्त दोनों दाताओं को सभा हृदय से धन्यवाद देती है।

अदालती फार्मों का संग्रह

हिंदी भाषा में सर्वसाधारण के काम में आनेवाले कचहरी के सभी प्रकार के कागजों और फार्मों के एक संग्रह की बड़ी आवश्यकता थी। हर्ष की बात है कि आजमगढ़ के श्री परमेश्वरीलाल गुप्त सभा के लिये इस कार्य का संपादन कर रहे हैं। इस संग्रह से केवल हिंदी जाननेवाली जनता की एक बड़ी कठिनाई दूर हो जायगी।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

पत्रिका के वर्ष ४४ के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ अंक की प्रतियाँ समाप्त हो जाने के कारण सभा ने एक पत्र द्वारा सभासदों से प्रार्थना की थी कि जो सभासद फाइल न रखते हों वे कृपा कर अपनी प्रतियाँ सभा को प्रदान करें, जिससे जिन सभासदों को उनकी आवश्यकता है उन्हें वे दी जा सकें। अभी तक केवल एक ही सभासद ने अपनी प्रतियाँ देने की कृपा की है। सभा पुनः सभासदों से अपनी प्रार्थना दोहराती है।

रामप्रसाद समादरोत्सव

गत २२ मार्गशीर्ष को प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर पं० अमरनाथ झा के सभापतित्व में एक उत्सव किया गया, जिसमें मुगल शैली के एकमात्र प्रतिनिधि चित्रकार काशी-निवासी श्री रामप्रसाद को ८५०) की थैली उत्सव के सभापति द्वारा सभा के कलाभवन की ओर से भेंट की गई।

प्रचार

गत दिसंबर मास के अंत में मद्रास में दक्षिणभारत-हिंदी-प्रचार-सभा और जनवरी के आरंभ में पंजाब-प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन हुए। द० भा० हिं० प्र० सभा ने अपने प्रचारक सम्मेलन और पं० प्रा० सा० सम्मेलन ने अपने शिक्षा-सम्मेलन के सभापतित्व के लिये सभा के उपसभापति पंडित रामनारायण मिश्र

को आमंत्रित किया। मिश्रजी ने हिंदी-प्रचार-व्रती होने के नाते उस समय अस्वस्थ रहते हुए भी काशी से मद्रास, हैदराबाद और पंजाब की लंबी यात्रा का कष्ट स्वीकार किया। फिर १ फरवरी को वे जौनपुर जिला हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के १६ वें वार्षिकोत्सव के सभापति हुए। उक्त तीनों उत्सव मिश्रजी के सभापतित्व में खूब सफल रहे और उन संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को नया उत्साह प्राप्त हुआ।

---

१ ज्येष्ठ से ३० माघ १९८७ तक सभा में २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
९ ज्येष्ठ, २४ श्रावण, २१ कार्तिक	युक्तप्रांतीय सरकार	७५०)	पुस्तकालय
११ ज्येष्ठ	श्री सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन	१००)	स्थायी कोष
१३ आषाढ़	श्री घनश्यामदास बिड़ला, बंबई	२५८)	कलाभवन
७ श्रावण	श्री घनश्यामदास पोद्दार, बंबई	१०१)	स्थायी कोष
"	श्री नंदकिशोर लोहिया, कलकत्ता	१०१)	"
१७ "	श्री भागीरथ कानोड़िया, कलकत्ता	१५०)	कलाभवन
२० "	श्री राय कृष्णदास, काशी	५०)	"
२६ भाद्रपद	श्री पुरुषोत्तमदास हलवासिया, कलकत्ता	४००)	कूप
		१००)	कला-भवन
२७ "	श्री मुरारीलाल केडिया, काशी	५०)	"
५ आश्विन	श्री रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, अजमेर	१००)	स्थायी कोष

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
१६ आश्विन	श्री रत्नचंद कालिया, कानपुर	१००)	स्थायी कोष
२६ "	श्री हरीचंद खन्ना, कानपुर	१००)	"
२६ "	श्री रायबहादुर रामदेव चोखानी, कलकत्ता	१००)	नागरीप्रचार
२६ "	श्री डा० सच्चिदानंद सिन्हा, पटना	१००)	स्थायी कोष
३० "	श्री कुँवर सुरेश सिंह, कालाकांकर	१००)	" "
१ कार्तिक	श्री सेठ जुगुल किशोर बिड़ला, नई दिल्ली	२५०)	कलाभवन
११ "	श्री म० कृष्णजी बी० ए०, लाहौर	१००)	स्थायी कोष
१६ "	श्री प्रो० अमरनाथ झा, प्रयाग	५०)	रामप्रसाद समादर कोष
१८ "	श्री सेठ पदमपत सिंहानिया, कानपुर	१००)	स्थायी कोष
४ मार्गशीर्ष	श्री कप्तान राव कृष्णपालसिंह आगरा	१००)	स्थायी कोष
१२ "	श्री सेठ चंपालाल बाँठिया बीकानेर	१०१)	" "
१६ "	श्रीमती रामदुलारी देवी अजमेर	१०००)	श्रीमती रुक्मिणी देवी ग्रंथ माला
१६ "	प्रांतीय सरकार	५००)	खोज विभाग
२२ "	श्री एन० सी० मेहता, आइ० सी० एस० लखनऊ	२५)	श्रीरामप्रसाद समादर कोष
१६ पौष	श्रीमहाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह, एम० ए० डी० लिट्, सीतामऊ	४०१)	कलाभवन
"	" " "	१००)	स्थायी कोष
२३ "	श्री डा० अमूल्यचरण वकील कलकत्ता	२५)	फुटकर
२४ "	श्री लाला बनवारीलाल काशी	१००)	नागरीप्रचार
२६ "	श्री पुरुषोत्तमदास हलवासिया कलकत्ता	५००)	कलाभवन
१ माघ	श्री सतीशकुमार बरेली	१०१)	नागरीप्रचार
" "	श्री लाला लालचंद लाहौर	१००)	स्थायी कोष

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
१ माघ	श्री शिवप्रसाद जी गुप्त काशी	१५१)	श्रीरामप्रसाद समादर कोष
७ "	श्री राय रामचरण अग्रवाल प्रयाग	२५)	" " "
७ माघ	श्री राय रामकिशोर अग्रवाल प्रयाग	३०)	श्री रामप्रसाद समादर कोष
६ "	श्री प्रो० हरि रामचंद्र दिवेकर उज्जैन	१००)	स्थायी कोष
११ "	श्री साहु रामनारायणलाल बरेली	१००)	"
१८ "	श्री राय गोविंदचंद्र काशी	१००)	श्री रामप्रसाद समादरकोष
३० "	श्री भरतराम दिल्ली	१००)	स्थायी कोष

[टि०—जिन सज्जनों के चंदे किस्त से आते हैं उनके नाम पूरे चंदे प्राप्त होने पर प्रकाशित किए जायँगे।]

हिंदी-प्रचारिणी संस्थाएँ

हिंदी की सेवा में लगी हुई जितनी मुख्य संस्थाओं के नाम अब तक सभा को प्राप्त हो सके हैं उनकी सूची—

असम

असम-हिंदी-प्रचार समिति, गुवाहाटी, असम।

नौगाँव राष्ट्रभाषा विद्यालय, असम।

विद्योत्साही समिति, मनीपुर, असम।

उत्कल

उड़ीसा प्रांतीय हिंदी छात्रसम्मेलन, पुरी, (उड़ीसा)।

उत्कल प्रांतीय हिंदी-प्रचार-समिति, चड़िया बाजार, कटक, (उड़ीसा)।

कश्मीर

हिंदीप्रचारिणी सभा, जम्मू।

हिंदी साहित्य-परिषद, श्रीनगर।

दिल्ली

गुरुकुल, इंद्रप्रस्थ, दिल्ली।
मारवाड़ी हिंदी पुस्तकालय, दिल्ली।
हिंदी प्रचारिणी सभा, दिल्ली।
हिंदी साहित्यसभा, रीडिंग रोड, नई दिल्ली

पंजाब

नागरीप्रचारिणी सभा, स्यालकोट।
राष्ट्रभाषाप्रचारक संघ, करुण काव्य-कुटीर, कृष्णनगर, लाहौर।
विद्याप्रचारिणी सभा, हिसार।
साहित्य सदन, अबोहर।
हिंदी-पाठशाला, चंबा।
हिंदी-प्रचारिणी सभा, फीरोजपुर।
हिंदी-प्रचारिणी सभा, शिमला।

बंगाल

बजरंग परिषद, कलकत्ता।
श्री बटुकनाथ ग्रंथालय, पो० अजीमगंज, मुर्शिदाबाद।
हिंदी परिषद, विद्यासागर कालेज, कलकत्ता।
हिंदीभवन, शांतिनिकेतन, बोलपुर।
हिंदी संघ, संत जेवियर कालेज, कलकत्ता।
हिमाचल हिंदीभवन, दार्जीलिंग।

बंबई

अखिल महाराष्ट्र हिंदी-प्रचार-समिति, ३७३ शनिवार पेठ, पूना २।
गुरुकुल विद्यामंदिर, सूपा, वाया नवसारी, सूरत।
मारवाड़ी हिंदी पुस्तकालय, कालबादेवी रोड, बंबई।
राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, भावनगर, काठियावाड़।
श्री फतहचंद जैन विद्यालय, चिंचवड़, जि० पूना।
श्रीमद्दयानंद निःशुल्क हिंदी विद्यालय, श्रद्धानंद स्मारक मंदिर, कोल्हापुर।
हिंदी प्रचारक मंडल, गांधी चौक, सूरत।

हिंदी-प्रचारक विद्यालय, धारवाड़।

हिंदी-प्रचार कार्यालय, खाड़िया अमृतलाल की पोल, अहमदाबाद।

हिंदी-प्रचार-संघ, पूना।

हिंदी-प्रचार-सभा, एडनवाला मैन्शन, चौपाटी, बंबई।

हिंदी विद्यापीठ, गिरगाँव, बंबई।

बड़ोदा

आर्य-कन्या-महाविद्यालय, बड़ोदा।

नागरीप्रचारिणी सभा, करेली बाग, बड़ोदा।

बिहार

गोवर्धन साहित्य महाविद्यालय, देवघर।

नवजीवन साहित्य परिषद, भभुआ, शाहाबाद।

नागरीप्रचारिणी सभा, आरा (शाहाबाद)।

नागरीप्रचारिणी सभा, भगवानपुर रत्ती, मुजफ्फरपुर।

बालकसंघ, विष्णुपुर, पटना।

विद्यापति हिंदी सभा, दरभंगा।

श्री भास्कर पुस्तकालय, अलियासपुर, छपरा।

लोकमान्यसमिति, छपरा।

साहित्यसदन, माँझी, सारन।

साहित्यसमिति, धमौरा, चंपारन।

सुहृदसंघ, मुजफ्फरपुर।

स्वयंसेवक पुस्तकालय, सारन।

हिंदी-साहित्य-भवन, धरफरी, मुजफ्फपुर।

हिंदी-साहित्य समिति, शाहाबाद।

हिंदी-साहित्य समिति, सहसराम।

हिंदी-हितैषिणी सभा, लालगंज।

मद्रास

आंध्र राष्ट्र-हिंदी-प्रचार-संघ, बेजवाड़ा।

कर्नाटक प्रांतीय हिंदी-प्रचार सभा, धारवाड़।
केरल प्रांतीय हिंदी-प्रचार-सभा, त्रिपुणित्तुरा।
तमिल नाडु हिंदी-प्रचार-सभा, त्रिचनापल्ली।
दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर।
हिंदी-प्रचार-सभा, मदुरा।
हिंदी-शिक्षण केंद्र, उत्तर कन्नड़।

मध्यप्रांत

नागरीप्रचारिणी समिति, छिंदवाड़ा।
मध्यप्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, जबलपुर।
मित्रमंडल, कटनी।
राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति, वर्धा।
शारदा शांति-साहित्य-सदन, केवलारी, पथरिया (दमोह)।
श्री सरस्वती-वाचनालय, सागर।
हिंदी-साहित्य-समिति, बैतूल।

मध्यभारत

ओड़छा राज्य और बुंदेलखंड साहित्य परिषद, टीकमगढ़।
मध्य भारत हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर।
रघुराज साहित्य-परिषद्, रीवाँ।
वीर सार्वजनिक कार्यालय, इंदौर।
वीरेंद्र केशव साहित्य परिषद्, ओड़छा।
साहित्य सदन, सैलाना।

युक्तप्रांत

गुरुकुल काँगड़ी, सहारनपुर।
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, सहारनपुर।
ग्रामसुधार नाट्य परिषद्, गोरखपुर।
जौनपुर जिला हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, जौनपुर।
नागरीप्रचारिणी सभा, आगरा।
नागरीप्रचारिणी सभा, उन्नाव।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
नागरीप्रचारिणी सभा, गोंडा।
नागरीप्रचारिणी सभा, गोरखपुर।
नागरीप्रचारिणी सभा, बलिया।
नागरीप्रचारिणी सभा, बहराइच।
नागरीप्रचारिणी सभा, बुलंदशहर।
नागरीप्रचारिणी सभा, मुरादाबाद।
नागरीप्रचारिणी सभा, मैनपुरी।
पुष्प भवन, पाढ़म, मैनपुरी।
प्रसाद-परिषद, काशी।
प्रांतीय साहित्यपरिषद, अलीगढ़।
प्रेम महाविद्यालय, वृंदावन।
बनारस जिला हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, बनारस।
बरेली कालेज हिंदी-प्रचारिणी सभा, बरेली।
रामायण-प्रसार-समिति, बरहज, गोरखपुर।
लाला भगवानदीन साहित्य-विद्यालय, काशी।
श्रवणनाथ ज्ञान मंदिर, हरद्वार।
सरस्वतीसदन, हरदोई।
साकेत साहित्य-समिति, फैजाबाद।
हिंदीपरिषद, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।
हिंदी-प्रचार मंडल, आर्यकुमार सभा, बदायूँ।
हिंदी-प्रचार समिति, टाँडा।
हिंदीप्रचारिणी सभा, हरदोई।
हिंदी विद्यापीठ, प्रयाग।
हिंदी साहित्य-परिषद, उदयप्रताप कालेज, काशी।
हिंदी साहित्य परिषद, प्रयाग।
हिंदी साहित्य परिषद, मथुरा।
हिंदी साहित्य सभा, बाँदा।

हिंदी साहित्यसमिति, सनातनधर्म कालेज, कानपुर।
हिंदी साहित्यसमिति, कालपी, जालौन।
हिंदी साहित्यसमिति, देहरादून।
हिंदीसाहित्यसमिति, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
हिंदीसाहित्यसम्मेलन, प्रयाग।
हिंदीहितैषिणी सभा, सहारनपुर।
हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग।

राजपूताना

नवरत्न सरस्वती-भवन, झालरापाटन।
भारतेंदु साहित्य समिति, कोटा
राजपूताना हिंदी-साहित्य-सभा, झालरापाटन।
राजस्थान साहित्य-परिषद्, अजमेर।
श्री करणीमडल, देशनोक, बीकानेर।
श्री गुणप्रकाशक सज्जनालय, बीकानेर।
श्री जुबिली नागरीभंडार, बीकानेर।
श्री महावीर जैनमंडल, बीकानेर।

सिंध

प्रियतम धर्मसभा, शिकारपुर।
सिंध हिंदी-प्रचार समिति, करांची।
हिंदी-प्रचार सभा, बंदररोड, करांची।
हिंदी-साहित्य-भवन, करांची।

हैदराबाद (दक्षिण)

हिंदी-प्रचार-सभा, हैदराबाद (दक्षिण)

दक्षिण अफ्रिका

लोअर तुगेला हिंदी पाठशाला, स्टेंगर, नैटाल।

फारस की खाड़ी

नागरीप्रचारिणी सभा, मस्कत और मत्रा।

ब्रह्मदेश

हिंदी साहित्य-मंडल, ३०८ बारस्ट्रीट, रंगून।

हिंदी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग के नए प्रकाशन

१—**प्रेमघनसर्वस्व (प्रथम भाग)**—व्रजभाषा के आचार्य स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की संपूर्ण कविताओं का सुसंपादित और संपूर्ण संग्रह। भूमिका माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और प्रस्तावना आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने लिखी है। मूल्य ४॥) ।

२—**वीरकाव्य संग्रह**—हिंदी-साहित्य के वीररस के कवियों की चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कविताएँ और उनके साहित्य की विस्तृत आलोचना। संपादक श्री भागीरथप्रसाद दीक्षित साहित्यरत्न और श्री उदयनारायण त्रिपाठी एम० ए०। मूल्य २) ।

३—**डिंगल में वीररस**—डिंगल भाषा के आठ श्रेष्ठ वीररस के कवियों की कविताएँ तथा उनकी साहित्यकृतियों की विस्तृत आलोचना। संपादक श्री मोतीलाल मेनारिया एम० ए०। मूल्य १॥) ।

४—**संक्षिप्त हिंदी साहित्य**—हिंदी साहित्य का संक्षिप्त और आलोचनात्मक इतिहास। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक की हिंदी साहित्य की समस्त धाराओं तथा प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक लिखी गई है। लेखक पंडित ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'। मूल्य ॥) ।

५—**चित्ररेखा**—हिंदी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि प्रोफेसर रामकुमार वर्मा एम० ए० की कविताओं का अपूर्व संग्रह। लेखक को इसी पुस्तक पर देव पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। मूल्य १॥) ।

आधुनिक कवि—*सुप्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए०* की लिखी हुई अब तक की सर्वश्रेष्ठ कविताओं का संग्रह। यह संग्रह स्वयं कवयित्री ने किया है और पुस्तक के प्रारंभ में अपनी कविताओं की प्रवृत्तियों के संबंध में प्रकाश डाला है। मूल्य १॥) ।

सम्मेलनपत्रिका

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की यह मुखपत्रिका है। इसमें प्रति मास पठनीय साहित्यिक लेख प्रकाशित होते हैं। हिंदी के प्रचार और प्रसार पर विस्तृत प्रकाश डाला जाता है। सम्मेलन की प्रगति का परिचय प्रतिमास मिलता रहता है। इसके संपादक साहित्य-मंत्री श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' हैं। वार्षिक मूल्य केवल १) ।

पता—
साहित्यमंत्री,
हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम० ए० एल् एल्० एम०। मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मू० १)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलेमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत्—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मू० ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०, मूल्य १।)

(११) सौर परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०, सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पं० रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३।

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य कपड़े की जिल्द ३॥); सादी जिल्द ३)

(१७) हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य कपड़े की जिल्द १॥); सादी जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्जा अबुलफज्ल। मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य कपड़े की जिल्द ४), सादी जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकर-सहाय सक्सेना। मूल्य कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम० ए०। मूल्य कपड़े की जिल्द ४॥); सादी जिल्द ४)

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य सादी जिल्द ६); कपड़े की जिल्द ६॥)

(२४) प्रेम दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य ॥)

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरि रामचंद्र दिवेकर, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य कपड़े की जिल्द २); सादी जिल्द १॥)

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्० मूल्य १।)

(२७) राजस्व—लेखक, श्री भगवानदास केला। मूल्य १)

(२८) मिना—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल०। मूल्य १)

(२९) प्रयाग-प्रदीप—लेखक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव, मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३॥)

(३०) भारतेंदु हरिश्चंद्र—लेखक, श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल० बी०। मूल्य ५)

(३१) हिंदी कवि और काव्य (भाग १)—संपादक, श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०, एल्-एल० बी०। मूल्य सादी जिल्द ४॥); कपड़े की जिल्द ५)

(३२) हिंदी भाषा और लिपि—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य ॥)

(३३) रंजीतसिंह—लेखक, प्रोफेसर सीताराम कोहली, एम० ए०। अनुवादक, श्री रामचंद्र टंडन, एम० ए०, एल्०-एल० बी०। मूल्य १)

प्राप्ति-स्थान—हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद।